कला के प्राण

बुद्ध

जगदीश चन्द्र

मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्

प्रकाशक
मध्य प्रदेश शासन साहित्य परिषद्
नागपुर.

बुद्ध परिनिर्वाण दिवस

वैशाख पूर्णिमा, सं. २०१३ विक्रम.

प्रथम आवृत्ति

मूल्य १०॥)

मुद्रक
डी. पी. दे[illegible]
बजरंग मुद्रणालय
कर्नलबाग, नागपुर-२.

मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद् का निर्माण सन् १९५४ में हुआ था। उसी समय से परिषद् हिन्दी और मराठी के साहित्य की अभिवृद्धि करने के लिए अनेक आयोजन करती रही है। परिषद् ने साहित्यकारों को उनकी श्रेष्ठ पुस्तकों पर पुरस्कार दिए हैं, देश के प्रसिद्ध विद्वानों को आमंत्रित कर उनकी व्याख्यान-मालाएँ आयोजित की हैं तथा तरुण पीढ़ी को प्रोत्साहित करने के लिए विद्यार्थी-निबन्ध-प्रतियोगिता का आयोजन कर पुरस्कार दिए हैं। इसके अतिरिक्त शासन साहित्य परिषद् ने कुछ मौलिक तथा प्रादेशिक भाषाओं से अनूदित साहित्य का प्रकाशन भी अपने हाथ में लिया है।

विभिन्न विषयों पर दी गई व्याख्यानमालाओं को एवं कुछ पुरस्कृत श्रेष्ठ पुस्तकों को परिषद् स्वयं प्रकाशित कर रही है और शीघ्र ही यह साहित्य उपलब्ध हो जाएगा।

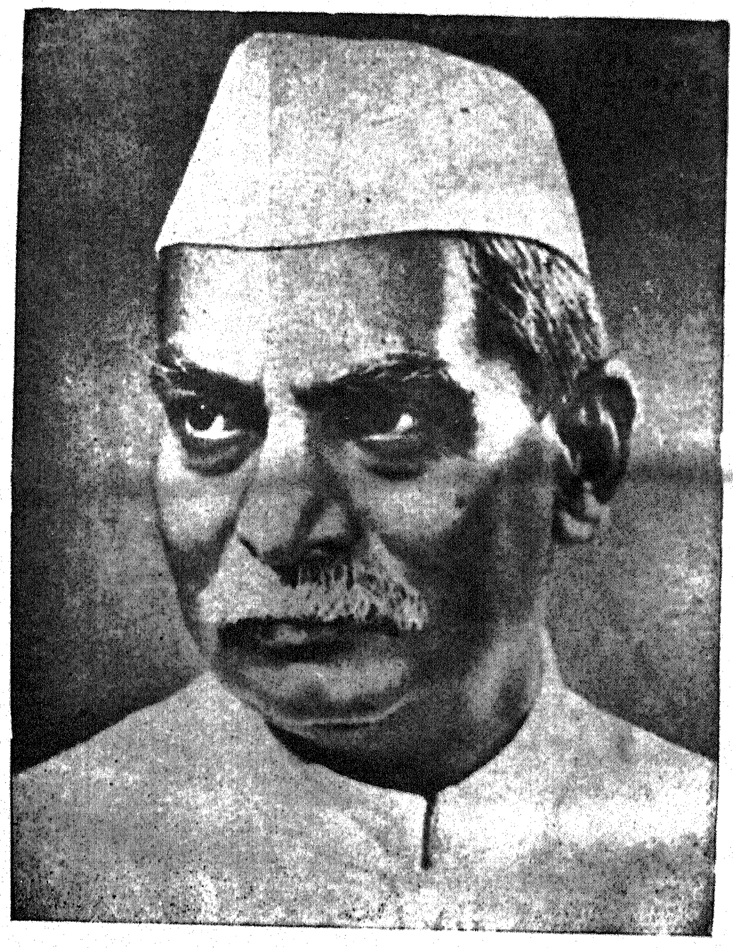
इस वर्ष भगवान बुद्ध की २५०० वीं जयंती एक राष्ट्रीय पर्व के रूप में मनाई जा रही है। देश के सभी भागों में इस अवसर पर विशेष सांस्कृतिक आयोजन किए जा रहे हैं। भगवान बुद्ध से सम्बन्धित साहित्य का प्रकाशन किया जा रहा है। साहित्यकार एवं कलाकार अपनी अपनी नवीन रचनाओं के रूप में भगवान बुद्ध को श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित कर रहे हैं। मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद् भी इस अवसर पर भगवान बुद्ध से सम्बन्धित साहित्य के प्रकाशन का विचार कर रही थी कि श्री जगदीश चन्द्र ने यह पुस्तक परिषद् के अध्यक्ष पं. रविशंकर शुक्ल के अवलोकनार्थ प्रस्तुत की। उन्हें यह रचना पसन्द आई और उन्होंने परिषद् की सहमति से इसे प्रकाशित करने की आज्ञा दी। अध्यक्ष महोदय के कला और साहित्य के प्रति अनुराग के फलस्वरूप ही यह प्रकाशन आज आपके हाथ में है।

इस पुस्तक में स्थापत्य, चित्रकला और मूर्तिकला पर भगवान बुद्ध और उनके उपदेशों के प्रभावों का विशद् और सप्रमाण विवेचन है। आज इस पुण्य पर्व पर यह पुस्तक हिन्दी-प्रेमियों के हाथों में देते हुए हमें हर्ष हो रहा है। आशा है भगवान बुद्ध के चरणों पर परिषद् की ओर से अर्पित की गई यह श्रद्धाञ्जलि हिन्दी साहित्य के एक उपेक्षित क्षेत्र की कमी को अंशतः पूरा करने में समर्थ होगी।

रमा प्रसन्न नायक
सचिव,
शासन साहित्य परिषद्

पचमढ़ी
दिनांक २४ मई १९५६.





राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद

भारतीय संस्कृति के मूर्तिमान प्रतीक
राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद
के कर-कमलों में, परम श्रद्धा सहित—

आभार

जिन भगवान तथागत ने इस देश के शिल्पियों को कला-साधना की प्रेरणा दी, उन्ही के महा परिनिर्वाण दिवस, पर 'कला के प्राण-बुद्ध' प्रकाशित देखकर मैं एक आत्मिक शांति का अनुभव कर रहा हूँ। ऐसा लग रहा है कि आज इस तुच्छ-जन की लेखनी सचमुच धन्य हुई है।

इस का श्रेय श्रद्धेय **पं. रविशंकर जी शुक्ल,** मुख्य मंत्री, मध्य-प्रदेश को है। उनकी कृपा के बिना इस पुण्य-तिथि पर ग्रंथ का प्रकाशन कभी सम्भव न था। मैं पूजनीय शुक्लजी तथा आदरणीय **पं. द्वारका प्रसाद जी मिश्र,** उप कुलपति, सागर विश्व-विद्यालय का चिर अनुग्रहीत हूँ।

परिषद् के सचिव **श्री रमा प्रसन्न नायक,** आई. सी. एस. तथा उप-सचिव **श्री. गोपाल शर्मा,** एम. ए. का भी मैं आभारी हूँ।

ग्रंथ के चित्र भारत सरकार के पुरातत्व विभाग के सौजन्य से प्राप्त हुए हैं। अजंता और एलोरा के कुछ चित्र मुझे अपने मित्र श्री मधुकर पारलकर से मिले हैं।

यदि श्री न. शि. भुसारी, तथा श्री जगमोहनदास किनारीवाला का सहयोग न मिलता तो इतने अल्प समय में पुस्तक का मुद्रण न हो पाता।

मैं इन समस्त महानुभावों का हृदय से आभारी हूँ।

—जगदीश चन्द्र

अनुक्रमणिका

प्रथम खंड

प्रारम्भिक शिल्प

द्वितीय खंड

विकास काल



भगवान बुद्ध—एलोरा

भगवान गौतम बुद्ध

भारत की कला धर्म से अनुप्राणित रही है। आध्यात्मिकता ही उसकी आत्मा है। भारतीय कला के मंडप में शिव, विष्णु, बुद्ध और तीर्थंकर प्रतिष्ठित हैं। शिल्पियों ने उनकी आराधना के क्षणों में ऊँचे-ऊँचे पर्वतों को काट कर गुहा-मंदिर रच डाले; उनकी दीवालों पर विशालकाय प्रतिमायें आंक डालीं और गहन अंधकार में भी चित्रों की अत्यंत पतली किन्तु वेगवती रेखायें दौड़ा दीं।

भगवान बुद्ध का पार्थिव स्वरूप कैसा था, इतिहास यह नहीं जानता। उनका वर्ण तप्त कांचन जैसा था, उनकी वाणी में गम्भीर सागर गर्जन करता था। उन्हें देखकर लगता था कि स्वर्ग का कोई देवता भू पर उतर आया है। उनका शरीर महापुरुषों के बत्तीस चिन्हों से युक्त था। सुत्त-पिटक के निकायों, महा वग्ग, चुल्ल वग्ग, महावंश व जातकों में उनके जीवन-प्रसंग स्वर्ण-रज से बिखरे हैं। उन पर धार्मिक मान्यताओं और आस्थाओं की छाया है।

प्रारम्भिक बौद्ध-शिल्प,—भारहुत, सांची व अमरावती आदि स्तूपों की वेदिकाओं और तोरणों के अर्ध-चित्रों में तथागत की प्रतिमा नहीं आंकी गई। उनके स्थान पर उनके प्रतीकों, वृक्ष, चैत्य और चरण आदि को ही प्रतिष्ठा दे दी गई। मथुरा शैली में सबसे पहले बुद्ध-प्रतिमा बनी, तब तक छः सौ वर्ष बीत चुके थे। कलाकारों के मानस-चक्षुओं के आगे अब गौतम की नश्वर देह नहीं, उनकी करुणा, विश्व-मैत्री और तप था। शिल्पी ने उसी को मूर्त-रूप दिया। पहले जहाँ वह जातक-कथाओं और भगवान बुद्ध के जीवन-प्रसंगों के माध्यम से प्राणि-जगत् और उसके पीछे प्रकृति की विराट् पार्श्वभूमि आंकता था, वहाँ उसका ध्यान अब एक प्रतिमा पर ही जमने लगा। बहिर्मुखी वृत्ति, अंतर में झांक उठी। गुप्त-युग में इन प्रतिमाओं में और भी सौष्ठव और भाव भर गये। इन्हें देखने से लगता है कि अभी प्राण-मयी होकर बोल उठेंगीं। इनके निकट जाने पर जान पड़ता है कि हम किसी महा-मानव के सान्निध्य में आकर खड़े हो गये हैं।

भगवान गौतम बुद्ध की प्रतिमायें अनेक शिल्प-शैलियों में आंकी गई किन्तु जिस वस्तु को देखकर हम उन्हें तुरन्त ही पहचान लेते हैं, वही कला की आत्मा है। कमल किसी भी सरोवर में खिले सुरभि तो वही रहती है। बुद्ध भारत की कला के सहस्रदल पद्म हैं। उन्हें जाने बिना इस देश की कला को भी नहीं जाना जा सकता।

हिमालय की तराई में अचिरावती और रोहिणी नामक नदियों के बीच में शाक्यों का एक छोटा सा राज्य कपिलवस्तु था। शाक्य क्षत्रिय थे। उनके छोटे-छोटे राज्य बिखरे थे। वे देवदह, शीलावती, सामग्राम आदि थे। शाक्य बड़े निर्भीक और स्वाभिमानी थे। शाक्यों में कई गोत्र थे। उनमें परस्पर विवाह होते रहते थे। कपिलवस्तु के शाक्य, गौतम गोत्र के थे। कपिलवस्तु के प्रधान[1] शुद्धोदन थे। रोहिणी नदी, शाक्यों और कोलियगण की सीमा बनाती थी और उसके जल को लेकर दोनों राज्यों में विवाद भी चलते रहते थे। शुद्धोदन, सिंहहनु के पुत्र थे। उनका पाणिग्रहण देवदह के प्रधान की पुत्री महा माया और महा प्रजावती से हुआ था। कुछ ग्रंथों के अनुसार प्रजावती का विवाह महामाया की मृत्यु के पश्चात् हुआ था।

एक दिन देवि महामाया ने स्वप्न देखा कि शुभ्र, रजत वर्ण का एक हाथी दौड़ता हुआ उनकी ओर आ रहा है। वह आकर उनकी कुक्षि में समा गया है।[2]

प्रातःकाल जब शुद्धोदन ने ज्योतिष शास्त्र के आचार्यों से इस स्वप्न का अर्थ पूछा तो उन्होंने बतलाया कि, 'आपकी अनेक वर्षों की आशा फलवती हुई है। महादेवी ने गर्भ धारण किया है।'[3]

१. ईसा से छः शताब्दी पूर्व कपिलवस्तु में प्रजातंत्र की शासन प्रणाली प्रचलित थी। इसमें प्रधान का चुनाव सम्भवतः निर्वाचन द्वारा होता था। उनके समस्त निर्णय संथागार में होते थे। गौतम बुद्ध के जन्म के समय शुद्धोदन इसके अध्यक्ष थे। (दीघ निकाय १, ९१)

२. प्रारम्भिक बौद्ध-शिल्प में मायादेवी का स्वप्न भारहुत के अर्ध चित्रों में प्राप्त होता है। गान्धार शैली में भी यह कई बार दुहराया गया है। देखिये The Stupa of Bharhut by A. Cuningham, Plate No. XXViii. गान्धार शिल्प में इस विषय के अंकन के लिए देखिये—The Sculptures in the Indian Museum, Part II, No. 7-10. Page No. 36)। इस घटना का वर्णन बुद्ध चरित्र और ललित विस्तर में विस्तार से प्राप्त होता है।

३. महापुरुष के जन्म लेने से पूर्व उसकी माता शुभ स्वप्न देखे, यह मान्यता अन्य स्थलों पर भी प्राप्त होती है। भगवान महावीर की माता त्रिशला भी स्वप्न देखती हैं।

कपिलवस्तु और देवदह के बीच में लुम्बिनी कानन था। महामाया अपने पितृ-गृह से वापस लौट रही थीं। उनकी शिविका लुम्बिनी में रुकी। वे उतर कर वन की वृक्ष राजि को देखने लगीं। वे एक शाल वृक्ष के नीचे खड़ी होकर प्रकृति का मोहक सौन्दर्य निहारने लगीं। उसी समय उन्हें प्रसव-वेदना हुई। महामाया शाल-वृक्ष की डाली पकड़कर खड़ी हो गई। तभी सिद्धार्थ का जन्म हुआ।[1] आकाश से निर्झर झर उठे। महाब्रह्मा ने देवगण के साथ नवजात शिशु को स्वर्णिम, जाली के वस्त्र में ले लिया। उनसे मनुष्यों ने लिया। बालक भूमि पर खड़ा हो गया। उसने सात डग भरे और सिंह की भांति नाद किया, "मैं संसार का स्वामी हूँ।"[2] उसी समय राहुल माता, बोधिवृक्ष, अश्व कंथक, सारथी छंदक या चन्न, हाथी, राज-कोष और संनि-पुत्र भी उत्पन्न हुये। देवि महामाया शिशु को सात दिन का छोड़कर स्वर्ग चली गई।

हिम गिरि की उपत्यका में ऋषि असित का आश्रम था। असित त्रिकालदर्शी थे। वे बहुधा देवताओं के स्वर्ग में भी जाया करते थे। उन्होंने तुसित स्वर्ग में देवताओं को उत्सव मनाते हुये देखा। देवों ने अपनी नगरी को बड़े चाव से सजाया था। वे बड़े आनन्दित थे। असित को जब यह समाचार मिला कि यह समारोह शुद्धोदन के यहाँ पुत्र-जन्म होने के कारण है तो वे कपिलवस्तु आये और बालक को तुरन्त देखने की इच्छा प्रकट की। जब उन्होंने शिशु को देखा तो उसे महापुरुषों के बत्तीस लक्षणों से युक्त पाया। वे जान गये कि यह बालक सम्बोधि प्राप्त करेगा। उन्होंने शुद्धोदन के साथ उसकी पूजा की। उनके मुख पर अब उदासी की छाया थी। उन्होंने जान लिया कि जब विश्व, सिद्धार्थ की अमृत-वाणी सुनकर धन्य होगा, तब वे स्वयं नहीं रहेंगे। उन्होंने शुद्धोदन से कहा भी कि, 'यह बालक या तो बुद्धत्व प्राप्त करेगा या चक्रवर्ती सम्राट होगा।'

शुद्धोदन ने राजकुमार सिद्धार्थ पर पार्थिव दुःखों की छाया भी न पड़ने दी। उनके निवास के लिये तीनों ऋतुओं के अनुकूल भवन बनवा दिये।

---

१. शाल वृक्ष को पकड़ कर खड़े होने की महामाया देवी की यह मुद्रा भारतीय मूर्तिकला में अनेक स्थलों पर दिखाई देती है। गान्धार शैली की मूर्तियों में यह विषय-वस्तु कई बार दुहराई गई है। सांची तथा मथुरा के शिल्प में शाल-वृक्ष की डाली को पकड़े हुये नारी-मूर्तियाँ मिलती हैं। डा. कुमार स्वामी ने इन्हें यक्षी अथवा वृक्षिका माना है (History of Indian and Indonesian Art, Page No. 50)

२. नागार्जुन कोण्डा में इस विषय-वस्तु का बड़ी कुशलता के साथ अंकन हुआ है। चित्र लिए देखिए—Buddhist Shrines in India, Page No. 10

सिद्धार्थ कुछ सयाने हुये तो शुद्धोदन ने उनका विवाह कर देने का निश्चय किया। शाक्य गण में शीघ्र यह समाचार फैल गया। शाक्य स्वयं बड़ी वीर जाति थी और उसकी कसौटी भी शौर्य ही थी। एक समारोह का आयोजन हुआ। सिद्धार्थ ने वाण-विद्या के लाघव से नागरिकों को आश्चर्य में डाल दिया। उन्होंने उस घोड़े पर सवारी की जो किसी को अपने पास फटकने भी न देता था। यशोधरा या गोपा के साथ उनका परिणय हुआ।

काल के प्रवाह में अनेक वर्ष बहते चले गये। सिद्धार्थ की आयु अब उन्तीस वर्ष की थी। राहुल का जन्म हो चुका था। विधि का विधान पूरा हुआ। उन्होंने पृथ्वी के प्राणियों की व्यथा, दुःख, जरा और मरण को देख लिया था। संसार के प्रति विरक्ति का बीज, अब अंकुर बनकर शाखा-प्रशाखाओं में फूट रहा था। दुःखों की अग्नि में जलते प्राणी कैसे मुक्ति पावें ? यही प्रश्न उनके हृदय को मथ डाल रहा था। अंत में उन्होंने संसार-त्याग देने का निश्चय कर लिया।

एक दिन रात में उनकी निद्रा भंग हो गई। देवि यशोधरा राहुल को लिये गाढ़ी नींद में सो रही थीं। दासियाँ भी इधर-उधर सुध-बुध खोई पड़ी थीं। कपिलवस्तु के नागरिक घोर निद्रा में लीन थे। अर्ध रात्रि की निस्तब्धता थी। कुमार सिद्धार्थ ने सोचा कि गृह-त्याग के लिये यही समय उपयुक्त है। उन्होंने अपने सारथी छंदक को जगाया और उसे कंथक ले आने का आदेश दिया। राजकुमार ने पत्नी और पुत्र पर एक दृष्टि डालकर कपिलवस्तु से बिदा ली। इसे उनका महाभिनिष्क्रमण कहते हैं।

देवगण ने विचार किया कि यदि कंथक की टापों की आवाज से नगर-निवासी जाग उठें तो वे कुमार को कभी न जाने देंगे। जिस लोक-कल्याण के लिये वे जा रहे हैं, उसमें बाधा पड़ेगी। उन्होंने कंथक के खुरों को अपने हाथों में ले लिया। नगर के द्वार भी अपने आप ही खुल गये।

सिद्धार्थ ने शाक्यों के राज्य की सीमा पार की। कोलिय राज्य और मल्लों का पावा भी पीछे छूट गया। कंथक ने छलांग मार कर अनोमा नदी का विशाल-पट पार कर लिया। अनोमा के तट पर, सिद्धार्थ ने अपने कंधों तक लहराते केश तलवार से काट डाले। वे मुड़ गयें और फिर कभी न बढ़े। उन्होंने उन केशों को वायु में उड़ा दिया। इन्द्र ने उन्हें बटोर लिया। वह उन केशों को अपने साथ स्वर्ग में ले गया और वहाँ स्तूप बनवाया। ब्रह्मा ने सिद्धार्थ को भिक्षुओं जैसे पीत वस्त्र दिये। कुमार ने अपने वस्त्र और आभूषण उतार कर छंदक को दे दिये। छंदन का हृदय यह दृश्य देखकर फटा जा रहा था किन्तु विवश था।

सिद्धार्थ की आज्ञा से वह कपिलवस्तु लौट चला।[1] कंथक अपने स्वामी का वियोग न सह सका। रास्ते में ही उसने प्राण त्याग दिये। प्रातः होते ही कपिलवस्तु के लोगों ने जान लिया कि कुमार सिद्धार्थ उन्हें छोड़कर चले गये। शुद्धोदन और राहुल-जननी पर मानो वज्रपात हो गया।

सिद्धार्थ अनेक भू-खण्डों को पार करते हुये अनुपिया पहुँचे, जहाँ सघन आम्र-कुंज था। वहाँ सात दिन बिताकर वे राजगृह गये। राजगृह उन दिनों मगध की राजधानी था। प्रातःकाल जब सिद्धार्थ अपना भिक्षापात्र लेकर नगर में गये तो नागरिकों ने उनका दिव्य-रूप देखकर समझ लिया कि यह कोई सामान्य भिक्षु नहीं है। महाराज बिम्बसार सिद्धार्थ से मिलने के लिए आये। वे सिद्धार्थ की बातों से इतने अधिक प्रभावित हुये कि अपना राज्य ही उन्हें सौंप देने का प्रस्ताव रखने लगे किन्तु सिद्धार्थ को राज्य ही करना होता तो कपिलवस्तु और स्वजनों का त्याग क्यों करते? बिम्बसार ने उनसे आश्वासन ले लिया कि वे जब बुद्धत्व प्राप्त कर, लौटकर जावेंगे, तो उनकी नगरी को अवश्य कृतार्थ करेंगे।

सिद्धार्थ ने दार्शनिक विद्वान आलाड़ कालाम से दीक्षा ली और अपना अध्ययन समाप्त कर रुद्रक रामपुत्र के पास गये किन्तु जब वे सिद्धार्थ की जिज्ञासाओं को शांत न कर सके तब गौतम उरुवेला में जाकर उग्र-तप में लीन हो गये। शरीर अस्थि-पिंजर भर रह गया।[2] उरुवेला में ही उन्हें पंच भद्रवर्गीय भिक्षु मिल गये। वे भी उनके साथ रहने लगे। एक दिन तप करते-करते सिद्धार्थ ने सोचा कि शरीर को कष्ट देना व्यर्थ है। 'बीन के तारों को न तो अधिक कसो और न ढीला ही छोड़ दो।' यही बात शरीर के साथ भी है। उन्होंने मध्यम मार्ग को ग्रहण किया। उग्र तपस्या को छोड़ दिया। पंच भद्रवर्गीय भिक्षुओं ने जब यह देखा तो समझ लिया कि सिद्धार्थ तो साधना-भ्रष्ट हो गये। वे उन्हें अकेला छोड़ कर ऋषि पतन, जिसे आजकल सारनाथ कहते हैं, चले गये।

गौतम मिताहारी रहकर तपस्या करने लगे। वे एक अश्वत्थ वृक्ष के नीचे बैठे थे, जिसे आजपाल कहते थे। गौतम को क्षुधा का अनुभव हो रहा था। उन दिनों वृक्ष-देवताओं की पूजा होती थी। जिस वृक्ष के नीचे सिद्धार्थ बैठे थे, उसके

---

१. चित्र के लिए देखिये—Monuments of Sanchi by Sir John Marshall, Vol. II Plate No. 40,

२. चित्र के लिए देखिये—Sculptures in the Peshawar Museum by Spooner Plate, opposit Page No. 67.

देवता से गांव की एक कन्या सुजाता ने मनौती मानी थी। उसकी कामना पूरी हुई। वह वृक्ष-देवता को खीर अर्पित करने आई। उसने गौतम को बैठे देखकर सोचा कि वृक्ष-देवता साकार-रूप में उसके सामने आ गये हैं। जब असली स्थिति मालूम हुई तो वह और भी प्रसन्न हुई। भगवान ने तृप्ति-लाभ की और सुजाता धन्य हुई। वह वैशाख पूर्णिमा का दिन था।

गौतम नीरांजना के तट पर आये। मार्ग में उन्हें एक श्रोत्रिय ब्राह्मण मिला जो कुश का बोझ लिये आ रहा था। श्रोत्रिय ने गौतम को आठ पूले अर्पित किये जिन्हें उन्होंने स्वीकार कर लिया। गौतम ने वे पूले बोधि-वृक्ष के मूल की ओर बिछा दिये और पूर्वाभिमुख हो, दृढ़ संकल्प कर के बैठ गये।

वासनाओं के स्वामी मार ने जब उन्हें तप करते हुये देखा तो कांप उठा। उसने सोचा, 'यदि इन्हें सत्य मिल गया तो निर्वाण के पथ प्रशस्त हो जायेंगे फिर पाप कौन करेगा? पाप न होगा तो मेरा अस्तित्व कैसे टिकेगा?' उसने अपनी सेना सजा ली। उसमें विभ्रम, ईर्षा और दर्प, काम के पुत्र और रति,[1] प्रीति और तृष्णा नामक उसकी तीन कन्यायें थीं। उसकी सेना में तृष्णा, मोह, भय, लोभ व क्रोध आदि थे। उसने प्रबल वेग से गौतम पर आक्रमण किया। आंधियां चलीं, अग्नि-ज्वालायें धधकीं। अनेक भयंकर प्राणी गौतम को भयभीत करने लगे। किन्तु उनके निकट जाने का साहस किसी में न था। जब मार के तूणीर के सब शर उस हिम-गिरि से टकराकर लौट आये तब उसने मर्म-स्पर्शी व्यंग किया। उसने कहा कि, 'गौतम, तुम इस तप के अधिकारी नहीं हो। यह तुम्हारी मिथ्या प्रवंचना है।' गौतम ने भूमि की साक्षी ली। उन्होंने पृथ्वी को उंगली से छूकर पूछा, 'क्या यह मार सच कहता है?' तुरंत ही एक घोर शब्द हुआ मानो पृथ्वी विदीर्ण हो रही हो। मार अचेत होकर गिर पड़ा।[2]

मार की पराजय के पश्चात् गौतम फिर ध्यानावस्थित हो गये। रात बढ़ती जा रही थी। पहले प्रहर में उन्हें अपने पूर्व जन्मों की घटनाओं का स्मरण हुआ। दूसरे प्रहर में उन्हें दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गई और रात्रि के तीसरे प्रहर में

१. हिन्दुओं के पुराणों में रति काम देव की पत्नी मानी गई है किन्तु बौद्ध वाङ्मय में वह मार की पुत्रियों में से एक है।

२. चित्र के लिए देखिये—Ajanta by G. Yazdani Part I, Temptation of the Buddha, Plates XXVIII and XXIX. भगवान बुद्ध पृथ्वी से साक्षी लेने के लिये उसे दो उंगलियों से स्पर्श करते हैं। इसे भूमि-स्पर्श मुद्रा कहते हैं। प्रतिमाओं में वे उस कमल-दल को स्पर्श करते हुये दिखाई देते हैं, जिसपर वे आसीन रहते हैं। कमल पृथ्वी का प्रतीक है।

उन्हें सम्बोधि प्राप्त हुई। उन्हें आर्य-सत्यों की प्राप्ति हुई। उन्होंने दु:ख, समुदय, निरोध-गामिनी और प्रतिपद नामक आर्य-सत्यों का साक्षात्कार किया। दु:ख है, उसका कारण है। समस्त संसार कार्य और कारण के सूत्र में बंधा घूम रहा है। उन्होंने अनुभव किया कि जरा, मरण और दु खों का कारण जन्म है। जन्म का कारण भव है। भव की उत्पत्ति उपादान अर्थात् कर्म से होती है। उपादान का हेतु तृष्णा है। तृष्णा का कारण सुख-दु:ख; वेदना है। सबका मूल कारण अविद्या है।

सम्बोधि के पश्चात् भगवान बुद्ध सात सप्ताह तक उस भू-खंड में ही घूमते रहे। इस बीच में मार की पुत्रियों ने उन्हें विचलित करने का पुन: प्रयत्न किया किन्तु वह व्यर्थ हुआ। मुचलिंद नाग एक सप्ताह तक घोर वर्षा के समय उन पर अपना फन ताने बैठा रहा। जब सात सप्ताह बीत गये तब उनके सन्मुख ब्रह्मा उपस्थित हुये और उन्होंने जगती के कल्याण के लिए, उनसे सद्धर्म का प्रचार करने की अनुनय की। भगवान बुद्ध ऋषि पतन गये और उन्होंने अपना प्रथम उपदेश उन पंच भद्रवर्गीय ब्रह्मचारियों को दिया जो उन्हें छोड़कर चले आये थे। इस प्रकार उन्होंने धर्म-चक्र का प्रथम बार प्रवर्तन किया। सबसे पहले कौण्डिन्य ने उनका धर्म स्वीकार किया फिर वप, भद्रिय, महानाम और अश्वजित ने भी दीक्षा ली।

इसके पश्चात् भगवान अनेक भू-प्रदेशों में अपने आर्य-सत्यों का प्रसार करते रहे। उरुवेला, स्रावस्ती, राजगृह और वैशाली आदि के नागरिक उनके धर्म को ग्रहण करने लगे। स्रावस्ती के धनिक अनाथ पिंडक ने, जेतवन को खरीद कर उनके लिये विहार बनवा दिया, जिसमें वे वर्षा ऋतु में ठहरा करते।

कपिलवस्तु में शुद्धोदन ने भी अपने पुत्र की कीर्ति सुनी। उन्होंने उन्हें लेने के लिये मंत्री के पुत्र कालदायिन को भेजा। बुद्ध कपिल वस्तु आये। उनके शिष्य भिक्षु गण उनके साथ थे। शुद्धोदन को यह देखकर बहुत दु:ख हुआ कि उनका पुत्र उनके नगर में ही भिक्षा-पात्र लिये जा रहा है। उन्होंने कहा, 'वत्स! यह हमारे कुल की रीति नहीं है।' गौतम ने अत्यंत विनम्रता से उत्तर दिया, 'यह हमारे बुद्ध कुल की रीति है।' नगर के सब लोग गौतम के दर्शन करने आये किन्तु राहुल-जननी अपने भवन में ही उनकी प्रतीक्षा करती रहीं। भगवान वहाँ गये और उन्हें चन्द्र किन्नर जातक सुनाया, जिसमें एक किन्नरी ने अपने पति की मृत्यु के पश्चात् उस के लिए हृदय द्रावक विलाप किया था और इन्द्र की कृपा से उसे पुन: जीवन दिला दिया था।

कपिलवस्तु के अनेक युवकों ने भगवान बुद्ध के इस धर्म की दीक्षा ली। उनके विमाता-पुत्र राजकुमार नन्द ने भी प्रवज्या ले ली। राहुल उनसे अपना

दाय मांगने गया और प्रव्रजित होकर लौटा। शुद्धोदन के मन को इससे बहुत गहरी ठेस लगी। उन्होंने भगवान से प्रार्थना की कि अभिभावक की अनुमति के बिना वे कभी किसी को प्रवज्या न दें।

देवदत्त बाल्यावस्था से ही गौतम का विरोधी था। उसने पहले तो अपनी कूट-नीति द्वारा संघ में भेद-भाव पैदा करना चाहा किन्तु जब उसमें सफल न हुआ तो वह अपने शिष्यों सहित गया को चला गया। सारि पुत्र और मोदग्लायन भी गया गये। उन्होंने उन भिक्षुओं को, जो उसके बहकावे में आकर संघ छोड़कर चले गये थे, सारी स्थिति समझाई। जब सारिपुत्र और मोदग्लायन राज-गृह लौटने लगे तो वे भिक्षु भी उनके साथ ही लौट आये। देवदत्त की क्रोधाग्नि और भी भड़क उठी। उसने बुद्ध के प्राण ले लेने का निश्चय कर लिया और अपनी कुचेष्टाओं में लग गया। एक दिन जब भगवान बुद्ध नगर में भिक्षा के लिये जा रहे थे तब उसने अजात शत्रु के साथ षड्यन्त्र रचकर उन पर एक मत्त हाथी छुड़वा दिया। हाथी ने बहुत उत्तेजित होकर उन पर आक्रमण किया किन्तु न जाने कैसे उसका क्रोध शांत हो गया और वह पालतू पशु की भांति भगवान के निकट बैठ गया? एक बार उसने अर्थ का लोभ देकर धनुर्धर नियुक्त किये कि वे गौतम के प्राण ले लें किन्तु वे लोग भी उन्हें मारने में सफल न हुये। अंत में खीझकर देवदत्त ने उन पर एक पत्थर लुढ़का दिया, जिससे उनके बायें पैर के अंगूठे में चोट आ गई।

भगवान बुद्ध अस्सी वर्ष तक अपने धर्म का प्रचार करते रहे। एक बार भगवान मल्लों की राजधानी कुशीनगर के निकट शाल के वन में अस्वस्थ हो गये। उन्हें रक्तामाशय हो गया। आनन्द व अन्य भिक्षुओं ने उन्हें एक शय्या पर लिटा दिया। भगवान के अंतिम क्षण निकट आते जा रहे थे। इसे वे स्वयं भी समझ रहे थे और आनन्द भी। आनन्द उनसे संघ के सम्बन्ध में परामर्श ले रहे थे। ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवगण भी आ गये थे और वे अदृश्य रूप से शय्या को घेरे हुये खड़े थे। उसी समय सुभद्र नामक परिव्राजक उनसे कुछ प्रश्न पूछने के लिए आया। आनन्द ने उसे रोका किन्तु भगवान ने कहा कि 'जिज्ञासु को अंतिम क्षण में भी मेरे पास आने दो।' उन्होंने उसके प्रश्नों का समाधान किया और फिर संसार से चिर-बिदा ली। जीवन के अंतिम क्षण तक उन्होंने अपने पुनीत धर्म का प्रसार किया और संतप्त प्राणियों को शांति दी।

बुद्ध और बोधिसत्व

भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात्, उनके मत का प्रसार और प्रचार होता गया। हीन यान में[1] वे पार्थिव मानव से स्तर से ऊपर उठ गये। महायान[2] में तो बुद्धों को अनादि और अनंत ही मान लिया गया। उसमें गौतम बुद्ध, उन बुद्धों में से माने गये जो धरती पर जन्म लेकर लोक-कल्याण करते हैं, साथ ही ऐसे बुद्धों की कल्पना भी की गई, जो केवल धर्म-रूप हैं।

बौद्धों की पहली परिषद्, भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् तुरन्त ही राज गृह की सप्तपर्णी गुहा[3] में हुई। इसे अजातशत्रु[4] ने बुलवाया था। महा काश्यप ने जो भगवान के प्रिय शिष्य थे, अनेक वयोवृद्ध अर्हतों[5] को आमंत्रित किया ताकि वे भगवान के धर्म और विनय[6] सम्बन्धी विचारों को एकत्रित कर एक निश्चित स्वरूप दें। आनन्द[7] भी इस परिषद् में सम्मिलित हुये। आनन्द ने तथागत के धर्म सम्बन्धी विचार सामने रक्खे। संघ[8] को सुचारु रूप से चलाने के लिए जिन नियमों की आवश्यकता थी और जिन पर भगवान बुद्ध बहुत जोर दिया करते थे,

---

१. थेरवाद। 'यह पथ केवल भिक्षुओं के लिये था, इसलिए इसे संकरा मार्ग या हीनयान कहा गया।

२. जब बौद्ध धर्म गृहस्थों और भिक्षुओं, दोनों के लिए समान रूप से सुलभ हो गया, तो उसे चौड़ा रास्ता या महायान का नाम दिया गया।

३. राजगृह, पाटलिपुत्र से पहले मगध की राजधानी था। भगवान बुद्ध महाभिनिष्क्रमण के पश्चात् राजगृह ही गये थे। सप्तपर्णी, राजगृह के निकट एक गुहा थी, जिसमें महा काश्यप ने बौद्धों की प्रथम परिषद् बुलबाई। ऐसा प्रतीत होता है कि यह पर्वत को काटकर बनाया हुआ प्रकोष्ठ या विहार होगा।

४. मगध के राजा बिम्बसार का पुत्र।

५. अर्हतावस्था-भिक्षु की लोभ, घृणा और आसक्ति वृत्तिओं का नष्ट हो जाना। (विशेष के लिये देखिये, अंगुत्तर निकाय ३, ४२१)

६. उन नियमों का सकलन, जो संघ के भिक्षु के लिये आवश्यक थे।

७. भगवान बुद्ध के अत्यंत प्रिय शिष्य। वे शाक्यों के परिवार के ही एक राजकुमार थे।

८. भगवान तथागत के अनुयायियों का समुदाय।

उपालि[1] ने वे ही परिषद् के सम्मुख रक्खे। इस प्रकार सुत्त और विनय, दो पिटकों[2] के संग्रह का कार्य इस परिषद् से प्रारम्भ हो गया। इसके पश्चात् परिषद् की पाक्षिक बैठकें होती रहीं।

बौद्धों की दूसरी परिषद्, भगवान बुद्ध की मृत्यु के लगभग सौ वर्ष पश्चात् वैशाली[3] में हुई। इसमें संघ और भिक्षुओं के नियम और आचार सम्बन्धी प्रश्न उठ खड़े हुये। यह आवश्यकता पड़ने पर नमक, स्वर्ण आदि के संग्रह करने के बारे में थे। कुछ अन्य समस्यायें थीं। दोपहर के पश्चात् भोजन करना, परिस्थिति-विशेष में कोई कार्य कर चुकने के पश्चात् संघ के महास्थविर से अनुमति ले लेना आदि विषय थे। इन पर समस्त भिक्षुगण सहमत न हो सके और वे दो दलों में बंट गये। यह प्रस्ताव वैशाली और पाटलिपुत्र के वज्जीपुत्रकों के द्वारा रखे गये थे। कौशाम्बी[4] और अवन्ती[5] के भिक्षुगण इनके विरोधी थे। प्रस्ताव स्वीकार न हो सके तब वज्जीपुत्रकों[6] ने अपनी एक विशेष परिषद् बुलवाई और उसमें उन्हें मान्य करार दे दिया। वैशाली और पाटलिपुत्र के महासंघिक और अवंती व कौशाम्बी के दल थेरवाद[7] कहलाये। महासंघिक धारा को आचार्य वाद भी कहा गया।

---

१. भगवान बुद्ध के एक प्रमुख शिष्य। यह कपिलवस्तु के थे और शाक्य राजकुमारों के साथ धर्म में दीक्षित हुये थे। वे नापित थे किन्तु भगवान ने इन्हें शाक्यों से पहले दीक्षा दी थी।

२. सुत्त-पिटक, विनय-पिटक और अभिधम्म-पिटक का संकलन। इसमें बौद्धों की परिषदों में भगवान बुद्ध के वचनों का संग्रह कर दिया है।

३. लिच्छिवियों की राजधानी। भगवान बुद्ध के समय यह एक अत्यंत समृद्ध नगर था। वे कई बार वैशाली गये और उनके परिनिर्वाण के पश्चात् भी अस्थियों का एक भाग वैशाली गया था। यह वर्तमान मुजफ्फरपुर जिले में थी।

४. वत्सों की राजधानी। भगवान बुद्ध के समय यहाँ राजा उदयन राज्य करता था। यह मगध और कोशल के पथ पर पड़ती थी।

५. वर्तमान उज्जैन। अवंती सोलह बड़े जनपदों में से एक थी। अवंती के दो भाग थे, जिनमें से एक की राजधानी उज्जयिनी और दूसरी की महिष्मती थी। भगवान बुद्ध के समय यहाँ का राजा चन्ड प्रद्योत था। यह उनके युग में तथा बाद में भी बौद्ध धर्म एक बड़ा केन्द्र रहा।

६. वैशाली के निवासी, जो वज्जिन कुल के थे। यहाँ बौद्ध-भिक्षुओं का एक बड़ा दल संगठित हो गया था।

७. हीनयान का ही एक नाम।

मूल रूप से यह दोनों विचार-धारायें हीनयान के अन्तर्गत ही थीं। एक बार विचारों में अंतर पड़ा कि फिर दल व मतों की शाखा-प्रशाखायें फूटते देर नहीं लगती। थेरवाद ग्यारह मतों में बंट गया और आचार्यवाद सात में। थेरवाद या स्थविरवाद के केन्द्र कौशाम्बी और अवंती अर्थात् उज्जयिनी थे। इसके पिटक की भाषा पाली थी। अशोक के पुत्र महेन्द्र के द्वारा इसका प्रचार लंका में भी हुआ। वहाँ भी विहार बन गये।[1] थेरवाद की ही एक शाखा सर्वास्तिवाद[2] भी थी। इसका पिटक संस्कृत में था। इसका प्रमुख केन्द्र मथुरा बना और यह गान्धार तथा काश्मीर तक फैल गया।

महायान के उदय और विकास से बहुत पहले हीनयान में बोधिसत्व की कल्पना की जा चुकी थी किन्तु हीनयान और महायान की विचार-धाराओं में जीवन के प्रति दृष्टिकोण का अंतर था। हीनयान इस संसार को नश्वर देखता था और निर्वाण; संस्कारों और वासनाओं से मुक्ति, की ओर सतत जागरूक रखता था। कह सकते हैं कि योगी की भांति उसका लक्ष्य अपनी मोक्ष थी, कर्मयोगी की भांति लोक-कल्याण नहीं। महायान ने लोक-कल्याण की भावना को ही वरण किया। जो छः अथवा दस पारिमिताओं को अपने जीवन में ढाल लेता है, वही बोधिसत्व है। पारिमितायें दिव्य-गुणों की पूर्णताओं का नाम है। दान-पारिमिता, शील-पारिमिता, क्षान्ति पारिमिता, वीर्य-पारिमिता, ध्यान-पारिमिता और प्रज्ञा-पारिमिता को अपने जीवन में ढाल कर जो उसे पूर्णत्व देने की चेष्टा करता है, वही बोधिसत्व है।[3] जब तक जगत का एक भी प्राणी दुःख से छटपटा रहा है, बोधिसत्व स्वर्ग की कामना भी नहीं करता। प्रत्येक मनुष्य को चाहे वह किसी जाति, वर्ग अथवा समाज का क्यों न हो, बोधिसत्व बनकर बुद्धत्व प्राप्त करने का अधिकार है। हीन यान केवल भिक्षुगण तक सीमित था, महायान में गृहस्थों को भी यह स्वाधीनता प्राप्त हो गई कि वे बोधिसत्व के आदर्शों को आत्म-सात् कर सकें। परिणाम यह हुआ कि संभ्रान्त कुलों के पुत्र उदात्त भावनाओं से अनुप्रेरित होकर निकल पड़े। उन्होंने बड़े आत्म-संयम से पारिमिताओं को ग्रहण किया। उनके चित्त बोधिमय

---

१. अशोक के पुत्र महेन्द्र के लंका जाने के पश्चात् वहाँ कई विहार बनवाये गये।

२. थेरावाद की एक विशिष्ठ शाखा।

३. षट् पारमिताः परिपूरयितव्याः।
कतमाः षट्, तद्यथा दान-पारिमिता,
शील-पारमिता, क्षान्ति-पारमिता, वीर्य-
पारिमिता, ध्यान-पारिमिता, प्रज्ञा-पारिमिता।

हो गये और वे बोधिसत्वों की श्रेणी में प्रख्यात हुये। जातकों और अवदानों के नायक बोधिसत्व हैं। जातक भगवान बुद्ध के पूर्व-जन्मों की कथायें कही जाती हैं।

जातक-कथायें, विश्व के कथा-साहित्य में सबसे विशाल संकलन हैं। इन्हें त्रिपिटक में भी स्थान दिया गया है। त्रिपिटक में सुत्त-पिटक, विनय-पिटक और अभिधर्म; संग्रहीत हैं। सुत्त पिटक, पालि त्रिपिटक का सबसे महत्वपूर्ण भाग है। यह उस युग के समस्त सामाजिक जीवन को घेर लेता है। सुत्त पिटक में पाँच निकाय अर्थात् समूह हैं; दीघ निकाय, मज्झिम निकाय, संयुत्त निकाय और खुद्दक निकाय। खुद्दक निकाय में पन्द्रह विभिन्न ग्रंथ संग्रहीत कर दिये गये हैं। इनमें से अवदान में उन भिक्षु और भिक्षुणियों के पूर्व-जन्म की गाथायें हैं, जिन्होंने बोधिसत्व के आदर्श को अपने जीवन में उतार लिया था। चरिया पिटक में भगवान बुद्ध के पूर्व-जन्मों की चर्याओं का उल्लेख है और जातक पांच सौ छयालीस कथाओं का संकलन है। इन्हें भगवान बुद्ध के पूर्व-जन्मों की कथायें कहा जाता है। इनके नायक बोधिसत्व हैं। जातक की समस्त कथायें आदर्शोन्मुखी हैं। इनकी अपनी एक विशेष शैली है। भगवान बुद्ध अपने समकालीन व्यक्ति या घटना को देखकर भिक्षुओं से कहते हैं, "कि अपने पूर्व-जन्म में भी यह ऐसा ही था।" इस प्रकार वे एक कथा सुना देते हैं और फिर वर्तमान परिस्थिति व व्यक्ति से साथ उस समय की तुलना करते हुये कहते हैं कि "तब मैं बोधिसत्व था।" बोधिसत्वों में सभी समाज, वर्ग और जाति के लोगों का चित्रण हुआ है। उनकी परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न हैं किन्तु उनमें भी उन्होंने अपनी उदार भावनाओं से लोकोपकार किया है। राजा, कृषक, श्वपच, सब बोधिसत्वों की श्रेणी में हैं।[१] इस प्रकार मानो कथाकार ने सभी को भगवान बुद्ध का पूर्व-जन्म का रूप स्वीकार कर लिया है और जाति तथा वर्गों की वे दीवारें ढा दी हैं जिनका भगवान जीवन-भर विरोध करते रहे।

वह कहना चाहता है कि मानव ही क्या, पशु-पक्षी, वृक्षों की आत्मायें, यहाँ तक कि विषधर सर्प;[२]—सबके लिये लोक-कल्याण का पुण्य-पथ प्रशस्त है। दीघ निकाय के सोणदण्ड सुत्त में भगवान ने जातिवाद और वर्ण व्यवस्था का खंडन किया है।

सोणदण्ड चम्पा का एक ब्राह्मण था। वह प्राचीन आर्य-वाङ्मय का आचार्य समझा जाता था। उसकी विद्वता से प्रभावित होकर महाराज बिम्बसार ने उसे

---

१. देखिये Dictionary of Pali Proper Names. Vol. II, Page 328.

२. Ajanta, G. Yazdani, Part I, शंखपाल जातक, Plate XI; चाम्पेय जातक Plates XXXIV—XXXVI (a)

एक भव्य राजप्रासाद प्रदान किया था। जब उसने भगवान बुद्ध की कीर्ति सुनी तो उनसे मिलने भी गया। बातचीत करते-करते चर्चा जातिवाद पर आकर रुक गई क्योंकि वहीं से दोनों की दो विचार-धारायें अलग दिशाओं में मुड़ती थीं। भगवान ने पूछना प्रारम्भ किया, 'सोणदण्ड ! वे कौन से गुण हैं, जो एक ब्राह्मण को ब्राह्मण बनाते हैं?' सोणदण्ड ब्राह्मणोचित गुणों को गिनाने लगा। उसे अन्त में स्वीकार करना पड़ा कि उच्चता जाति विशेष में जन्म लेने से नहीं वरन् गुणों को अंगीकार करने से आती है।

मानव सदा से कथा-प्रिय रहा है। जब उपदेश, कथाओं और दृष्टान्तों के साथ चित्रित कर दिये जाते हैं, तो वे मन पर और भी गहरा प्रभाव डालने में समर्थ हो जाते हैं। जातक कथाओं का मूल-उद्गम लोक-साहित्य है। जातक-कथायें लोक-माता की गोद में खेलने वाली बालिका हैं, जिसने देखा उसी ने गोद में लेने के लिए अपनी बाहें पसार दीं। अनेक जातक इस देश के अन्य मतों के ग्रंथों तथा विदेशों के साहित्य में अपने समान रूप में मिलते हैं। कुछ का रूप और कहीं-कहीं कथानक भी कुछ परिवर्तित दिखाई देता है। अजंता की पहिली गुफा की दीवाल पर अंकित शिवि जातक,[१] महाभारत की राजा शिवि की कथा से भिन्न नहीं है। दशरथ जातक तथा रामायण के कथानक में अंतर अवश्य है किन्तु दोनों का विषय एक ही है।[२] दशरथ जातक भारहुत के अर्ध चित्रों में प्रस्तरांकित हुआ है।[३] कुछ कथायें हितोपदेश और जातक में एक सी हैं। एक जातक की नायिका कान्हा है। कान्हा के ससुर पान्डु राजा हैं। उसके पति नकुल, अर्जुन, युधिष्ठिर, भीम और सहदेव हैं। द्रोपदी का एक नाम कृष्णा भी था, जिसका पालि-रूप कान्हा हो सकता है।[४]

जनपद में फैली हुई यह कथायें शिल्पियों को प्रिय लगीं और उन्होंने भारहुत व सांची की वेदिकाओं और तोरणों पर इन्हें आंका। इनके माध्यम से उन्हें समस्त लोक-जीवन, कथानक के रूप में अंकित करने को मिल गया। उन्होंने

---

१. Ajanta G. Yazdani, Part I Text, The Story of Pigion, Plate V.

२. इसमें दशरथ काशी के राजा हैं। अपनी सौतेली मां के आग्रह पर राम और लक्ष्मण वन में जाते हैं किन्तु इसमें रावण के साथ युद्ध का वर्णन नहीं है।

३. The Stupa of Bharhut—A. Cunningham, Plate XXVI.

४. Jataka, V, 424-426 (ed. by Fausboll)

नगर के दृश्य[1] तपस्वियों के आश्रम[2] देहात के घर,[3] उनके नर-नारी, राजाओं को सभायें[4] और विजय-यात्रायें,—[5] सब कुछ पत्थरों में उभारे। इसके पीछे उन्हें विराट् प्रकृति की पार्श्वभूमि मिल गई। उन्होंने वनों की रमणीकता, उनमें फूलने-फलनेवाले वृक्ष और लतायें, व विरहने वाले पशु-पक्षी सभी को आंका। जातक कथाओं से बौद्ध धर्म के दार्शनिक तत्त्वों का कोई सम्बन्ध नहीं, सिवा इसके कि उनके नायक बोधिसत्व है।[6] इस कला से भी आध्यात्मिकता का कोई सम्बन्ध नहीं। इसमें लोक की वृत्तियों का चित्रण है।[7]

गौतम बुद्ध अब बुद्धों की परम्परा में अंतिम बुद्ध समझे जाने लगे। उन्हें गौतम या शाक्यमुनि कहा गया। बुद्ध दो प्रकार के माने गये। एक वह जो सम्बोधि तो प्राप्त कर लेते हैं किन्तु विश्व में धर्म का प्रचार नहीं करते। उन्हें पच्चेका बुद्ध कहा गया। जो लोक को निर्वाण का पथ दिखाते हैं, वे सम्मासम्बुद्ध हैं। गौतम की पूर्व-परम्परा में छः बुद्ध और माने गये। वे विपस्सी, सिखी, वेस्सभू, ककुच्छंद, कोणागमन और काश्यप हैं। इसके पश्चात् यह मान्यता दृढ़ हुई कि गौतम से पूर्व चौबीस बुद्ध और हो चुके हैं। उनमें दीपंकर, कौण्डिन्य, मंगल, सुमन और रेवत आदि हैं। धीरे-धीरे महावस्तु तक यह संख्या बढ़ती ही चली गई। जिसे सम्बोधि प्राप्त हुई, जिसने धर्म को जान लिया वही बुद्ध बन गया। महावस्तु में यह संख्या सौ से भी अधिक बढ़ गई किन्तु इन सब के, कल्पना के आधार गौतम बुद्ध ही बने रहे। इन बुद्धों के शरीर का आकार, जन्म का गोत्र आदि अलग-अलग रहा किन्तु उनके जीवन में वे सब घटनायें घटती बतलाई गईं जो स्वयं गौतम बुद्ध के जीवन में घटी थीं। उसी प्रकार वे

---

१. The Monuments of Sanchi, Vol. II, Plate No. 15.

२. The Stupa of Bharhut Plate XXVI (fig. 7.), The Monuments of Sanchi, Vol II, Plate No. 52 (a. 2)

३. The Monuments of Sanchi, वेसन्तर जातक के दृश्य,

४. The Monuments of Sanchi, Vol. II, Plate No. 14 (b). Ajanta, Vol. I. महाजनक जातक Plate No. XIV and XV.

५. The Monuments of Sanchi Vol. II, Plate No. 23 (a. 1) बाघ गुफा के भित्ति-चित्रों में शोभा-यात्रा

६. "Only a few 'Jattkas' have a directly moral aim and not many can be classed as definitely Buddhistic." The Age of Imperial Unity, Page 404,

७. 'सांची की कला का विषय बौद्ध-धर्म है...जातक कथायें हैं लेकिन विचार करके देखा जाय तो पता लगता है कि जिस जीवन का चित्रण हुआ है, उसका धर्म के गूढ़ तत्त्वों से बहुत कम सम्बन्ध है।'—डा. मोतीचन्द, विक्रम कालीन कला (विक्रम अभिनन्दन ग्रंथ)

अवतरित हुये। उसी प्रकार महाभिनिष्क्रमण किया।[1] उसी प्रकार वृक्ष के नीचे बैठकर साधना की और फिर सम्बोधि प्राप्त की।[2] प्रत्येक कल्प में केवल एक ही बुद्ध होता है। स्पष्ट है कि इन मान्यताओं का आधार अपने धर्म को और भी प्राचीन सिद्ध करने की चेष्टा थी। बोधिसत्व के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की आस्थायें दृढ़ होती गईं। प्रत्येक मत अपने को पुराना बताने के लिये पौराणिकता का सहारा लेता है। अब केवल वही बोधिसत्व हो सकता था जो पुरुष हो, विरक्त हो, जो सम्यक् ज्ञान का जिज्ञासु और पिपासु हो।[3] वह अपने कल्प के बुद्ध के निकट जाकर उनसे अपना निश्चय प्रकट करता है। बुद्ध सर्वज्ञ हैं। उनकी दृष्टि भूत और भविष्य को देख सकने में समर्थ है। वे उसकी धर्म के प्रति आस्था और बुद्धत्व के लिए दृढ़ निश्चय देखकर स्वीकृत दे देते हैं। गौतम स्वयं बोधिसत्व रहे हैं। उन्होंने अपने कल्प के बुद्ध दीपंकर के सन्मुख जाकर अपना अभिप्राय प्रकट किया था। उस समय उनका नाम सुमेध था।

महायान में हिन्दुओं जैसी देवताओं की पंक्ति दिखाई देती है। गौतम अनेक ध्यानी बुद्धों, बोधिसत्वों और लोकपालों में खो जाते हैं। महायान कालांतर में हिमालय की ऊँची चोटियाँ पार कर तिब्बत और नैपाल पहुंचा ओर खूब फूला-फला। उस ने अपनी पूर्व-परम्परा हीनयान की महासंघिक शाखा से ली जो द्वितीय परिषद् के पश्चात् थेरवाद से पृथक् हो चुकी थी। अमरावती[4] और नागार्जुन कोण्डा[5] इसके केन्द्र बन गये थे। थेरवाद के अनुयायियों का लक्ष्य अर्हतावस्था को प्राप्त करना था और महासंघिकों का बुद्धत्व। महासंघिकों ने बोधिसत्व की कल्पना भी कर ली थी।

हम कह चुके हैं कि थेरवाद ने पहले बुद्ध को महा मानव की प्रतिष्ठा दी और फिर उन्हें दैवी गुणों से सम्पन्न मान लिया। वे ब्रह्मलोक के देवताओं से भी श्रेष्ठ समझ लिये गये किन्तु महायान में उनकी वही स्थिति मान ली गई जो

---

१. ब्रह्मायु सुत्त, (विस्तृत वर्णन के लिए मज्झिम निकाय देखिये)

२. वही

३. इसे 'अभिनीहारकरण' कहते हैं।

४. दक्षिणापथ में कृष्णा नदी के किनारे एक नगर था। आंध्रों के समय में यह बहुत समृद्धिशाली था। यहाँ थेरावाद का विकास हुआ। यहाँ एक विशाल बौद्ध स्तूप भी बना, जिसकी कला के सम्बन्ध में हम विस्तृत रूप से चर्चा करेंगे। (यह मदरास के गुंटूर जिले में है।)

५. गुंटूर जिले में ही एक अन्य स्थल।

हिन्दुओं में ब्रह्म की है। वे अनादि हैं, अनंत हैं। किन्तु वह त्रिकाय; तीन स्वरूप भी धारण करते हैं। नैपाल में उन्हें आदि बुद्ध की संज्ञा दी गई। यह माना गया कि जब संसार में कुछ भी नहीं था तब आदि बुद्ध थे। वही सृष्टि के मूल कारण हैं।[१] उन्होंने अपने पंच प्रकार के ज्ञान और ध्यान से पाँच ध्यानी बुद्धों को रचा। यह भी कहा गया कि सृष्टि के प्रारम्भ में कमल का विशाल, सहस्रदल पुष्प खिला। उसमें से अग्नि की ज्वालायें फूटीं और फिर उनमें से आदि-बुद्ध अवतीर्ण हुये। वे अग्निष्ठ भुवन में, जो तेरह भुवनों में सबसे ऊँचा माना जाता है, निवास करते हैं। आदि बुद्ध अथवा ध्यानी बुद्ध स्वयं कभी पृथ्वी पर अवतरित नहीं होते। वे सृष्टि के संचालन का भार ध्यानी बोधिसत्वों को सौंप देते है। यह ध्यानी बुद्ध मानवी बुद्धों के ही स्वरूप हैं। मानवी या मनीषी बुद्ध पृथ्वी पर अवतरित होते हैं और अपना कार्य समाप्त कर सामान्य मानवों की भांति ही मृत्यु को प्राप्त करते हैं। यह धरती पर बुद्ध के रूप में नहीं वरन् बोधिसत्व के रूप में आते हैं और शाक्य मुनि की भांति बोधि-वृक्ष के नीचे सम्बोधि प्राप्त करते हैं। उनका वेष भी योगियों जैसा ही रहता है।

ध्यानी बुद्ध ब्रह्मलोकों[२] में रहते हैं। यह धर्म की पवित्रता के स्वरूप हैं। यह कभी पृथ्वी पर नहीं उतरते। वे केवल मनीषी बुद्धों को प्रेरणा प्रदान करते हैं। बोधिसत्व भी उन्हीं से प्रेरणा पाते हैं। वे केवल प्रकाशवान धर्म हैं। भौतिक जीवन के कार्यालापों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है।[३]

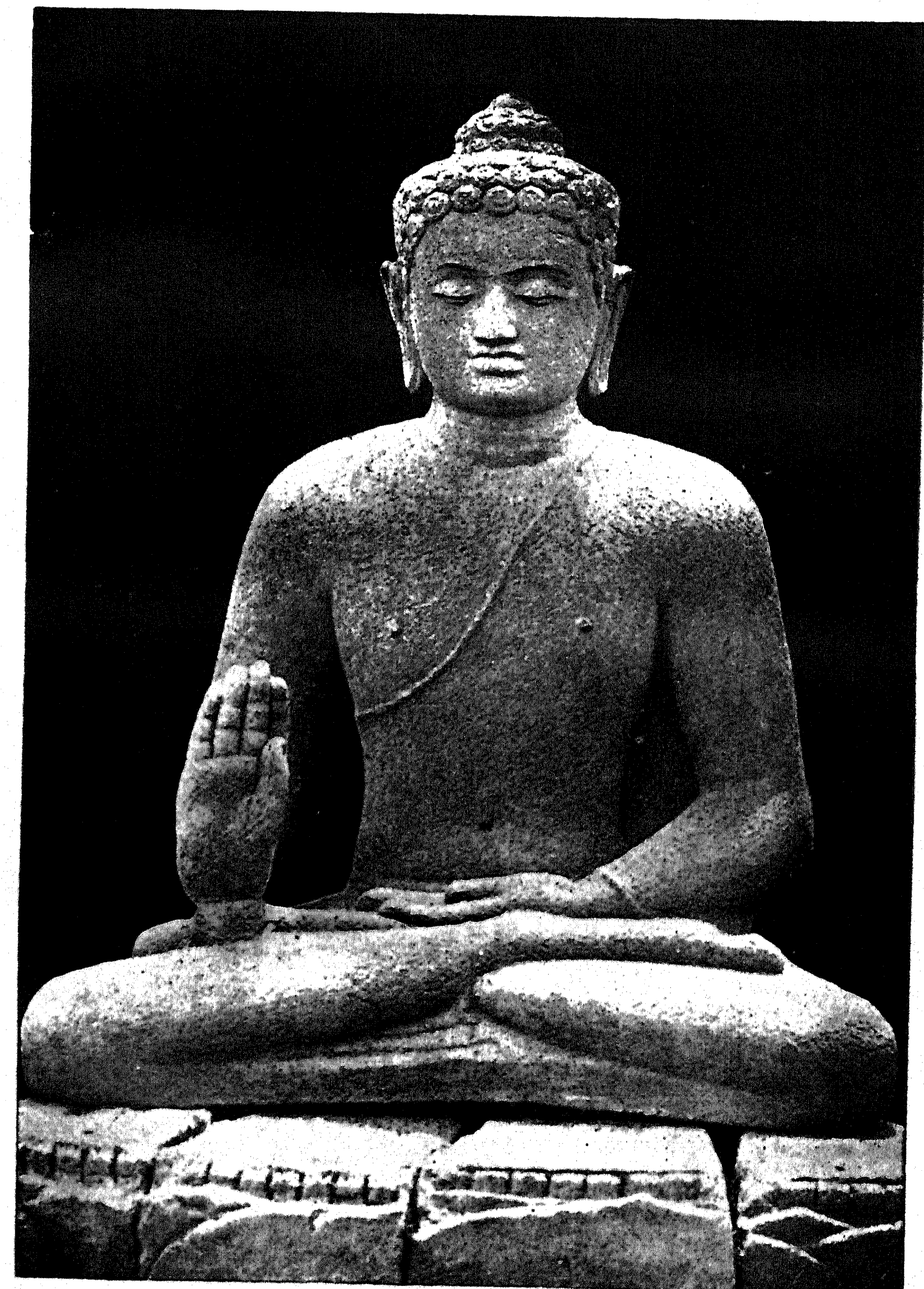
बौद्ध धर्म के अनुसार जगत का परिवर्तन होता रहता है। यह परिवर्तन पांच बार होता है। प्रथम जगत ध्यानी बोधिसत्व, सामन्त भद्र रचते हैं। ध्यानी बुद्ध वैरोचन से वे प्रेरणा और शक्ति प्राप्त करते हैं। उस समय क्रकुच्छंद मनीषी बुद्ध बनकर पृथ्वी पर जन्म लेते हैं। ध्यानी बोधिसत्व सामन्त भद्र की प्रतिमायें, मंजु श्री और शाक्य मुनि के साथ जापान और चीन में अधिक मिलती हैं। भारत में सामान्यतः इनकी प्रतिमायें नहीं मिलतीं। सामन्त भद्र का परिधान

---

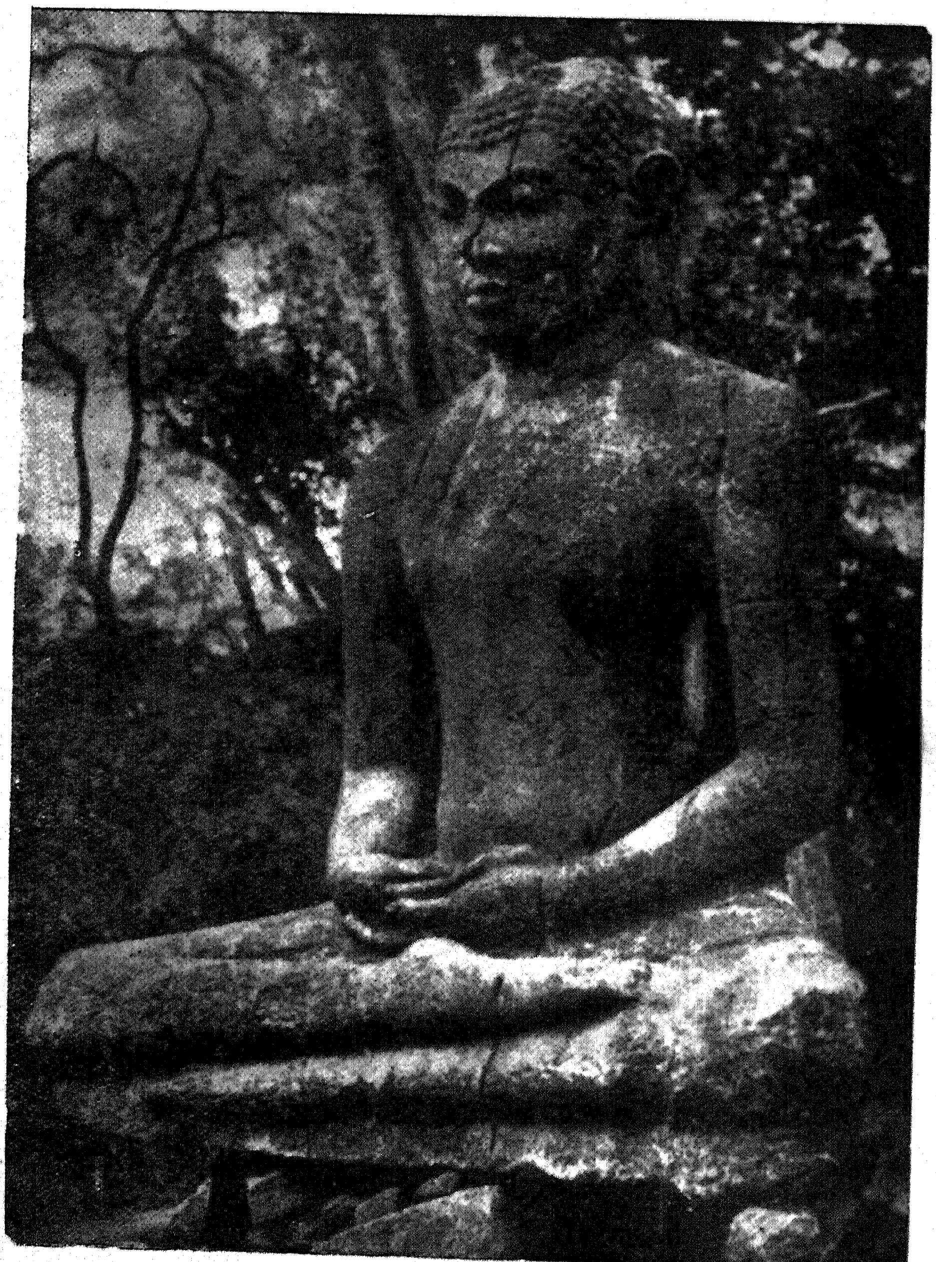
१. The Gods of Nothern Buddhism–Page I-3.

२. बौद्ध मत के अनुसार यह देवलोक से भी ऊपर हैं। यह नौ स्वर्गों का समुदाय है, जहां केवल अत्यंत पुण्यवान व्यक्ति ही प्रवेश कर सकता है। बक आदि जातकों में ब्रह्म लोक का उल्लेख प्राप्त होता है।

३. बुद्ध का वास्तविक स्वरूप धर्मकाय है। जो अनादि, अनंत और अरूप है। सम्भोग रूप वह है जब वे दिव्य शरीर धारण करते हैं और जब वे सामान्य मानव का रूप लेकर धरती पर आते हैं, तो वह उनको रूप-काय या निर्माण काय कहा जाता है। महायान में गौतम निर्माण-काय बुद्धों में हैं।



भगवान बुद्ध
बोरोबुदूर, जावा



'बोधिवृक्ष के नीचे'
अनुरुद्धपुर–सीलोन

राजाओं जैसा रहता है। वे मस्तक पर रत्न-जड़ित किरीट धारण किये रहते हैं। उनके एक हाथ में चिंतामणि[1] रहती है, जो आराधकों की आकांक्षाओं को पूर्ण करती है। इनके हाथ की मुद्रा वितर्क[2] रहती है और कभी-कभी उसमें मुड़े हुये धर्मपत्रक भी रहते हैं। उनके हाथ में खिला हुआ नीलोत्पल रहता है। उनका वाहन गज है। अन्य जगत अक्षोभ्य, रत्न-सम्भव, अमिताभ और अमोध सिद्धि रचते हैं। उनके ध्यानी बोधिसत्व वज्र-पाणि, रत्न-पाणि, पद्मपाणि या अवलोकितेश्वर और विश्व-पाणि रहते हैं और मानवी बुद्ध, कनक मुनि, काश्यप, गौतम और मैत्रेय।

डा० वासुदेव शरण जी अग्रवाल की राय में पंच ध्यानी बुद्धों, बोधिसत्वों और मानुषी बुद्धों की कल्पना हिन्दुओं के प्राचीन दर्शन से बुद्ध-दर्शन का मेल बिठाने के लिए की गई है,—"यह जटिल कल्पना हिंदुओं के प्राचीन दार्शनिक मूलभूत पंच तत्त्व, पंच प्राण, पंच विषय, पंच इंद्रियाँ आदि के साथ बुद्ध-दर्शन का मेल मिलाने के लिये की गई। इसी के जोड़ की कल्पना शैवों में भी विकसित हुई, जिसके अनुसार पंचमुखी शिव की मूर्तियों का निर्माण हुआ। वे पंचमुख क्रमशः—'ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजात' कहलाते हैं। मथुरा में पंचमुखी शिव की कई मूर्तियाँ मिली हैं। वस्तुतः इस पंचात्मक मूर्ति-भेद की कल्पना का प्रारंभ भागवतों के चतुर्व्यूह और पंच वृष्णि-वीरों की कल्पना से ज्ञात होता है। मथुरा के 'मोरा'-शिलालेख में, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, पंच वृष्णि-वीरों की मूर्तियों का स्पष्ट वर्णन है। चतुर्व्यूह में भगवान्—संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध की गणना है। इसके साथ पाँचवें सांब को मिलाकर पंच वृष्णि-वीरों की कल्पना प्रथम शताब्दी ई० पू० में अस्तित्व में आ चुकी थी। विष्णु, शिव और बुद्ध के अनुयायी भक्त अपनी-अपनी मूर्तियों का चतुर्व्यूहात्मक या पंचात्मक विभेद करते हुए एक ही मूल-प्रवृत्ति या विचार-धारा का अनुसरण

---

१. 'मणि आराधकों की कामना पूर्ण करने की प्रतीक है। चिंतामणि में नौ, सात और कभी-कभी तीन रत्न ही रहते हैं। यह क्षितिगर्भ, सामन्त भद्र, रत्न-पाणि और रत्न-सम्भव के साथ रहती है। कभी-कभी स्तूप या चैत्य के आकार की भी चिंतामणि रहती है।

२. "Mudra of argument. The dogmatic attitude is represented with the arm bent and all the fingers extended upward, except either the index or the ring finger, which touches :the tip of the thumb, forming the triangular pose. The palm of the hand is turned outword." (The Gods of Nothern Buddhism, Page 20.)

कर रहे थे। वैष्णवों में जैसे चतुर्व्यूह हैं, शैवों में उसी प्रकार चतुर्मुखी शिवलिंग है। बौद्धों के चतुर्बुद्धात्मक स्तूप जिनमें स्तूप की एक-एक दिशा में एक-एक बुद्ध अंकित किया गया है, उसी शैली के हैं। उसी समय की मथुरा-कला में जैन चौमुखी मूर्तियाँ मिली हैं, जिन्हें लेखों में प्रतिमा 'सर्वतोभद्रिका' कहा गया है। उनकी एक-एक दिशा में एक-एक तीर्थंकर अंकित हैं। ये मूर्तियाँ भी उसी दार्शनिक दृष्टिकोण को प्रकट करती हैं। जान पड़ता है कि इस समस्त धार्मिक प्रपंच के मूल में एक योग-प्रधान या तांत्रिक दृष्टिकोण काम कर रहा था। मनुष्य का शरीर पंचात्मक है। पाँच तत्वों या पंचभूतों के अनुसार शरीर के पाँच चक्र, पाँच इंद्रियाँ, पंच विषय, पंच प्राण कार्य करते हैं। पाँच चक्रों और सृष्टि के पंच महाभूतों के अनुसार देवताओं की व्याख्या और वर्गीकरण, धर्म का तांत्रिक विकास है। उपलब्ध मूर्तियों के देखने से ज्ञात होता है कि कुषाण-काल में इस प्रकार का तांत्रिक विवेचन बौद्ध, जैन, शैव और वैष्णव इन चारों संप्रदायों में विकसित हो चुका था।[१]

बोधिसत्व वज्रपाणि अतीव सौन्दर्यशाली हैं। उनका व्यक्तित्व भी बड़ा प्रखर है। वे ऐश्वर्यवान सम्राट की भाँति अनेक आभूषणों से अलंकृत रहते हैं। उनका दाहिना हाथ वज्र लिये रहता है और बायां भक्तों को वर प्रदान करता है। वज्र उस सत्य का प्रतीक है जो अन्धकार को विदीर्ण करता है और स्वयं कभी नष्ट नहीं होता।[२]

वज्रपाणि की कल्पना की मूल स्रोत क्या है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वान उन्हें इन्द्र अथवा शक्र का ही रूप मानते हैं। ऋग्वेद के इन्द्र भी वज्र धारण करते हैं और उनका वज्रिन् नाम प्रसिद्ध है।[३] पौराणिक इन्द्र और शक्र के व्यक्तित्वों में अत्यधिक समानता है। दोनों राजा

---

१. मथुरा कला (पोद्दार अभिनन्दन ग्रंथ), डा. वासुदेव शरण अग्रवाल, पृष्ठ ७८६.

२. 'बौद्धों की परिभाषा में वज्र उस मानसी स्थिति प्रज्ञा और ज्ञान का सूचक था, जिस पर बाह्य परिस्थितियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जो सर्वथा अभेद्य और अकाट्य है।'
—डा. वासुदेव शरण अग्रवाल (कला और संस्कृति, पृ. ११६)

३. ऋग्वेद मे इन्द्र के लिए वज्रबाहु (ऋ. ७, १८, १२; ७, २३, ६) व वज्रहस्त शब्द (७, ९९, ५; ७, २१, ४; ७, ३२, ४) आते हैं। जिस समय इन्द्र वज्र धारण करते हैं, उस समय वे अपने शत्रुओं के लिए अत्यंत दुर्द्धर्ष हो जाते हैं। (ऋग्वेद, ७ २८, २) इन्द्र के लिए 'वज्र पाणि' का प्रयोग रघुवंश में भी प्राप्त होता है ('वज्र' मुमुक्षाविव वज्रपाणि:, रघुवंश, २, ४२)

हैं। दोनों का वन नन्दन है। सारथी मातलि[1] है। दोनों युद्ध में देवताओं का नेतृत्व करते हैं। वरुण और प्रजापति आदि दोनों के मित्र हैं, आदि। भगवान बुद्ध के निकट शक्र बहुधा आया करते थे।[2] देवावतार में जब भगवान सांकाश्य में उतरे तब इन्द्र उनके साथ थे।[3] जब वे भू पर अवतरित हुये तब भी इन्द्र उपस्थित थे। पाली वाङ्मय में वज्रपाणि नामक यक्ष की चर्चा आती है[4] और गान्धार शिल्प की प्रतिमाओं में वज्रपाणि और इन्द्र दोनों एक ही शिला-पट्ट में दिखाई भी देते हैं।[5] विद्वानों के लिए यह अब भी एक समस्या है।[6]

कुछ विद्वान तिब्बती प्रतिमाओं और लोक-कथाओं के आधार पर उन्हें शिव का एक रूप मानते हैं। जिन तिब्बती मूर्तियों के आधार पर उन्हें 'शिव'

---

१. पुराणों में इन्द्र का सारथी मातलि है। बौद्ध ग्रंथों मे मातलि सदैव इन्द्र के साथ रहता है। (दीघ निकाय २, २६८) शक्र ने जब असुरों से युद्ध किया तब भी मातलि उनके साथ था।

२. शक्र अथवा इन्द्र सदैव भगवान बुद्ध के पास आया करता था और वह उन्हें भावी घटनाओं का पूर्वाभास भी दे जाता था। (चुल्लकालिंग जातक) वह सदैव उनकी रक्षा किया करता था। (अयकूट जातक) भगवान बुद्ध ने उसकी शंकाओं का समाधान 'सक पन्ह सुत' में किया है।

३. भगवान बुद्ध अपनी माता को उपदेश देने स्वर्ग गये थे, यह बौद्धों की मान्यता है। जब वे वहाँ से चलने लगे तब इन्द्र ने उनके लिये सांकाश्य (वर्तमान संखिसा, जिला फर्रुखाबाद, उत्तर प्रदेश,) तक तीन सीढ़ियाँ लगवा दीं। चित्रों के लिये देखिये—The Stupa of Bharhut, Plate 17; The Monuments of Sanchi, Vol II, Plate 34, (C).

४. वज्रपाणि एक यक्ष माना गया है। (दीघ निकाय, १, ९५)

५. गान्धार शैली के शिला–पट्ट में, महाभिनिष्क्रमण के दृश्य में इन्द्र वज्र लिये खड़े हैं। पार्श्व में वज्र लिये हुये यक्ष वज्रपाणि है। (A Guide to the Sculpturs in the Indian Museum, Calcutta, No. 37).

६. आचार्य बुद्ध घोष का मत है कि वज्रपाणि शक्र का ही एक स्वरूप है। यह आततायियों को भयभीत करने के लिये यह रूप धारण कर लेता है। (सुमंगल विलासिनी १,२६४) मोदग्लायन शक्र को यक्ष कहते हैं (मज्झिम निकाय १, २५२) इन्द्र वरुण आदि सभी को यक्ष कहा गया है। (दीघ निकाय ३,२०४–२०५)

"According to Dr. Coomarswamy, the Figure with the 'वज्र' would be a further unknown 'यक्ष वज्रपाणि', who had no relation whatever to 'इन्द्र', but whom the 'बोधिसत्व वज्रपाणि' would later have originated, (Origin of Buddha Image, Page 18), we regret being unable to agree this."—'The Seythian Period' by Dr. J. E. Van Lohuizen-de-Leeuw.

का ही एक स्वरूप सिद्ध किया जाता है, उनमें वे सिंह का चर्म पहने रहते हैं। उनके मस्तक पर नर-कपाल रहता है। केशों में नाग फुफकारते हैं। उनके कंठ में सर्पों की माला रहती है। भाल पर तीसरा नेत्र रहता है और दाहिने हाथ में वज्र[१]। तिब्बत में वज्रपाणि के सम्बन्ध में जो लोक-कथा प्रचलित है वह देवताओं द्वारा किये गये सागर-मन्थन जैसी ही है। अंतर केवल इतना है कि देवताओं के स्थान पर बुद्ध गण हैं और शिव के स्थान पर वज्रपाणि हैं। उन्हें अमृत की रक्षा का भार सौंप दिया जाता है। राहु अमृत को पी जाता है और दण्ड स्वरूप वज्रपाणि को हलाहल विष का पान करना पड़ता है।[२] तिब्बत में अत्यंत दुर्गम्य स्थान में त्सपारांग के प्राचीन मंदिर हैं। इनमें से श्वेत मंदिर में वज्रपाणि की चौदह फीट ऊँची, विशाल किन्तु भयावह प्रतिमा प्रतिष्ठित है। उनके मुकुट में कपाल है, माथे पर तीसरा नेत्र है, शरीर पर सर्पों के अलंकार हैं और एक हाथ में वज्र है।[३] यह तो निश्चित है कि भारतीय कथाओं ने विदेशों की यात्रा की और उनमें परिवर्तन हुये किन्तु इसका एक पक्ष यह भी हो सकता है कि बौद्ध और ब्राह्मण-शिल्प पर एक दूसरे के प्रभाव पड़े हों। इस प्रकार की समानतायें गुत्थियाँ बनकर आश्चर्य में डाल देती हैं। एलीफंन्टा की महेश्वर मूर्ति में, जिसे लोग भ्रमवश त्रिमूर्ति कहते हैं, शिव के तीन मुख हैं। पंच मुख परमेश्वर की प्रतिमायें जब दीवाल पर आंकी जाती हैं तब शिल्पी उनके तीन ही मुख, अघोर, सद्योजात और वामदेव आंकता है। अघोर उनका भैरव रूप है—बड़ी-बड़ी उठी हुई मूंछें, जटाओं में लहराते हुये सर्प और मुख पर रौद्र भावनायें। बीच का मुख शांत, गाम्भीर्य लिये रहता है और तीसरा वामदेव, नारी का मुख जैसा रहता है। यह आकृति में भी छोटा रहता है।[४] प्राचीन खोतान में बौद्ध त्रिमूर्ति का एक भित्ति चित्र इससे इतना अधिक मिलता है कि देखकर आश्चर्य होता है। दक्षिणापत्य की अमरावती के शिल्प में एक नर्तक की प्रतिमा की मुद्राओं के साथ नटराज की कांस्य-मूर्ति का बहुत साम्य है।

---

१. The Gods of Nothern Buddhism—Pages 50-51.

२. The Gods of Nothern Buddhism. See Vajrapani.

३. Tsaparang Frescoes—Lama Anagarika Govind (Series of articles published in the Illustrated Weekly of India in 1951)

४. The Cave Temples in India, Furgussan and Burgess, Page 467.

उसे देखकर लगता है कि शिल्पी ने कहीं यहीं से तो पूर्व-परम्परा ग्रहण नहीं की ?[१]

पद्मपाणि अथवा अवलोकितेश्वर दूसरे बोधिसत्व हैं। यह अपनी प्रेरणा ध्यानी बुद्ध अमिताभ से लेते हैं और अवलोकितेश्वर की प्रतिमाओं में, सिर के ऊपर अमिताभ की एक छोटी सी मूर्ति भी रहती है। अवलोकितेश्वर के अर्थ हैं, वह देवता जो सब ओर देखता है। वैदिक वाङ्मय में वरुण व इन्द्र को सहस्रचक्षु कहा गया है।[२] वे सृष्टि के प्रत्येक प्राणी के कार्य-कलापों को देखते हैं। वही भावना यहाँ व्यक्त हुई है। विष्णु की भांति उनके हाथ में सृष्टि की संचालन क्रिया का प्रतीक कमल रहता है। इस देश के प्राचीन गुहा-मन्दिरों में पद्मपाणि की प्रतिमायें और भित्ति-चित्र प्राप्त होते हैं। अजंता के बोधिसत्व पद्मपाणि का चित्र तो भारतीय कला की अत्यंत उत्कृष्ट कृति समझी जाती है।[३] एलोरा के बौद्ध गुहा-मन्दिरों में भगवान बुद्ध के निकट वे कमल लिये खड़े रहते हैं।[४] अवलोकितेश्वर या पद्मपाणि, प्रकाश के स्वामी कहे गये हैं। वे सूर्य और चन्द्र की आभा के समान हैं। नैपाल और तिब्बत में उनकी बहुत अधिक प्रतिष्ठा है। तिब्बती ग्रंथों के अनुसार ध्यानी बुद्ध अमिताभ ने अपने नेत्रों की ज्वाला से उनका निर्माण किया है। वे यह कहते हुये प्रकट हुये कि 'सृजन का रत्न कमल में ही है।' कमल पृथ्वी का प्रतीक है। इसकी आठ दिशायें कमल के अष्ट दल हैं। उसी पर श्री अथवा समृद्धि आसीन रहती है,[५] जिसका मेघ-रूपी गज अभिषेक करते रहते हैं। अवलोकितेश्वर उनका वह रूप है जिस पर तांत्रिक प्रभाव है और 'पद्मपाणि' उससे रहित है।

बौद्ध मत के अनुसार वर्तमान जगत, चौथा विश्व है, जिसका संचालन अवलोकितेश्वर अथवा पद्मपाणि कर रहे हैं। उनके मनीषी बुद्ध 'शाक्य मुनि कहे गये हैं। अपनी कार्यावधि समाप्त करने के पश्चात् वह अपना भार मैत्रेय को सौंप देंगे, यह मान्यता है।

---

१. Tree and Serpent Worship, By Furgussan.

२. ऋग्वेद ७, ३४, १०.

३. Ajanta. G. Yazdani. Part I, 'बोधिसत्व पद्मपाणि' Plates No. XXIX and XXVII.

४. The Cave Temples of India, Furgussan and Burgess, Chapter IV, (The Buddhist Caves at Elura) Pages 373-375.

५. तच्च पद्मं पुरा भूतं पृथिवीरूपमुत्तमम्।
तत्पद्मं सा रसा देवी पृथिवी परिचक्ष्यते ॥ (पद्म पुराण)

मैत्रेय की कल्पना बोधिसत्वों में सबसे प्राचीन है। हीनयान में अकेले बोधिसत्व मैत्रेय माने गये हैं। उनकी प्रतिमायें लंका, ब्रह्मा, श्याम आदि में भी प्राप्त होती हैं। गान्धार शिल्प-शैली में उनकी अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनमें वे एक हाथ में अमृत-कलश लिये हुये बैठे दिखाई देते हैं। उनका वेश और आभूषणादि राजाओं जैसा रहता है। मस्तक पर मुकुट रहता है, जिससे छूटकर बालों की लटें कंधों पर लहराती दिखाई देती हैं। उनके हाथ की मुद्रा वितर्क रहती है।[1] तिब्बती प्रतिमाओं में वे पद्मपाणि के समान ही दिखाई देते हैं। दोनों में अंतर यह रहता है कि मैत्रेय के मुकुट में स्तूप रहता है और पद्मपाणि के उष्णीष में अमिताभ की प्रतिमा। मैत्रेय की प्रतिमाओं की उपासना, जावा, चम्पा और मंगोलिया में अधिक रूप से होती थी। वे मध्य-एशिया में पांचवीं शताब्दी में प्रसिद्ध हो चुके थे। तिब्बत में वे बुद्ध और बोधिसत्व दोनों ही रूपों में पूजित होते हैं।[2] रत्नपाणि और विश्वपाणि की उपासना भारत में होती हुई नहीं दिखाई देती। वे नैपाल और तिब्बत में ही अधिक पूजित हुये हैं।

मंजुश्री की गणना भी बोधिसत्वों में की जाती है। वे ज्ञान के मूर्तिमान स्वरूप समझे जाते हैं।

---

१. Catalogue of the Museum of Archaeology of Sanchi, A. 84, (मथुरा शैली में बोधिसत्व मैत्रेय की प्रतिमा)।
Sculptures of Indian Museum, Part II, Plate IV (a-b) (गान्धार शैली में बोधिसत्व मैत्रेय की प्रतिमायें)।

२. The Gods of Nothern Buddhism—Alice Getty, Pages 22-23.

समन्वय के स्रोत

भारत की संस्कृति समन्वय-वती गंगा है। इस देश में ज्यों-ज्यों नई जातियाँ आती गईं; उनकी संस्कृतियों का संगम होता गया त्यों-त्यों कला के पद्म में भी एक-एक नया पत्ता जुड़ता चला गया। इस सहस्रदल पद्म का कौन सा दल कहाँ से आकर जुड़ गया, यह बताने की क्षमता आज के इतिहासकार में नहीं है। इतिहास के अंधकार मय युगों पर जब तक प्रकाश की कोई रेखा नहीं पड़ती, खुदाइयों द्वारा कोई नये तथ्य सामने नहीं आते तब तक इस सम्बन्ध में पूर्णरूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

बौद्ध-युग की कला ने अपनी परम्परा, आर्य और द्रविड़ दोनों ही जातियों से ग्रहण की।

भारतीय कला का स्वरूप भी आर्यों और द्रविड़ों की कला और संस्कृति के समन्वय से ही बना है। यदि यह समन्वय न होता तो न तो दक्षिणापत्य में आर्यों के यज्ञों की ज्वालायें ही जलतीं और न द्रविड़ों के उपास्य शिव आर्यों के महादेव ही बन जाते।

प्राच्य-विद्याओं के महान ज्योतिर्धर डा० आनन्द के. कुमारस्वामी ने लिखा है—

" Indian art and culture, in any case, are a joint creation of the Dravidian and Aryan genius a welding together of symbolic and representative, abstract and explicit language and throught. Already at Bharhut and Sanchi, the Aryan symbol is yielding to its environment, and passing into decoration, Kushan art, with the fect of imagery and its roots in 'bhakti' is essentially Dravidian. Already, however, the India-Shanti figure at Bodhgaya shows Aryan affecting Dravidian modes of expression, anticipating the essential qualities of all later 'Sattivk' images."

(Hostory of Indian and Indonesian Art.)

मोहन्जोदारो और हड़प्पा की खुदाई से ज्ञात हुआ है कि ईसा से लगभग तीन हज़ार वर्ष पूर्व सिन्धु नदी के कांठे में एक उन्नत सभ्यता फैली हुई थी। हम इसे सिन्धु-संस्कृति कहते हैं। खुदाइयों से पता चलता है कि इसी युग के नगरों की श्रृंखला बलोचिस्तान से लेकर गंगा, यमुना और नर्मदा के तटों तक फैली हुई थी। यह लोग आर्य नहीं थे। सम्भव है कि यह उन लोगों की सभ्यता हो, जिन्हें ऋग्वेद में दस्यु कहा गया है। यहाँ के अवशेष-चिन्हों से ज्ञात हुआ है कि यह लोग कृषि करते थे। पुराने मटकों में गेहूँ के दाने पड़े हुये मिले हैं। वे वस्त्र बुनना जानते थे, इसके भी पर्याप्त प्रमाण प्राप्त होते हैं। लोहे का आविष्कार सम्भवतः उस युग तक नहीं हुआ था किन्तु तांबा प्रचलित था। चौड़ी समानान्तर सड़कें, विशाल स्नानागार, जल-निर्गम की प्रणाली-यहाँ के निवासियों की उन्नत सभ्यता की परिचायक हैं किन्तु आश्चर्य यह है कि वहाँ के ध्वंसावशेषों में ऐसे स्थल नहीं मिले जिन्हें उपासना-गृह कहा जा सके। प्राचीन जातियों की संस्कृतियों में धर्म का अपना एक विशेष स्थान रहा है किन्तु मोहन्जोदारो या हड़प्पा की खुदाई से इस ओर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

पकी हुई मिट्टी के रंगीन बर्तन, मृत्तिका की मूर्तियाँ, और हाथीदांत के ठीकरे, जिन पर हाथी, गैंडे, बैल आदि की आकृतियाँ दिखाई देती हैं, यहाँ से प्राप्त हुये अवशेष-चिन्ह हैं। इसी प्रकार का ठीकरा लघु एशिया में किश नामक अत्यंत प्राचीन नगर की खुदाई में मिला है, जिससे यह आभास मिलता है कि दोनों जातियाँ समकालीन रही हैं और सम्भव है कि उनमें पारस्परिक सम्बन्ध भी रहे हों। कुछ तांबे की मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। इनमें एक नर्तकी, गले में हंसली और बांये हाथ में कंधे से कलाइयों तक चूड़ियाँ पहने, कमर पर हाथ रखे खड़ी है। एक मूर्तिखंड, एक दाढ़ी वाले व्यक्ति का है। इसके नीचे का भाग टूट गया है। इसके नेत्र अर्ध-उन्मीलित हैं और वह किसी चिंतन में डूबा हुआ दिखाई देता है। पद्मासन लगाकर बैठे हुये पुरुष की एक मूर्ति भी मिली है, जिसे कला-समीक्षकों ने ध्यानस्थ योगी की प्रतिमा माना है और उसे बुद्ध की प्रतिमाओं का पूर्व-रूप कहा है।[1] कुछ विद्वान इसे शिव की प्रतिमा मानते हैं और उसी के आधार पर यह सिद्ध करने की चेष्टा भी की जाती है कि सिन्धु-घाटी के निवासी शैव थे। इस मनुष्य के सिर पर जो टोपी लगी है, उसमें से दो सींग बाहर निकले हुये दिखाई देते हैं। इसके तीन मुख हैं। यह ध्यानस्थ योगी की भांति पद्मासन लगाये बैठा है। हाथी, भैंसे और हिरन आदि उसके आसन के इधर उधर

१. भारतीय मूर्तिकला,—राय कृष्ण दास, पृष्ठ ९,

दिखाई देते हैं। इसी के आधार पर यह कहा जाता है कि यह महायोगी शिव की, जो पशुपति हैं, ध्यानस्थ प्रतिमा है। एक अन्य प्रतिमा में भी त्रिमुख दिखाई देते हैं किन्तु उसके सिर के सींगों में से पत्तियोंदार डालियाँ फूट रही हैं। निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि सिन्धु घाटी के निवासी शैव थे और यह महायोगी शिव की ही प्रतिमा है। शिव की कल्पना ऋग्वेद में, जो इस युग के बाद का कहा जाता है (यद्यपि यह स्वयं एक विवादास्पद प्रश्न है) प्राप्त नहीं होती। उसमें एक देवता रुद्र है किन्तु ऋग्वेद की ऋचाओं से उसका जो व्यक्तित्व सामने खड़ा होता है, वह योगी शिव की कल्पना से बिलकुल भिन्न हैं। जब द्रविड़ों और आर्यों का समन्वय हुआ तब शिव का वह स्वरूप बना जो पुराणों में दिखाई देता है। यहाँ के मिट्टी के ठीकरों पर एक चित्र-लिपि में कुछ लिखा हुआ है। जिस दिन वह पढ़ ली जा सकेगी, उस दिन सम्भव है कि इतिहासकार किसी निष्कर्ष पर पहुँच सकें। यह तो निश्चित ही है कि इस जाति का आर्यों से कोई सम्बन्ध नहीं था।

सिन्धु-संस्कृति के पश्चात् एक ऐसा अंधकारमय युग आता है जिसे भेद कर देख सकने में इतिहासकारों की दृष्टि समर्थ नहीं है। फिर वैदिक युग का आलोक फूटता है। आर्य देवताओं के उपासक थे। इन देवताओं में से कुछ प्रकृति के विधेयक बल थे। उस युग के मानव को प्रकृति के तत्वों में सृष्टि का संचालन करने वाली शक्ति दिखाई दी और उसने उसे ही 'देवता' कहना प्रारम्भ कर दिया। उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि वही उसके जीवन की रक्षा और पालन करते हैं इसीलिए उसके कंठ से सूर्य, जल, आकाश, पृथ्वी और अग्नि आदि के प्रशस्ति-स्वर फूट पड़े। ऋग्वेद में हमें कुछ ऐसे देवता भी मिलते हैं जिसका प्रकृति से कोई सम्बन्ध मालूम नहीं होता। कुछ मनो-भावनाओं को ही देवता का स्वरूप दे दिया गया है।

ऋग्वैदिक युग के मानव ने इन देवताओं में मनुष्य के समस्त गुणों तथा रूपों को आरोपित कर दिया। उनका व्यक्तित्व, उनके वाहन, उनका अनार्यों के साथ युद्ध; सब के बारे में मान्यतायें बन गईं। फिर उनके चारों ओर कथाओं के जाल बुन दिये गये।

ऋषि के मनश्चक्षुओं के आगे उसके यह आराध्य मूर्तिमान हो गये। उसने विश्व की गति-विधि को चलाने वाले वरुण को देखा जो मानव-समाज की नैतिकता की बाग भी अपने हाथों में रखते हैं। उसने अत्यंत गरिमा पूर्ण शब्दों में उन्हें सूक्तांजलि अर्पित की—"महाकर्मा प्रज्ञावान वरुण, महा-महिम और अजर हैं। वे ज्योतिर्धर हैं और अपनी प्रभा द्वारा पृथ्वी और आकाश को

प्रकाशवान रखते हैं। आज उन्हीं वरुण को अपने मनोहारी सूक्त अर्पित करो।"[1]

उसने देखा कि वरुण अग्नि की भांति प्रकाशवान है।[2] उनके वस्त्र सोने की भांति चमकते हैं। उनके शरीर का वर्ण भी हिरण्यमय है। वरुण के स्वर्ण-रथ को उनके दूत लेकर चलते हैं।[3] उनके राज प्रासाद में अगणित स्तम्भ हैं और हजारों द्वार।[4] सूर्य वरुण के नेत्र हैं। वायु उनकी सांस है। उन्होंने सूर्य के लिए असीम पथ प्रशस्त किये हैं। नदियां उन्हीं की प्रेरणा से प्रवाहित होती हैं और सागर में निरंतर जल उड़ेलती रहती हैं। वरुण के आदेश से ही तारे प्रज्वलित होते हैं और प्रभात से पहले तिरोहित हो जाते हैं। वरुण विचरती वायु की दिशा पहचानते हैं और उड़ने वाली चिड़ियों की गति। मनुष्य की आंखों की पलकें तक उनकी गिनी हुई हैं। वरुण दूरदर्शी और सहस्र नेत्रवान हैं। वे ही वर्षा के लिए मेघों को प्रेरित करते हैं। इस प्रकार वरुण में सृष्टि के नियंता के गुणों व शक्तियों को आरोपित कर दिया गया। साथ ही वरुण को राष्ट्रों का राजा भी कहा गया।

वैदिक युग मानव-संस्कृति का उषा काल था। उस समय समाज के कल्याण के लिए नैतिकता के श्रेयस्कर नियम बनाये जा रहे थे। उन नये-नये नियमों का धर्म में समावेश हो रहा था। वरुण को समाज व व्यक्ति की उच्छृंखल वृत्तियों को संयत रखने का भार भी सौंप दिया गया। वे मनुष्यों को रस्सी की भांति, अपनी भुजाओं द्वारा संयत रखने लगे।[5] मानव का सत्य और असत्य व्यवहार भी उनसे छिपा नहीं था।[6]

विश्व के अधिष्ठात्रा वरुण प्रत्येक कार्य को इस प्रकार देखते हैं मानो वे पड़ोस में बैठकर देख रहे हों।[7] जब दो व्यक्ति विचार करने बैठते हैं अथवा कोई योजना बनाते हैं तब वरुण उनके बीच में तीसरे व्यक्ति के रूप में उपस्थित रहते हैं।[8]

वरुण के हाथों में पाश है। वह पापात्माओं को जकड़ लेता है और सुकृतियों को बिना स्पर्श किये निकल जाता है। ऋषि उनसे प्रार्थना करते हैं कि वे पाप के प्रलोभन से सदैव उनकी रक्षा करते रहें। क्षमाशील वरुण

---

१. ऋग्वेद—१, २, ८.
२. वही ७, ८८, २.
३. वही १, २५, ३.
४. वही २, ४१, ५.
५. वही ६, ६१, ७.
६. वही ७, ४९, ३.
७. अथर्व वेद ४, १६, १.
८. अथर्व वेद ४, १६, २.

दया भी करते हैं। यदि पाप असावधानी में हो गया हो, तो वे कृपालु होकर अपराधी को मुक्त कर देते हैं। ऋषि कहता है कि हम मनुष्य हैं, यदि हम से असावधानी में पाप हुआ हो तो हमें क्षमा करो।[1]

युद्ध में आर्यों के शत्रु, दासों और दस्युओं के वक्षस्थल को प्रकम्पित करने-वाले महाकर्मा इन्द्र भी उसके सामने साकार हो उठे हैं।

पाश्चात्य दर्शन धर्म के विशाल तरु का बीज मूल-मानव की भय की भावना में देखता है। भारत ने अपने आराध्य को भय के प्रतीक-रूप में कभी स्वीकार नहीं किया। वैदिक देवता भी लोक-जीवन में घुले-मिले से दिखाई देते हैं। ऋषि सोम का पात्र लिये हुए उन्हें उसी प्रकार बुलाता है, जैसे पुत्र, पिता को। वह चाहता है कि उसका यह स्नेह-बंधन कभी शिथिल न होने पावे।

वज्रधर इन्द्र अपने हाथ में सोने की कशा[2] लिये हिरण्यमय रथ[3] में बैठ कर यज्ञ-स्थली की ओर आ रहे हैं। ऋभुगणों द्वारा निर्मित इन्द्र का यह रथ मन से भी अधिक वेगवान हैं,[4] "हे इन्द्र! अंतरिक्ष में विचरण करनेवाले रथ पर बैठकर दूर देश से हमारे इस यज्ञ में आओ।"

यज्ञ-कर्ता इन्द्र का आव्हान करता है। वह चाहता है कि बहुप्रज्ञ इन्द्र सबसे पहले उसी के यज्ञ में आवें। वह कहता है—'हे नृपति इन्द्र! तुम्हारा रथ अत्यंत सुन्दर है। तुम्हारे रथ के दोनों अश्व, चलने में बड़े दक्ष हैं। तुम्हारे हाथों में वज्र है। हे इन्द्र! इसी रूप में सरल पथ से नीचे आ जाओ। तुम्हारे पान करने के लिए सोम रस प्रस्तुत है। इसे पीकर तुम्हारा बल और भी बढ़ जायगा।[5]

इन्द्र वैदिक ऋषि की प्रार्थना स्वीकार कर उसे श्रेष्ठ वर देने के लिए अपने अश्वों को यज्ञ की ओर प्रेरित करते हैं। इन्द्र के हरि नामक दोनों अश्व बड़े सुन्दर और सुलक्षण हैं। उनके केश मयूर के पंखों के समान हैं।[6]

इन्द्र को आते हुए देखकर स्तोता का मन-कमल खिल उठता है। वह भावना के उद्वेग में अपने साथियों को पुकार कर कहता है, "वे देखो इन्द्र रथ पर आ रहे हैं।"

ऋग्वेद के ऋचाकार के आगे इन्द्र का दैहिक रूप अन्य देवताओं की अपेक्षा अधिक स्पष्ट हो गया है। इन्द्र सर्वांग सुन्दर हैं। उनके शरीर का वर्ण हिरण्य

---

१. ऋग्वेद ७, ८९, ५.
२. ऋग्वेद ८, ३३, ११.
३. ऋग्वेद ६, २९, २.
४. ऋग्वेद १०, ११२, २.
५. ऋग्वेद ८, ४४, २.
६. ऋग्वेद, ३, ४५, १.

जैसा है।[1] उनके शरीर में बल है, भुजाओं में शक्ति है। हाथ में वज्र है और मस्तिष्क में तीक्ष्ण बुद्धि है।[2] उनके स्कंध पुष्ट हैं। उदर स्थूल है। वे इतना अधिक सोम पान करते हैं कि उनके उदर की तुलना सरोवर से की जाती है। महान पुरुषों की भुजायें आजानु होती हैं। इन्द्र की भुजायें भी लम्बी हैं। जब इन्द्र क्रोधित होकर शत्रु पर आक्रमण करते हैं तब उनकी श्मश्रु हिलने लगती है। युद्ध के समय उनके सिर पर शिरस्त्राण शोभित रहता है।[3] इन्द्र चिर प्राचीन हैं और चिर-नवीन। उनके लिये कहा गया है कि उनकी आयु कोई नहीं जान सकता।

इन्द्र के एक हाथ में वज्र है, इसीलिए उन्हें वज्रबाहु,[4] वज्र-आयुध, वज्र-दक्षिण, वज्र धर,[5] वज्र-भृत्, वज्र-मुष्टि, वज्र हस्त,[6] वज्री, वज्रिन् और वज्र पाणि आदि कहते हैं। इनमें से अनेक शब्दों का प्रयोग ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में हुआ है।

वरुण और इन्द्र के समान अग्नि, सूर्य, सविता, और विष्णु आदि देवताओं की दिव्य-देह और स्वभाव की ही नहीं, उनके वाहन और पुत्र-पुत्रियों तक की कल्पनायें खड़ी हो गईं।....फिर एक शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। वैदिक ऋषि ने ऋग्वेद के प्रथम मंडल में ही कह दिया था—

> इन्द्र मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः सुपर्णो गरुत्मान्।
> एक सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
>
> (ऋग्वेद १, १६४, ४६.)

उसे समस्त देवगण में एक ही परम सत्तात्मक तत्व की झलक, दिखाई दी। उस परम-आत्मा को ब्रह्म की संज्ञा दी गई। सब देवगण अपने स्थान से कुछ नीचे खिसके और इस सत्ता को ही प्राधान्य दिया गया। उपनिषद् काल तक यह स्थिति और भी पुष्ट हो गई।

प्रश्न उठता है कि क्या वैदिक युग में प्रतिमाओं का चलन था? पुरातत्व इसकी कोई साक्षी नहीं देता किन्तु ऋग्वेद से कुछ सूक्तों से ही ऐसी ध्वनि निकलती है कि उस समय मूर्तियाँ बनने लगी थीं। ऋषि कहता है कि, 'हे

---

१. ऋग्वेद १, ७, २.
२. वही २, १६, २–३
३. वही ८, ९२, ४.
४. ऋग्वेद ७, १८, १२; ७, २१, ६.
५. वही ८, ३३, ४.
६. वही, ७, २१, ४; ७, ३२, ३.

वज्रधर इन्द्र! मैं तुम्हें किसी मूल्य में भी नहीं बेच सकता। असीम धन के लिए भी मैं तुम्हारा विक्रय नहीं कर सकता।' [1]

स्पष्ट है कि उसका आशय इन्द्र की प्रतिमा से है, शिल्पी जिसे महा मूल्य में भी नहीं बेचना चाहता।

बौद्ध-वाङ्मय में इन समस्त देवगण का रूप तनिक परिवर्तित हो गया। बौद्ध-युगीन कला में भी आर्य और द्रविड़ दोनों जातियों के आराध्य आये। वैदिक देवगण भी और यक्ष, नाग आदि भी जिनकी उस युग में उपासना प्रचलित थी। वे मूलत: अनार्यों के उपास्य थे। एक बात अवश्य हुई कि जहाँ पहले उनकी पूजा होती थी, वहाँ वे स्वयं भगवान बुद्ध के उपासक हो गए।

वरुण के लिए कहा गया कि वे देवताओं के राजा हैं और शक्र प्रजापति और ईशान के मित्र हैं। तेविज्ज सुत्त में उनका उल्लेख इन्द्र, सोम, ईशान, प्रजापति और यम के साथ भी हुआ है। 'वे और शक्र एक ही वय के हैं और उनकी कांति भी समान है। देवताओं की सभा में वे साथ ही साथ बैठते हैं। उनका आसन तृतीय रहता है।'

ईसा भी छठी, सातवीं शताब्दी से पूर्व यक्षों की उपासना अधिक प्रचलित थी, इसलिए इन देव-गण को भी 'यक्ष' कह दिया गया। दीर्घ निकाय में वरुण को 'यक्ष' कहा गया है।[2]

इन्द्र का उल्लेख भी वैदिक देवताओं के साथ हुआ है। उसकी सुधर्मा सभा का वर्णन भी आता है किन्तु इन्द्र निकायों के समय तक शक्तिशाली देवता के पद पर टिक न सके। उसकी कल्पना शक्र में विलीन हो गई। शक्र और इन्द्र के व्यक्तिओं में साम्य है किन्तु वे कुछ बातों में अलग-अलग भी हैं।

प्रजापति या महाब्रह्मा बौद्ध वाङ्मय और शिल्प दोनों में दिखाई देते हैं। इनकी गणना देवताओं के राजाओं में की गई है। साथ ही इन्हें महा यक्ष भी कहा गया है। यह देवसभा में इन्द्र के निकट दूसरे आसन पर बैठते थे।

ईशान, रुद्र का एक नाम है। देव और असुरों के युद्धों में उनका उल्लेख आता है। इन्द्र देवगणों से कहते हैं कि "जब तुम युद्ध में निष्प्रभ होने लगो तो वरुण की ध्वजा की ओर देखना। तुम्हारा भय समाप्त हो जावेगा।"

---

१. ऋग्वेद ४, २४, १०
२. दीघ निकाय, १, २४४.
३. दीघ निकाय, ३, २०४.

प्राचीन बौद्ध शिल्प में भगवान बुद्ध के जीवन-प्रसंगों में उनके साथ इन्द्र और प्रजापतिब्रह्मा दिखाई देते हैं।

हिन्दू, बौद्ध और जैन सभी के साहित्य में, विशेषतया पौराणिक साहित्य में एक ऐसी जाति मिलती है जिसे न मनुष्य ही समझा जा सकता है और न उसकी गणना देव-योनियों में ही की जा सकती है। यह यक्ष जाति है। ऋग्वेद में यक्षों का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। इससे इतना तो सिद्ध हो जाता है कि यह मूलतः आर्य-कल्पना नहीं है फिर भी महाभारत, जातकों, निकायों और कल्प-सूत्र आदि में इनका वर्णन मिलता है।

भारतीय मूर्तिकला की परम्परा यक्ष मूर्तियों से ही प्रारम्भ होती है। उसके पश्चात् भारहुत, सांची और अन्य शिल्प-शैलियों में, यक्षों के अनेक अर्ध-चित्र अथवा शिलापट्ट मिलते हैं। यक्षों का रूप, शरीर का आकार और वस्त्र आदि सामान्य मानव जैसे ही किन्तु कुछ सम्भ्रांत वर्ग के पुरुष जैसे होते थे इसीलिए इन मूर्तियों में इतनी मानवीयता दिखाई देने लगी है कि कुछ कला-समीक्षकों को इन्हें यक्ष-मूर्तियाँ स्वीकार करने में भी संकोच है। भारहुत के तोरणों के खम्भों पर उभरी हुई यक्षों की आदम कद मूर्तियों ने इस शंका के लिए कोई स्थान नहीं रक्खा है। उनके नीचे 'कुपरो यखो' (कुबेरयक्ष), विरुदक यखो, सुदावसो यखो आदि नाम लिखे हैं, जो अनेक ग्रंथों में पाये जाते हैं।

जब भगवान बुद्ध महाभिनिष्क्रमण के पश्चात् राजगृह गये तो वहाँ के नागरिक उन्हें देखकर आश्चर्य में पड़ गये। किसी ने अपने मन में सोचा कि यह शक्र हैं। किसी को ब्रह्मा का भ्रम हुआ और किसी ने समझा कि यह वैश्रवण अर्थात् कुबेर हैं।

कुबेर यक्षों के राजा माने गये हैं। उनकी राजधानी अलका है जो हिमालय पर स्थित बतलाई गई है। कुबेराद्रि और कुबेराचल पर्वतों का उल्लेख भी मिलता है। ऐसी स्थिति में यह नहीं जा सकता कि यक्षों की कल्पना का उदय कहाँ से हुआ? क्या उनकी एक जाति विशेष थी? या वे हिन्दुओं के ग्रन्थों और मान्यताओं से बौद्ध धर्म के ग्रंथों में आये। ललित विस्तर में यक्षों के अठारह प्रधानों की चर्चा आती है, जो सब कुबेर के वश-वर्ती हैं।

कुबेर हिन्दुओं का भी एक देवता माना जाता है, जो धन का स्वामी है। महाभारत आदि में यक्षों की चर्चायें भी मिलती हैं। रामायण में कुबेर को पुलस्त्य ऋषि का पुत्र कहा गया है। "ब्रह्मा वैश्रवण पर अत्यंत प्रसन्न थे। उन्होंने उन्हें अमरत्व प्रदान किया, धन का स्वामी और लोकपाल बनाया। शिव जी से उनकी मित्रता कराई और नलकूबर नामक पुत्र दिया। इतना ही नहीं ब्रह्मा ने कुबेर को यक्षों का स्वामी भी बना दिया और 'राजराज' की

उपाधि प्रदान की।' यह उल्लेख महाभारत के वन पर्व में प्राप्त होता है। इसी पर्व में यक्ष और युधिष्ठिर का नीति-विषयक संवाद भी मिलता है—

जिस दिनों पाण्डव वनवास कर रहे थे, नकुल और सहदेव वन के एक सरोवर में पानी पीने गये। जिस समय वे सरोवर में प्रवेश करने लगे उसी समय किसी का मेघ-गम्भीर स्वर सुन पड़ा, "मेरे प्रश्न का उत्तर दिये बिना पानी पीने की चेष्टा न करना। इस सरोवर का जल पीने के अधिकारी केवल विवेक-शील प्राणी ही हैं।' नकुल और सहदेव ने उस स्वर की उपेक्षा की किन्तु जैसे ही उन्होंने पानी पिया, तुरंत ही मूर्च्छित होकर गिर पड़े। उन्हें खोजते हुये भीम और अर्जुन गये किन्तु उनकी भी यही दशा हुई। अंत में स्वयं धर्मराज युधिष्ठिर वहाँ गये। युधिष्ठिर के सन्मुख यक्ष उपस्थित हुआ। धर्मराज ने उससे उसका परिचय पूछा कि, 'आप रुद्र वसु अथवा मरुत में से कौन हैं?'— यक्ष ने अपना परिचय दिया और फिर प्रश्नों की श्रृंखला चली। यक्ष प्रज्ञावान था और युधिष्ठिर स्वयं मूर्तिमान धर्म थे।

'सूर्य का कौन उदय करता है? उसके चारो ओर कौन चलता है? ब्राह्मणों में देवत्व क्या है? मनुष्यता क्या है? भूमि से भी भारी क्या है? आकाश से भी ऊँचा क्या है?' यक्ष प्रश्न करता जाता था, युधिष्ठिर उत्तर देते जाते थे। उसे संतोष प्राप्त हो रहा था। यक्ष ने अंत में प्रश्न किये—'आश्चर्य क्या है? पथ कौन सा है?'

युधिष्ठिर बोले, 'नित्य प्राणी जन्म लेते और मृत्यु को प्राप्त होते हैं, फिर भी मनुष्य अपनी मृत्यु के सम्बन्ध में कभी नहीं सोचता और सर्वदा जीने की इच्छा रखता है। इससे बड़ा आश्चर्य और कौन सा हो सकता है? तर्क की कहीं स्थिति नहीं है। श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं, एक ही ऋषि नहीं, जिसका वचन प्रमाण माना जाय और धर्म का तत्व गुहा में निहित है अर्थात् अत्यंत गूढ़ है अतः जिससे महा पुरुष जाते रहे हैं, वही मार्ग है।"

युधिष्ठिर का यक्ष के साथ यह संवाद नीति की मंजूषा का एक अत्यंत मूल्यवान रत्न है।

इन सब कथाओं से इस बात की पुष्टि होती है कि यक्ष, पिशाच, प्रेत अथवा अन्य हीन योनियों की भांति न तो भयंकर होते थे और न उनका रूप ही मनुष्यों से भिन्न प्रकार का होता था।

यक्षों की कथायें जातकों में बहुत अधिक मिलती हैं। इनमें उन्हें अत्यंत भयंकर प्राणी माना गया है। उनके नेत्र सदैव रक्तिम रहते थे। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक दुष्ट होती थीं। यक्ष मनुष्यों का रक्त पान करते और उनका मांस खाते

थे। यह कथायें उन सार्थवाहों में अधिक प्रचलित थीं जो अपने जल-पोत लेकर व्यापार करने जाया करते थे।

यक्षों के सम्बन्ध में धीरे-धीरे यह विश्वास बदलता गया। उन को प्रतिष्ठा मिली और यह मान्यता बनी कि यह देवता ही हैं, जो अपने पुण्य-क्षय के कारण स्थानच्युत हो गये हैं। इन यक्षों में भले और बुरे दोनों प्रकार के प्राणी समझे गये। जो भले थे, वे वन में तप करने वालों को कोई कष्ट न देते थे और दुष्ट प्रकृति यक्षों से उनकी रक्षा करते थे। वज्रपाणि यक्ष तो भगवान बुद्ध का पार्श्ववर्ती अनुचर था, जो वज्र लिये हुये, सदैव उनकी रक्षा किया करता था। अनेक यक्ष भगवान बुद्ध के निकट इसी लिए आते थे कि वे उनके अमृत-वचनों को सुनकर अपने को श्रेष्ठ संस्कारों से समन्वित कर सकें और अपनी पतित अवस्था से ऊँचे उठ सकें। जब भगवान प्रवचन देने लगते थे उस समय वैश्रवण स्वयं वहाँ आया करता था। वैश्रवण बहुत न्यायप्रिय था और अनेक देवता उससे अपने विवादों का निबटारा कराने आते थे। दीघ निकाय में यक्षों के राज्य का भी वर्णन है, जो उत्तर कुरु कहलाता था। इस राज्य में बहुत से नगर थे। नगरों में विशाल सभा-गृह और सरोवर थे।

इन सब तथ्यों से आभास होता है कि सम्भव है, यह एक जाति ही हो। यक्षों को सामान्य जन-समुदाय में देवताओं जैसी प्रतिष्ठा जैसी मिली और आज भी वीर ब्रह्म के नाम से उनके चबूतरे मिलते हैं। स्त्रियाँ इनकी पूजा करने जाती हैं और मनौती मनाती हैं। कुछ स्थानों पर उनकी प्रतिमायें भी रक्खी हैं। मथुरा में एक यक्षिणी की प्रतिमा मनसा देवी के नाम से पूजी जाती रही है। उत्तर प्रदेश में अब भी जखैया की पूजा होती है। यह आगरा के इधर-उधर बृज में अधिक प्रचलित है। जखैया भी यक्ष का बिगड़ा हुआ नाम है।

वस्तुतः यक्ष लोक-जीवन की देन हैं। वैदिक युग के पश्चात् जब देवता अपने स्थान से च्युत हुये और ब्रह्म की सत्ता प्रतिष्ठित हुई तब जनता के लिए कोई सहारा न रहा। निराकार, अव्यक्त ब्रह्म उसकी पहुँच से परे की चीज था। उसकी अनुभूति तो तत्वदृष्टा ऋषि ही जगा सकते थे। सामान्य जनता को तो कोई ऐसी शक्ति चाहिए थी जिसपर वह अपने विश्वासों और मान्यताओं को आरोपित कर सके। जन-पदीय देवताओं की कल्पनायें आगे बढ़ीं और उन्होंने इस क्षेत्र को अपने अधिकार में कर लिया। यक्ष ऐसे ही थे। जहाँ एक ओर उन्हें अमानुष कहा गया वहीं उन्हें इन्द्र, वरुण आदि का गरिमा पूर्ण स्थान देते हुये भी सहज सकोच अनुभव किया गया, किन्तु ज्यों ही यक्ष उपासना के स्थल पर प्रतिष्ठित हुये त्योंही उन्हें यह सम्मान भी प्राप्त हो गया। बुद्ध को

यक्ष कहा गया और इन्द्र, वरुण, प्रजापति आदि को महायक्ष की उपाधि दे दी गई।

भारतीय कला के उदय काल में हमें नागों की भी प्रतिमायें मिलती हैं। बौद्धमत के इतिहास में यक्षों की अपेक्षा नागों का स्थान अधिक महत्वपूर्ण रहा है। नागों के सम्बन्ध में यह मान्यता रही है कि वे सरोवरों में निवास करते हैं।

बोधिज्ञान के पश्चात् भगवान बुद्ध, बोधिद्रुम के आस-पास सात सप्ताह तक विचरते रहे। छठवें सप्ताह में वे आजपाल वृक्ष से उठकर मुचलिंद-दह की ओर गये। वह बोधि-वृक्ष से दक्षिण-पूर्व की ओर था। वहाँ एक सरोवर था, जिसके किनारे मुचलिंद का वृक्ष था। उसी के नाम से वह सरोवर प्रख्यात था। उसमें एक नाग निवास करता था। उसे मुचलिंद नाग कहते थे। जब भगवान वहाँ पहुँचे तो जल की वृष्टि प्रारम्भ हो गई। बिजली कड़क रही थी। चारों ओर घनघोर अंधकार छा गया था। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि धरती और आकाश एक होकर रहेंगे। गौतम पेड़ के नीचे जा बैठे किन्तु इतनी घोर वर्षा में बेचारा वृक्ष उनकी क्या रक्षा कर सकता था? तब मुचलिंद सरोवर से नाग निकला और उन पर छाया करके बैठ गया। वह एक सप्ताह तक अपने सहस्र फण भगवान के ऊपर ताने रहा। ललित विस्तर में इसका विस्तृत वर्णन किया गया है।

नागों का नगर भोगावती है, वह जल में है, यह विश्वास उन दिनों प्रचलित था। राजतरंगिणी में काश्मीर को नागों का विशेष आवास बतलाया गया है।[१] वे वहाँ की झीलों में वास करते हैं। जिस प्रकार यक्षों का भूमि पर आवास है, उसी प्रकार नागों का जल पर। जातकों में नागों के जल-निवासी होने के कई उल्लेख मिलते हैं। शंखपाल जातक में एक नाग अपने साथ उस ब्राह्मण को पाताल लोक में ले जाता है, जिसने उसकी प्राण-रक्षा की थी और आदर-सत्कार करके वापस भेज देता है।[२]

सांकाश्य (वर्तमान संखसा) के निकट काली नदी बहती है। उसमें में भी एक दह था, जिसमें एक नाग निवास करता था। चीनी यात्री फाहियान ने इसका विशद् वर्णन किया है। वहाँ नाग की एक प्रतिमा भी थी, जिसे दूसरे चीनी यात्री हुअेन सांग ने देखा था। हुअेन सांग नालंदा के सम्बन्ध में भी

---

१. Raj Tarangini 1, 30

२. शंखपाल जातक—Ajanta G. yazlani, Part I, Plate No. XI.

लिखता है कि यहाँ एक सरोवर है, जिसमें नाग निवास करता है। उसी के नाम पर इसका नाम नालंदा पड़ा है।

नाग जल के स्वामी हैं, इस विश्वास के कारण ही जलाशयों के किनारे उनकी प्रतिमायें प्रतिष्ठित कर दी जातीं थीं। आइने अकबरी में अबुल फज़ल ने लिखा है कि "काश्मीर में झीलों के किनारे लगभग सात सौ नागों की मूर्तियाँ हैं। लोग उनकी पूजा करते हैं।[१]" काश्मीर में पहले प्रत्येक झील का नाम नागों के नाम पर ही था, जैसे वीर नाग, अनंत नाग आदि।[२]

"मथुरा के संग्रहालय में नागों की जो मूर्तियाँ हैं, उनमें से एक नाग मूर्ति हुविष्क के समय में सेनहस्ती और भोणुक नामक व्यक्तियों ने अपनी पुष्करिणी के निकट प्रतिष्ठित कराई थी। शिला लेखों से ज्ञात हुआ है कि नाग दधिकर्ण का मन्दिर, मथुरा में हुविष्क विहार के समीप था। नाग दधिकर्ण की एक प्राचीन मूर्ति भी यमुना में से मिल चुकी है।[३]"

सांची के शिल्प में हम नागों को एक सरोवर में देखते हैं। वे मनुष्य की आकृति के हैं। उनके सिर पर उनका प्रतीक नाग है।[४]

भारहुत के नागों की शान्त, सौम्य मूर्तियाँ व अजंता के नाग-दम्पति की प्रतिमायें तो भारतीय कला की अत्यंत उत्कृष्ट कृतियाँ समझी जाती हैं। इनकी चर्चा हम उक्त कला-तीर्थों के साथ करेंगे।

नागों को हिन्दू पुराणों में भी स्थान मिला है। पृथ्वी शेषनाग के फन पर स्थित बतलाई गई है, जो विश्व में व्याप्त विष्णु की शेष शक्ति हैं। बलराम शेष के अवतार बतलाये गये हैं। जिस समय उनकी मृत्यु होती है, उस समय एक विशाल सर्प उनके मुख से निकल कर यमुना में चला जाता है। आगे चलकर हम देखते हैं कि विष्णु की प्रतिमाओं में उनके ऊपर नाग का फन तना रहता है। वे शेष नाग की कुण्डली पर आसीन भी रहते हैं। इसी प्रकार जैन-प्रतिमाओं में भी पार्श्वनाथ व अन्य तीर्थंकरों के सिर पर नाग का फन रहता है।

भारतीय कला में नाग अपने वास्तविक, सर्प के रूप में भी मिलते हैं और मनुष्यों के रूप में भी। उस समय उनके सिर पर नौ, सात या पाँच फन

---

१. आइन-ये-अकबरी Translated by Gladwin, II, 126.

२. The Stapa of Bharhut by A. Cunningham. Page 23

३. मथुरा की कला, संग्रहालय और पुरातत्व-(गंगा-पुरातत्व अंक १९३३) डा० वासुदेव शरण अग्रवाल—पृष्ठ १६६.

४. The Monuments of Sanchi, Plate 11.

तने रहते है और नागिनियों के सिर पर केवल एक फन मिलता है। शंखपाल व अन्य जातकों के अनुसार नागों में अपना स्वरूप बदल लेने की सामर्थ्य रहती है।

नागों की इन कल्पनाओं का आर्यों के प्राचीन वाङ्मय से निश्चित रूप से कोई सम्बन्ध नहीं है। ऋग्वेद में वृत्र का नाग के रूप में उल्लेख आता है। इन्द्र वृत्र का संहार करके जल-धाराओं को मुक्त करते हैं। यह वर्षा के सम्बन्ध में एक रूपक है; जिसमें वृत्र का अभिप्राय मेघ से लिया गया है।

नाग-पूजा की कल्पना मूलतः अनार्य है। द्रविड़ सर्पों की पूजा करते थे। जब बौद्ध-धर्म की गरिमा बढ़ी तो द्रविड़ों के प्रतीक नाग ने भी भगवान बुद्ध के आगे अपना मणियुक्त मस्तक झुका दिया, साथ ही उनके उपासकों ने भी।

भारतीय कला में हमें नागों के दो रूप मिलते हैं, उनमें से एक तो वास्तविक नाग अर्थात् सर्प हैं और दूसरी मनुष्य जाति है जो नागों की उपासना करती थी। शिल्प में जब उन्हें आंका गया तो उनके सिर पर उनका प्रतीक भी अंकित कर दिया गया। एक ही दृश्य में सामान्य मानव और नाग जाति के अथवा यों कहिए नाग उपासक बातचीत करते हुये दिखाई देते हैं।

अमरावती के शिल्प में, जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे, दो नाग राजा (प्रत्येक के ऊपर सात फन हैं) वेदिका की उपासना कर रहे हैं। उनके पीछे उनकी दो नागिनियाँ हैं, जिनके सिर पर एक-एक सर्प फन है। शेष दास-दासियों-के जो नाग-जाति की नहीं हैं, सिर पर फन नहीं हैं।

इसी के दूसरे खंड में एक नाग राजा जिसके ऊपर नौ फन हैं, एक चौकी पर बैठा हुआ, अपनी नागनियों से बात-चीत कर रहा है। उसके दोनों ओर दो नागिनियाँ, एक-एक हाथ से वृक्ष की डाल पकड़े शाल-भंजिका मुद्रा में खड़ी हैं। एक-एक दासी उन्हें पेय पदार्थ दे रही है।[१]

इतिहासकार फर्गुसन ने लिखा है—

"This distinction between people with snakes and those without is most curious and perplexing. After the most attentive study I have been unable to detect any characteristic either of feature or costume by which the races can be distingwised."

उनके इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में आर्य

१. Tree and Serpent Worship, Plate LXXI, figure II

और द्रविड़, घुल-मिल गये थे, उनके वस्त्र भी एक जैसे थे। इसलिए वे पहचाने भी नहीं जा सकते अथवा आर्यों की जातियों ने समन्वय के फल-स्वरूप नाग की उपासना प्रारम्भ कर दी थी और उनका प्रतीक चिन्ह इसीलिए उनके सिर आंक दिया गया है।

अमरावती में स्तूप पर स्तूपों की जो आकृतियाँ आंकीं गई हैं, उनपर सर्प बैठे दिखाई देते हैं। फिर उसके बाद ज्यों-ज्यों समय बढ़ता जाता है. सर्प के स्थान पर भगवान बुद्ध प्रतिष्ठापित दिखाई देने लगते हैं।[1]

एक चित्र-फलक में दो आकृतियाँ हैं। इनमें दो स्तूप दिखाई देते हैं। इन दोनों स्तूपों पर सर्प हैं, जो कुंडली मार कर बैठे हुये हैं।[2]

परम्परा कुछ और आगे बढ़ती हुई दिखाई देती है। स्तूप पर बुद्ध बैठे हैं और सबसे ऊँचे भाग, चोटी पर एक सर्प कुंडली मारे हुये बैठा है।[3]

फिर ऐसी आकृतियाँ मिलती जाती हैं, जिनमें बुद्ध खड़े हुये हैं और उनके दोनों ओर नाग अपने फन उठाये हैं। कहीं भगवान बुद्ध नाग की कुंडली पर बैठे हुये दिखाई देते हैं।

एक शिला फलक पर भगवान बुद्ध खड़े हैं और एक नाग उनकी उपासना कर रहा है।[4] वह बाईं ओर है। दाहिनी ओर एक पुरुष और स्त्री है। इसमें नाग की मुद्रा वही है, जो भेलसा का उदय गिरि गुफा में गुप्त-कालीन वाराह-मूर्ति का स्तवन करते हुये शेष नाग की अथवा राजिम की त्रिविक्रम की स्तुति करते हुये शेष नाग की है।

एक अन्य शिला फलक पर एक सर्प कुंडली मारे हुये बैठा है। उस पर भगवान बुद्ध बैठे हैं। उनका एक हाथ अभय मुद्रा में उठा हुआ है। भगवान के पीछे गोलाकार प्रभा-मंडल है और दुहरे नागफन हैं। इस दृश्य को देखकर विष्णु की वे प्रतिमामें स्मरण हो उठती हैं, जिनमें वे शेष नाग पर बैठे हुये दिखाई देते हैं।

बौद्ध, ब्राह्मण और जैन शिल्प का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ा है और इसके तुलनात्मक अध्ययन की बहुत अधिक आवश्यकता है।

सांची के तोरण पर आंका हुआ एक अर्ध चित्र बहुत ही अनूठा है।

---

१. Tree and Serpent worship, plate LXXVI
२. वही Plate XCI
३. वही Plate LXXXI
४. वही Plate LXXII
५. वही LXPVI

सांची के इस अर्ध-चित्र में एक उपासना-गृह है और मंदिर में वेदी। वेदी के आगे एक अग्नि जल रही है। वेदी के पीछे सर्प अपने पांच फन फैलाये बैठा है। उपासना-गृह के दोनों ओर कुछ व्यक्ति हाथ जोड़े हुये खड़े हैं।[1] फर्गुसन ने इन्हें दस्यु माना है।[2] वे सर्प और अग्नि को इन्द्र और अग्नि मानते हैं। नीचे एक कोने में पर्णकुटी है, जिसके सामने एक वृद्ध बैठा है। कुटी के आगे एक अन्य व्यक्ति खड़ा है। यह हंस और कमलों से परिपूरित सरोवर के आगे का दृश्य है। तट पर दो बालक और एक बालिका खड़े हैं। एक बालक जलाशय में से पानी भर रहा है। कुटी के आगे भी अग्नि से भरी अंगीठी के आकार की कोई चीज रखी है। उसके पास ही घी डालने के चमचे और लकड़ियाँ हैं। सामने हाथी, भैंसें व हिरन आदि दिखाई देते हैं। उपासना गृह के पीछे भी वन का दृश्य दिखाई देता है। फर्गुसन साहब इस दृश्य को दस्युओं द्वारा नाग की उपासना मानते हैं किन्तु मैं इन व्यक्तियों को दस्यु नहीं मानता। दस्यु अकर्मन् थे। यज्ञ-याग पर उनकी श्रद्धा नहीं थी। फिर उनकी कुटियों के द्वार पर यज्ञ-वेदिका का क्या अर्थ हो सकता है? वस्तुतः यह उस आसन की उपासना है, जिस पर भगवान बुद्ध के आसीन होने की कल्पना की जाती है। उसी के ऊपर नाग फन ताने खड़ा है और उसी के सामने यज्ञ-वेदी है। शिल्पी का अभिप्राय स्पष्ट है। नाग द्रविड़ों का प्रतीक है और यज्ञ-वेदी आर्यों की। दोनों ने ही समान रूप से भगवान को प्रतिष्ठा दी है।

इसी के नीचे के अर्धचित्र में बन के ऋषि लकड़ियाँ फाड़ते और घी डाल कर यज्ञ की ज्वाला को प्रज्वलित करते दिखाई देते हैं।

---

१. The Monuments of Sanchi—Plate 52.

२. Tree and Sarpent worship, Page 114.

धर्म-चक्र

भारत के इतिहास की शृंखला की लुप्त कड़ियाँ छठी शताब्दी ईसा पूर्व के पूर्वार्ध से मिलने लगती हैं। भगवान बुद्ध के समय में काशी, कोशल, अंग, मगध, वज्जी, मल्ल, कुरु, पांचाल, अवंती, गान्धार और कम्बोज आदि सोलह महा जन पद थे। इनमें से कहीं गणतंत्र था और कहीं राजा लोग राज्य करते थे।

मगध के राजा बिम्बसार थे और उनकी राजधानी राजगृह थी। वे भगवान बुद्ध के समकालीन थे। गौतम बुद्ध अपने महाभिनिष्क्रमण के पश्चात् राजगृह गये थे। बुद्धत्व प्राप्त करने के पश्चात् भी उन्होंने अपने कई चातुर्मास्य राजगृह के वेणुवन व मुकुल और गृधकूट पर्वत पर व्यतीत किये थे। राजगृह में ही महाराज बिम्बसार की प्रथम महिषी क्षेमा ने अपने पति की आज्ञा लेकर भगवान से उपसम्पदा ग्रहण की थी।

महाराज बिम्बसार (५४४ ईसा पूर्व से ४९३ ईसा पूर्व तक) के देहावसान के पश्चात् उनके पुत्र अजात शत्रु सिंहासनारुढ़ हुये। उन्होंने मगध की राजधानी का श्रेय पाटलिपुत्र को दिया।

अजात शत्रु ने अपनी राजधानी के आस-पास कई धातु-चैत्य बनवाये। उन्होंने भगवान के परिनिर्वाण के पश्चात् राजगृह के निकट संघ की प्रथम परिषद् भी बुलवाई, जिसमें आनन्द, महाकाश्यप, उपालि तथा भगवान के अन्य प्रिय शिष्य सम्मिलित हुये और विनय तथा सुत्त पिटक के संग्रह का कार्य प्रारम्भ हुआ। इसमें समस्त देश के पांच सौ भी अधिक अर्हत् एकत्रित हुये थे।

अजात शत्रु (४९३ ईसा पूर्व से ४६२ ईसा पूर्व तक) के पश्चात् उनके अन्य उत्तराधिकारों ने जिनमें उदयभद्र, अनुरुद्ध और मुन्ड आदि थे। वे सफल न हुये। और राज्य नन्दों के अधिकार में चला गया। नन्द वंश ने ३६४ ईसा पूर्व से ३२४ ईसा पूर्व तक शासन किया।

यह ब्राह्मण ग्रंथ और उपनिषदों का रचना काल है। अनेक जातक कथायें

भी इसी युग की हैं, इन कथाओं से पता चलता है कि शिल्प का विकास होने लगा था। शिल्पी कर्मकार कहलाते थे। उनमें चित्रकार, लुहार, सुनार और बढ़ई सभी थे। विभिन्न प्रकार के वाद्य-यंत्र भी बनने लगे थे। कर्मकारों के अपने संगठन थे और वे दल बनाकर अपना कार्य करते थे।

जब जनता नन्दवंश के अत्याचार और उत्पीड़न से त्रस्त हो उठी तो चन्द्रगुप्त मौर्य ने चाणक्य के सहयोग से राज्य पर अधिकार कर लिया। चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने पराक्रम से एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। उनकी कीर्ति भारत की सीमा नांघ कर अन्य देशों में फैलने लगी।

यवन राजदूत मेगस्थनीज ने चन्द्रगुप्त मौर्य और उनके विशाल राज-प्रसाद के वैभव का वर्णन किया है। उसमें बड़े-बड़े प्रकोष्ठ थे और विशाल खम्भे, जिन पर पक्षियों की भांति भांति की मूर्तियाँ बनी हुई थीं।[१]

कौटिल्य के अर्थ शास्त्र, मेगस्थनीज के यात्रा-विवरण और जातकों आदि से हमें उस युग की भारतीय सभ्यता की झलक मिलती है। कांच बनाने और कड़े से कड़े पत्थर को भी मोम की भांति काट देने की कला अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। सूती, ऊनी और रेशम के वस्त्र बनने लगे थे और उन पर छपाई भी की जाने लगी थी।

सम्राट अशोक चन्द्रगुप्त मौर्य के पौत्र और बिन्दुसार के पुत्र थे। अशोक का नाम विश्व के महान् सम्राटों में बड़े आदर के साथ लिया जाता है। हमारा विशाल गणतंत्र आज जिस उदार नीति की घोषणा करता है, उसकी पूर्व-परम्परा हमें देवनांप्रिय अशोक से ही मिलती है। उसी के प्रतीक स्वरूप, उनके समय के चक्र को हमने अपने राष्ट्र की महामुद्रा के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

राज्य की दूर-दूर तक फैली हुई सीमा ही किसी राजा को महान् नहीं पाती वह तो अपने प्रजा-जन के मानस लोक पर प्रेम और न्याय से शासन करता है। राजा के प्रयत्नों और सदाचरण से प्रजा का नैतिक स्तर ऊँचा उठता है, वह सत्कार्यों की ओर प्रेरित होती है। यही उसके राज्य-संचालन की कसौटी है। राज्य का विशाल प्रासाद जनता के आदर्शों पर ही टिका हुआ है।

अशोक की लोक-कल्याण भावना शिला लेखों के रूप में व्यक्त हुई है। इन

---

१. "It was adorned with gilded pillars clasped all round with a vine embossed in gold and decoreted with silver images of birds." Age of Imperial Unity, Page 57.

शिला-लेखों में उन्होंने लिखवाया है कि मेरी जनता मुझे अपने पुत्र की भांति प्रिय है। उसका हित ही मेरा एकमात्र कर्तव्य है।

कलिंग विजय ने उनके मन में युद्ध और रक्तपात के प्रति घृणा की भावना भर दी। विश्व के इतिहास में वही पहले सम्राट हैं जिन्होंने राजकरण में प्रथम बार अहिंसा का प्रयोग किया। उनके हजारों वर्ष पश्चात् एक महान आत्मा फिर इस देश में आई। उसने भी एक नया प्रयोग किया; स्वाधीनता, हिंसा के बिना भी प्राप्त की जाती है। दोनों हृदय परिवर्तन के सिद्धांत पर आधारित हैं। दोनों पर भगवान बुद्ध के विचारों की स्पष्ट छाप है। अशोक और गांधी दोनों के यज्ञ एक ही वेदी पर हुये हैं। यही कारण है कि भारत आज अशोक को फिर स्मरण कर रहा है। हिंसा से भयभीत राष्ट्र आज फिर प्रतीक्षा कर रहे हैं कि भारत धर्म-चक्र का प्रवर्तन करे। युद्धों की विभीषिका थम जाय। हम शांति के पथ पर विचरण करें। हमारा धर्म, हमारे विचार और हमारी शासन-प्रणालियाँ भले ही भिन्न हों किन्तु हम एक साथ विश्व-शांति के पथ पर बढ़ें- यही पंचशील है, सहअस्तित्व है। 'भेरी घोष' का स्थान 'धर्म घोष' ले, यही अशोक का उद्घोष था। (शिला लेख ४)

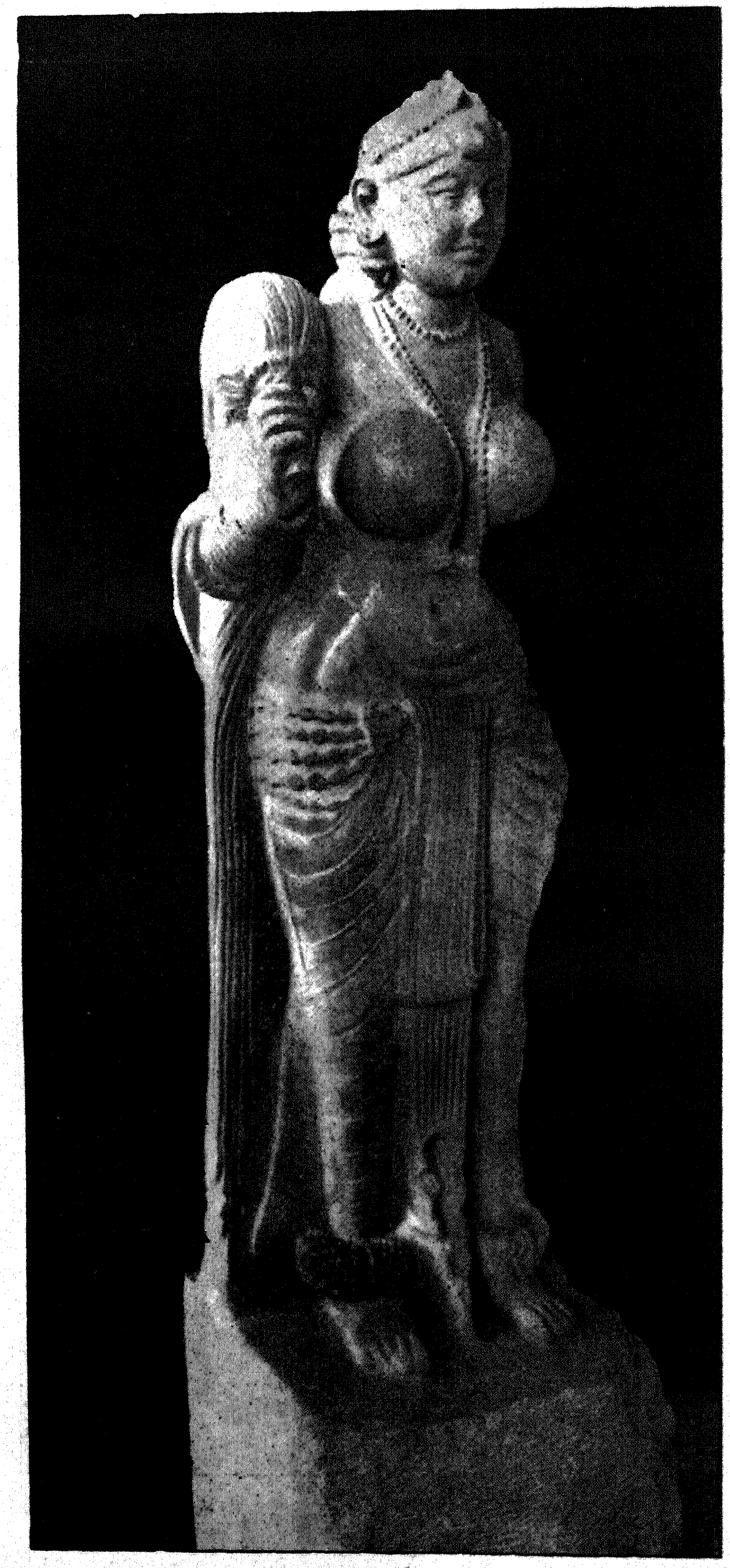
अशोक की यह करुणा मानव-समाज तक ही सीमित न रही। धर्म के नाम पर निरीह पशुओं का वध होता था। अशोक ने उसे बन्द करा दिया। उन्होंने शिकार के वे खेल भी बन्द करा दिये जो उनके पितामह के समय में बहुत प्रचलित थे। (शिला लेख ८) अब आमोद-प्रमोद के लिये वे राजसी यात्रायें नहीं करते थे। 'विहार यात्रायें', 'धर्म यात्राओं' में बदल गई थीं। अशोक ने बोधगया, लुंबिनी, रामग्राम आदि की पुण्य यात्रायें की और प्राण-प्रिय पुत्र और पुत्री महेन्द्र और संघ मित्रा को धर्म का अमृत-कलश लेकर सुदूर लंका भेजा। सोण और उत्तर स्वर्णभूमि (सुदूर पूर्व) गये। धर्म-रक्षित जो स्वयं एक यवन थे अपरान्तक गये। मज्झिम ने हिमालय की चोटियाँ पार कीं। महारक्षित ने यवन देश में प्रवेश किया। भगवान तथागत का पुण्य-संदेश लेकर न जाने और भी कितने भिक्षु कहाँ कहाँ गये? अशोक ने पाटलिपुत्र में बौद्धों की तीसरी परिषद् का आयोजन किया। उसका महावंश में विशद् वर्णन है। महावंश के ही अनुसार सम्राट अशोक ने देशभर में चौरासी हजार स्तूप बनवाये थे।

भारतीय शिल्पियों के मन को भी देवानांप्रिय अशोक की धर्म-यात्राओं ने छू लिया। उन्होंने सम्राट की रामग्राम यात्रा का दृश्य भी आंका है।

सांची के पूर्व दिशा के तोरण पर एक अर्ध-चित्र आंका गया है। यह सांची की कला का एक श्रेष्ठतम नमूना है। दृश्य के बीच में एक विशाल



अशोक-स्तम्भ, सारनाथ



चंवर धारिणी, दीदार गंज

बोधिवृक्ष है, जिससे वह दो समान भागों में बंट गया है। बायीं ओर के दृश्य में महाराज अशोक अपनी सम्राज्ञी और पुत्र के साथ बोधिवृक्ष के निकट, भगवान बुद्ध की पूजा करने आये हैं।

विदेशी कला-समीक्षकों ने इस प्रकार की उपासना को 'वृक्ष-पूजा' (ट्री वरशिप) कहा है, जो भ्रामक है। वस्तुतः यह बोधिवृक्ष की पूजा नहीं है। यह तो भगवान बुद्ध की पूजा है, जो बोधिवृक्ष के नीचे बैठे हैं। उन दिनों भगवान बुद्ध की मूर्तियां नहीं आंकी जाती थीं, इसलिए उनका आसन रिक्त दिखाई देता है।

सम्राट के साथ उनके मंत्रिगण भी हैं जो हाथियों और घोड़ों पर आये हैं। महाराज हाथी से उतर कर तनिक तिरछे खड़े हैं। सम्राज्ञी भी उनकी ओर झुकी सीं, शायद धीमे से उनसे कोई बात कह रही हैं। महाराज कुछ सोचते से जान पड़ते हैं। उनका पुत्र पास ही उनकी धोती पकड़े हुए खड़ा है। बालक की वस्त्र पकड़ कर खड़े होने की चेष्टा दृश्य में स्वाभाविकता ले आई है। वृक्ष के दूसरी ओर सेवकों का दल है। सम्राट के साथ वादक भी हैं। इनमें से कोई वंशी बजा रहा है और कोई सारी ताकत लगाकर शंख फूंक रहा है।

जब प्रजा जन सुखी होते हैं तब युग के शिल्पी भी अपनी प्रतिभा और कल्पना से कला के नये 'अभिप्रायों' को प्रतिमाओं में उतारते हैं। सम्राट अशोक के शासन काल में कला का पुनर्जागरण हुआ। राज्यश्रय ने धारा को और भी वेग दिया। चुनार के लाल पत्थर को काटकर स्तम्भ बनवाये गये और उन पर सिंह, गज, वृषभ आदि की प्राणमयी प्रतिमायें प्रतिष्ठित की गईं। सारनाथ का सिंह-स्तम्भ, जिसे भारत ने अपनी महा मुद्रा के रूप में ग्रहण किया है, मौर्य कला की सर्वश्रेष्ठ कृति समझी जाती है। ओज और सौष्ठव का ऐसा मिलन विश्व की किसी शिल्प-कृति में दिखाई नहीं देता।

मौर्य कला की एक विलक्षणता यह भी है कि मूर्तियां दर्पण सी दमकती हैं। उनपर एक बहुत चमकीला ओप है। मौर्य काल के बाद की कृतियों पर यह ओप दिखाई नहीं देता मानो शिल्पियों के लिए वह रहस्य बनकर लुप्त हो गया हो।

भारतीय कला में यक्षों की कुछ प्रतिमायें प्राप्त होती हैं। कतिपय इतिहासकार उन्हें मौर्य काल से भी पहले का मानते हैं। उनका मत है कि यह प्राचीन मूर्तियां शैशुनाक काल की हैं। पहले राजा लोगों की मूर्तियां बनती थीं। आदम-कद से भी बड़ी एक मूर्ति मथुरा जिले के परखम नामक स्थान में मिली है। यह परखम यक्ष के नाम से प्रख्यात है। वे इसे अजात शत्रु की मूर्ति

मानते हैं। इसी प्रकार की दो अन्य विशाल प्रतिमायें पटना में प्राप्त हुई हैं, उन्हें वे उदयिन नन्द और वर्त नन्दिन की मानते हैं। यह दोनों नन्द वंश के राजा थे, जिनका शासन काल ४०० ईसा पूर्व था। यह श्रीयुत काशी प्रसाद जी जायसवाल का मत था।[१] राय कृष्ण दास जी पटना की मूर्तियों को 'अजात शत्रु के पोते अज उदयी (मृत्यु ४६७ ई. पू.) तथा उसके बेटे नन्दवर्धन की मानते हैं।[२] इस सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने अपने मत प्रकट किये हैं। श्री अर्द्धेन्दु कुमार जी गांगुली का मत है कि पटना की मूर्तियाँ नन्दों के शासन-काल की नहीं हैं, वरन् यह नन्दवर्धन के नगर के यक्षों की हैं और लगभग द्वितीय शताब्दी की हैं।[३] डा. कुमार स्वामी की राय है कि परखम की मूर्ति, यक्ष की प्रतिमा है और ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी की है।[४] इन पर लेख भी खुदे हुए हैं। श्री राखालदास बंद्योपाध्याय ने इन्हें अशोक के बाद का माना हैं—

"It may be stated without hesitation that inspite of the incriptions of later date incised on their backs, they are fine specimens of sculpture, slightly later in date than the period of Ashoka"—[५]

यक्षों की कल्पना लोक-जीवन से उदय हुई थी। गांवों में उनकी उपासना होती थी। मनुष्य जिसे बड़ा समझता है उसे कभी-कभी विशालता दिखाने के के लिए बड़े आकार में चित्रित करता है। गांवों में आज हनुमान जी की इतनी बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ दिखाई देती हैं कि आश्चर्य होने लगता है। कला के उन्नत और परिष्कृत रूप में भी मानव-स्वभाव की झलक दिखाई दे जाती है। एलोरा व अन्य कला-मंडपों में कहीं-कहीं आराध्य देवता की बड़ी प्रतिमा बनाई गई हैं और उनके पास ही छोटे आकार में उपासक दिखा दिये गये हैं। अजंता के एक भित्ति-चित्र में भगवान तथागत राहुल-जननी के द्वार पर खड़े हैं। इसमें भगवान की आकृति देवि यशोधरा और राहुल की अपेक्षा बहुत विशाल है।

इसी भावना से यक्षों की इतनी बड़ी प्रतिमायें गढ़ी गई हैं। परखम के निकट ही पाई जाने वाली बारोदा की भग्न यक्ष मूर्ति तो बारह फुट की रही

---

१. Journal of the Bihar and Orrisa Research Society, Volume V Page 88-166

२. भारतीय मूर्तिकला, श्री रायकृष्ण दास, पृष्ठ १४

३. Modern Review, Oct. 1919,

४. History of Indian and Indonesian Art. Dr. Anand K. Coomarswamy Page 16.

५. Eastern Indian School of Medieval Sculpture—R. D. Benerji Page 6.

होगी। सामान्य मानवों की चाहे वे राजा ही क्यों न हों, इतनी बड़ी प्रतिमायें बनाने का प्रश्न ही नहीं उठता। इन मूर्तियों में यक्ष बड़े बलिष्ठ दिखाई देते हैं। उनका शरीर मांसल है। कुछ इतिहास कारों का मत है कि शिल्पियों को, मथुरा के बोधिसत्वों की विशाल प्रतिमाओं की पूर्व-परम्परा, इन यक्ष मूर्तियों से ही मिली है।[१] परखम का यक्ष[२] स्थूलकाय है और उसका उदर भी कुछ बाहर निकला है। वह घुटनों से नीचे तक लटकती हुई धोती पहने है। कमर में दुपट्टा बंधा हुआ है जिसमें आगे की ओर गांठ बांध दी गई है और दोनों छोर नीचे लटक रहे हैं। छाती पर भी एक दुपट्टा बंधा है, जिसका छोर लटक रहा है। उसके गले में कई लड़ों की माला है। जिसमें बीच-बीच में चौकोर ठप्पे बने हैं। उसके गले में एक कंठा भी है।

वरोदा की यक्ष मूर्ति का कमर से नीचे का भाग भग्न हो गया है। उसकी छाती पर भी दुपट्टा बंधा है। उसके गले में भी मोटा कंठा है, जिसके चार फुँदने पीछे पीठ पर लटकते हुए दिखाये गये हैं।[३]

पटना की यक्ष-मूर्तियों की वेश-भूषा भी लगभग यही है।

कलकत्ता संग्रहालय में यक्षिणी की एक मूर्ति है। इसका ऊपरी भाग अनावृत है। सिर पर दुपट्टा है, जैसा कि बाद की सांची और भारहुत की स्त्री-प्रतिमाओं के सिर पर दिखाई देता है। उसके गले में मोटी, कई लड़ की माला है। वह नीचे तक की धोती पहने हुये है, जिसपर कमरबन्द बंधा है। कमर में पांच लड़ की करधनी है। धोती की चुन्नट नीचे तक जाती है।[४] इसके दोनों हाथ भग्न हैं।

पटना संग्रहालय में एक अन्य स्त्री-प्रतिमा है। यह दीदार गंज से प्राप्त हुई है। मूर्ति का बांया हाथ भग्न है। दाहिने में वह चंवर लिए हुए है। इसकी वेश-भूषा भी वेसनगर की यक्षिणी जैसी है।[५] इसके गले में मालायें हैं। हाथ चूड़ियों से भरा हुआ है। इसके मस्तक पर किरीट है और बालों की राशि पीठ पर झूल रही है। नारी-मूर्ति के मस्तक पर किरीट यहाँ पहिली बार देखने में आता है, फिर बाद की प्रतिमाओं में मिलने लगता है।

---

१. The Age of Imperial Unity Page 517.
२. History of Indian and Indonesian Art, Plate 3, figure 9.
३. वही Plate V, figure 15.
४. वही Plate III figure 8.
५ वही Plate V, figure 17.

अन्य यक्ष-मूर्तियों की अपेक्षा दीदार गंज की चामर-धारिणी की प्रतिमा में कला की प्रौढ़ता दिखाई देती है। यह मौर्य कालीन मूर्ति है। इसका अंग-प्रत्यंग सुडौल है, साथ ही इसमें सौष्ठव और लालित्य भी है। यक्षों की प्रतिमाओं में कला का बहुत ही प्रारम्भिक स्वरूप दिखाई देता है, इस मूर्ति-विशेष में वह विकसित होता हुआ प्रतीत होता है। यह पटना में प्राप्त हुई थी। कुमारस्वामी ने भी इसकी सराहना की है।[1] यक्ष और यक्षणियों की इन प्रतिमाओं से उस युग के स्त्री-पुरुषों की वेश-भूषा और अलंकार आदि पर प्रकाश पड़ता है। इस दृष्टि से शेष प्रतिमायें मौर्य काल के अंतिम युग अथवा शुंग काल के प्रारम्भिक काल की जान पड़ती हैं।

लगभग इसी काल की चार नई यक्ष-प्रतिमायें और प्राप्त हुई हैं। समय में थोड़ा बहुत अंतर हो सकता है किन्तु वे हैं समस्त शुंग काल के प्रारम्भिक चरण की। उनके अतिरिक्त परखम और बरोदा के यक्ष जैसी ही अन्य यक्ष मूर्ति भरतपुर के निकटवर्ती गांव नोह में मिली है और एक यक्षिणी की प्रतिमा मथुरा से कुछ दूर एक गांव 'झींग का नगरा' में प्राप्त हुई है।[2]

नई यक्ष-प्रतिमाओं में से एक बम्बई प्रांत में प्राप्त हुई है और अब वह राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली में है। यह परखम यक्ष जैसी ही विशाल प्रतिमा है। यह कोरकर बनाई गई है। यह एक भग्न प्रतिमा है। यक्ष धोती पहने है और उसके ऊपर पटका बंधा है, जिसके दोनों छोर लटक रहे हैं। उसके निकट ही आमलक जैसी कोई चीज रक्खी है जो सम्भवतः दोनों ओर नोकवाला वज्र होगा।[3] उसके निकट ही एक यक्षिणी खड़ी है। यक्षिणी धोती पहने हैं। वह चुन्नट दार और पतली दिखाई गई है इसमें से उसके अंग झलक रहे हैं। धोती के ऊपर पट्टा बंधा हुआ है। सिर पर साफा जैसी कोई चीज है। वह हाथों में भी आभूषण पहने है। पैरों में मोटे-मोटे कड़े हैं।

गुरगांव जिले में एक यक्ष की प्रतिमा का ऊपरी भाग मिला है, जो लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित है। एक यक्ष प्रतिमा राजघाट में प्राप्त हुई है।

---

१. The colossal standing female figure from Besnagar, sometimes called the Earth goddess, may be either a Yakshi or a human figure. Another and more perfect example of the same school of art is represented by the large female 'cauri' bearer."

(The History of Indian and Indonesian Art. Page 17.)

२. Four New yaksha Statues Dr. V. S. Agrawala, Journal of The U. P. Hist, Society, Vol. XXIV–XXV (1951–52)

३. वही figure I, Page 186.

इसमें यक्ष के तीन मुख दिखाये गये हैं। यह नीचे तक की कुरता जैसी कोई चीज पहने हुये है। आकृति में यह बौनों जैसी प्रतीत होती है। यह भारत कला भवन, काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय में सुरक्षित है।

चौथी यक्ष मूर्ति मथुरा के संग्रहालय में है। यह एक टूटी हुई मूर्ति का ऊपरी भाग है जो दो फीट चार इंच का है। मूर्ति के सिर पर ऊँचा साफा है। कानों में कुंडल हैं।

यक्षों की और भी अनेक प्रतिमायें, विभिन्न कालों की मिलती हैं। सांची और भारहुत के तोरणों पर भी वे दिखाई देती हैं। परखम और बारोदा की की यक्ष मूर्तियों के प्रसंग में, यक्षों की यह चर्चा कर ली गई, वस्तुतः यह हैं शुंग काल की।

परखम आदि की मूर्तियों पर विद्वानों के दो मत थे। एक उन्हें शैशुनाक काल की मानता था और दूसरा उन्हें मौर्य काल की,—यह हम कह चुके हैं।

मौर्य काल की कला के सबसे उत्कृष्ट नमूने, उनके बनवाये हुये स्तम्भ हैं। अशोक ने अपने उदार विचार पत्थरों और स्तम्भों पर अंकित करा दिये। यह स्तम्भ आज भी खड़े हैं। काल इन्हें परास्त नहीं कर सका है। इनकी चमक अब भी वैसी है। आततायियों के आक्रमण ने इनमें से कुछ स्तम्भों को तोड़ अवश्य दिया है।

यह स्तम्भ सारनाथ, सांची, रुम्मिन देई, लौरिया नन्दन गढ़, रमपुरवा कौशाम्बी, इलाहाबाद और दिल्ली आदि में हैं। इनमें सांची भोपाल के निकट है, रुम्मिन देई प्राचीन लुंबिनी है व लौरिया नन्दनगढ़ और रमपुरवा विहार के चम्पारन जिले में हैं।[1]

यह समस्त स्तम्भ चुनार के लाल, पत्थर के हैं। पैंतीस-छत्तीस फीट से अधिक ऊँचे गोलाई दार खम्भे एक ही पत्थर से काटकर बनाये गये हैं। इनके शिरोभाग पर सिंह, गज व वृषभ आदि की मूर्तियाँ हैं। ऊपरी भाग की यह मूर्तियाँ भी एक ही पत्थर को काटकर बनाई गई हैं। यह स्तम्भ अत्यंत भारी हैं। इन्हें उस युग में एक स्थान से दूसरे तक कैसे ले जाया गया होगा? कैसे यह खड़े किये होंगे? यह सब विचार करने पर बुद्धि आश्चर्य में पड़ जाती है।

---

१. अशोक के इन स्तम्भों के विस्तृत वर्णन के लिए देखिए

V. A. Smith The monolthic pillars or colums of Ashoka.

Sir John Marshall–The monuments of Ancient India in Cambridge History of India Vol. I

स्तम्भ के ऊपर एक पतली सी मेखला रहती है। उस के ऊपर पंखुड़ियों-दार कमल रहता है। यह पंखुड़ियाँ नीचे की ओर मुड़ी रहती हैं। कुछ पाश्चात्य विद्वान जिनमें मार्शल स्मिथ आदि हैं, इसकी मूल-कल्पना विदेशों से से आई हुई मानते हैं। वे इसे घंटा की आकृति कहते हैं किन्तु ई. वी हैवल, डा. कुमार स्वामी, दयाराम जी साहनी और राय कृष्ण दास जी आदि ने अपने अकाट्य प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि पाश्चात्य इतिहासकारों की यह मान्यता तथ्यहीन है, अतः इस सम्बन्ध में हम चर्चा नहीं करेंगे। कमल के ऊपर फिर एक कंठी रहती है, जिसपर नकाशी रहती है। इसके ऊपर एक चौकी रहती है। यह गोल और चौकोर, दोनों प्रकार की मिलती है। इस चौकी पर अलंकरण रहता है। रमपुरवा के स्तम्भ पर यह चौकी गोलाकार है। इस पर पक्षी आंके गए हैं। चौकी के ऊपर एक शेर उकुरूं बैठा है। रमपुरवा के दूसरे स्तम्भ पर बैल की आकृति है। इसके नीचे की गोलाकार चौकी पर कमलपुष्पों और कलिकाओं का अलंकरण है। सारनाथ के स्तम्भ-शीर्षक की चौकी पर चार दिशाओं में चार धर्म चक्र हैं और उनके बीच-बीच में चार पशु, हाथी, अश्व, वृषभ और सिंह हैं।

इन स्तम्भों की कला उत्तरोत्तर विकसित होती गई है और सारनाथ के स्तम्भ में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई है। लौरिया नन्दन गढ़ के स्तम्भ पर सिंह है। सांकाश्य (वर्तमान संखिसा) में भी एक अशोक-स्तम्भ रहा होगा। इसके स्तम्भ-शीर्षक का हाथी अब भी वहाँ सुरक्षित है। स्तम्भ भंग होकर कहीं खो गया है। उसके अंश प्राप्त नहीं होते।

सारनाथ के स्तम्भ पर चार केसरी अपनी पीठ मिलाये हुए बैठे हैं। इनके ऊपर धर्म-चक्र रखा हुआ था, जो अब टूटा हुआ मिलता है।

अशोक युग के समस्त स्तम्भों को देखने से उनमें भी एक शैली का उत्तरोत्तर विकास परिलक्षित होता है। उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह समस्त स्तम्भ एक साथ ही नहीं बनवाये गये हैं। यह ज्यों-ज्यों बनते गये, शिल्पी का कला मंजती गई। सारनाथ का स्तम्भ शीर्षक सम्भवतः सबसे बाद में तैयार किया गया हो। यह स्तम्भ इने-गिने ही हैं फिर भी ओज और शरीर की सादृश्यता को सभी में बड़ी सफलता से प्रदर्शित किया गया है। इनमें आदर्श की पुट कहीं नहीं हैं।

रमपुरवा के स्तम्भ का ऊपरी भाग रायबहादुर श्री दयाराम साहनी को प्राप्त हुआ था। यह बहुत दिनों तक पानी में पड़ा रहा।[१] सिंह के मुख का

१. Anu-Beport, Arch, Sarvey of India, 1907-8 Pages 181-18 Plat LYV and LXVIII.

भाग टूट गया है और चौकी के नीचे का नीलोत्पल भी कुछ भग्न हो गया है फिर भी शेर की बैठक से उसके शरीर की मांस-पेशियाँ तक उभरी हुई दिखाई देती हैं। उसकी टांगें और पुठ्ठों के स्नायु तने हैं। उसकी मुद्रा अत्यंत स्वाभाविक है। हमारे देश की अनेक कलाकृतियाँ नष्ट हो गईं। अनेकों का रूप विकृत हो गया और बहुत सी विदेशों में चली गईं किन्तु इसका उत्तरदायित्व क्या हमारी सदियों की उपेक्षा पर नहीं है?

रमपुरवा के ही एक अन्य अशोकीय स्तम्भ पर बैल आंका गया है। यह राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली के प्रवेश द्वार पर रखा है। इसका अंग-प्रत्यंग इतनी सुगढ़ता से सुड़ौल बनाया गया है कि दर्शक की आँखें देखते ही रहना चाहती हैं। देह मांसल है। कान उठे हुये हैं। ऐसा लगता है कि कोई दो-दो दांत का नागौरी बछड़ा आकर खड़ा हो गया है। कान ऊपर उठे हुये हैं। दुर्भाग्य से सिर का भाग कुछ टूट गया है।

बैल हमारे कृषि-प्रधान देश का प्राचीन पशु है। शिल्पियों को उसका अंकन अत्यंत प्रिय रहा है। शिव के नंदी के रूप में बैल की अनेक प्रतिमायें दक्षिण भारत के गुहा-मंदिरों व अन्य कला-मंडपों में मिलती हैं किन्तु इतना सजीव अंकन कहीं दिखाई नहीं देता।

इसके सम्बन्ध में श्रीयुत राखलदासजी बंद्योपाध्याय ने ठीक ही लिखा है—
"It will be difficult to find thoughout India the figure of the bull, so vigorous in outline and at the same time so faithful to nature as that discoverd at Rampurva." [१]

यह भी अनेक शताब्दियों तक पानी में पड़ा रहा। इस पर से वह ओप उतर गया है, जो अशोकीय शिल्प की अपनी विशेषता है।

सांची के स्तूपों के निकट भी एक अशोकीय स्तम्भ प्राप्त हुआ है। यहाँ पहले विदिशा नामक समृद्धि शाली नगर था। अशोक की प्रथम पत्नी 'देवी' जो 'विदिशा महा देवी' के नाम से प्रख्यात हुईं, यहीं की कन्या थीं। महेन्द्र और संघमित्रा उनके ही पुत्र और पुत्री थे। अशोक ने महेन्द्र के लिये चैत्य गिरि में एक विहार भी बनवाया था।

सांची का यह स्तम्भ, जो अब टूट गया है, सारनाथ के सिंह-स्तम्भ से मिलता जुलता है। इसमें भी चार सिंह एक दूसरे से पीठ मिलाये सटे हुये खड़े

---

१. 'Early History of Sculpture in Eastern India' in 'Eastern Indian School of Medieval sculpture Page 6.

हैं। सिंह की मुखाकृतियाँ भी भग्न हैं। सांची के दक्षिण तोरण पर चार सिंहों की आकृतियाँ हैं। सांची का दक्षिण तोरण सबसे पहले बना है। उसके शिल्पियों ने अशोकीय स्तम्भ की अनुकृति ही तोरण पर कोर दी है, यह दोनों को देखते ही तुरंत समझ में आ जाता है। दोनों की गोल चौकियाँ हैं और उनपर पक्षियों और कमलों के अलंकरण भी एक से ही हैं। दूसरे तोरणों पर हाथी और बौने बड़ेरियों को साधे दिखाई देते हैं। इनकी चौकियाँ चौकोर हैं। शायद शिल्पियों को एक ही वस्तु को दुहराना उचित प्रतीत नहीं हुआ।

अशोकीय स्तम्भों में सारनाथ का सिंह-शीर्षक स्तम्भ सर्वश्रेष्ठ है। इसकी चौकी पर हाथी, बैल, सिंह और घोड़ा हैं। यह चारों दौड़ते हुये आंके गये हैं। इनके बीच में चार धर्म-चक्र हैं। यह चारों पशु मूलतः भारतीय हैं और प्राचीन युग में चारों दिशाओं के प्रतीक के रूप में आंके जाते थे। राय कृष्ण दास जी को रामचन्द्रिका में इन चारों पशुओं का उल्लेख प्राप्त हुआ है। केशव दास रामचन्द्र जी के महल का वर्णन करते हुये कहते हैं---

'रची विचारि चारि पौरि पूरबादि लेखियो ॥
सुवेष एक सिंह पौरि एक दन्तिराज है।
सुएक बाजिराज एक नंदि वेष राज है।'

---केशव पंचरत्न

सिंह, शौर्य, निर्भीकता और स्फूर्ति का प्रतीक है, गज, चातुर्य, विचार-शीलता और ऐश्वर्य का। वृषभ और अश्व आर्यों के वे प्रिय पशु हैं, जिनमें से एक के सहारे उन्होंने भूमि को उर्वरा बनाया और दूसरे को साथ लेकर राज्य का विस्तार किया।

चौकी के ऊपर चार सिंहों की बड़ी ओजवान आकृतियाँ हैं। वे चारों चार दिशाओं की ओर मुँह किये बैठे हैं। इनका प्रत्येक अंग बड़ी कुशलता से बनाया गया है। पैरों की शिरायें तनी हैं। कान खड़े हैं। सिंहों के अयाल भी बड़ी सफाई से काटकर बनाये गये हैं। संसार के शिल्प में पशुओं का इतना प्राणवान अंकन कहीं नहीं हुआ। इनकी पलकों में छोटे-छोटे गोल छेद हैं, जिनमें माणिक फंसा दिये जाते होंगे और सिंहों के नेत्र दीप्तिमय हो उठते होंगे।

यह सिंह उस महा-मानव के द्योतक है, जिसने पृथ्वी पर अवतरित होते ही सिंह की भांति नाद किया था कि, 'पृथ्वी का स्वामी हूँ।' सारनाथ की सिंह-मूर्तियों में शौर्य, तेज और ओज के साथ स्वाभाविकता को निबाहा गया है।

इन सिंहों पर एक विशाल धर्म-चक्र रक्खा हुआ था जो टूट गया है। इस चक्र में चौबीस अरे हैं। बौद्धों की मान्यता के अनुसार चक्र बारह बार घूमता

है। चक्र, धर्म के प्रवर्तन का प्रतीक है। भगवान बुद्ध के चरण में भी चक्र अंकित था।

अशोक स्तम्भ के कमल को विदेशी इतिहासकारों ने घंटाकृति माना था किन्तु अब यह सिद्ध हो चुका है कि वह पूर्णतया भारतीय कल्पना है। यह नीलोत्पल है, जिसकी पंखुड़ियाँ नीचे झुकी हुई भी दिखाई जाती हैं। पुराने तर्कों को दुहराने की अब कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

अशोक के युग की प्रतिमाओं में दीदार गंज की चामर-धारिणी की चर्चा की जा चुकी है।

स्थापत्य के विकास में भी अशोक की विशेष अभिरुचि थी। पाटलिपुत्र में उन्होंने अत्यंत विशाल और सुन्दर राजभवन बनवाया था। यह सातवीं शताब्दी तक विद्यमान था। फाहियान ने इसकी बड़ी प्रशंसा की है। हुएन सांग के समय में वह नष्ट हो गया था। उसके कुछ अवशेष प्राप्त हुये हैं, जो पटना संग्रहालय में अब भी सुरक्षित हैं। इनमें पुरुष का एक सिर भी है। इसके अतिरिक्त और भी छोटी-छोटी वस्तुयें हैं। उन सब पर वह ओप है जो मौर्य-कला की अपनी विशेषता है। अशोक द्वारा खुदवाई हुई गुफाओं की दीवारों पर भी यह ओप प्राप्त होता है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि यह चमक वज्रलेप के कारण है किन्तु अधबनी गुफाओं की दीवारों से पता चलता है कि यह प्रभाव किसी मसाले से नहीं वरन् पत्थर को रगड़ कर ही पैदा किया जाता था।

महावंश में कहा गया है कि सम्राट अशोक ने चौरासी हजार स्तूपों की रचना कराई थी।

स्तूप समाधि का ही एक प्रकार है। भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् उनकी अस्थियों के आठ भाग कर दिये गये थे। उनका अवसान कुशीनगर की सीमा में हुआ अतः वहाँ के मल्लराज ने उनकी अस्थियों पर स्तूप बनवा देना चाहा। उसी समय उन्हें मगध के महाराज अजात शत्रु, वैशाली के लिच्छिविगण, कपिलवस्तु के शाक्य व रामग्राम के कोलियगण आदि ने लिखा कि 'भगवान बुद्ध क्षत्रिय थे और हम भी क्षत्रिय हैं इसलिए उनकी अस्थियों पर हमारा भी अधिकार है।' वेठग्राम के ब्राह्मणों ने भी लिखा कि, 'हम को भी भगवान के शरीर का अवशिष्ठ भाग दिया जाय।' कुशीनगर के मल्लराज ने देखा कि सब ओर से यह मांग आ रही है तो उन्होंने कहा, 'भगवान का परिनिर्वाण हमारे राज्य की सीमा में हुआ है। हम उनकी अस्थियों का अंश किसी को भी न देंगे।'

जब अन्य राज्यों के अधिकारियों और प्रधानों ने उनकी यह बात सुनी तो

अपनी सेना लेकर कुशीनगर पर चढ़ आये। ऐसा प्रतीत होने लगा कि अब युद्ध होने में देर नहीं है तो द्रोण नामक महात्मा ने उन सब से कहा — "भगवान शांतिवादी थे। उनके अवसान के पश्चात् आप लोग उनकी अस्थियों के लिए लड़ें, यह किसी प्रकार से भी शोभनीय नहीं है और न श्रेयस्कर ही है। मैं उनकी अस्थियों के आठ भाग किए देता हूँ। आप इनको अपने साथ ले जाइये और अपनी श्रद्धा के अनुरूप स्तूपों की रचना कराइये। सब दिशाओं में उनकी अस्थियों पर स्तूप बनवाये जावें और चक्षुवान उन्हें देखकर प्रसन्न हों।[1]"

उनकी बात को सबने स्वीकार कर लिया और शांत हो गये। अस्थियों के आठ भाग हो गये और वे कपिलवस्तु, रामग्राम, अल्ल-कल्प, राजगृह और वेठ-ग्राम चले गये। उसी समय पिप्पलीय से मोरियगण का राजदूत भी अपना भाग मांगने आया। अस्थियों के भाग हो चुके थे। उसे चिता का एक अंगार ही दे दिया गया। वह उसे लेकर चला गया।

कहते हैं कि सम्राट अशोक ने इन्हीं स्तूपों में सुरक्षित, भगवान के अव-शेष निकलवा कर, उनके ऊपर अनेक स्तूपों की रचना कराई थी।

प्राचीन आर्यों में भी अस्थियों को एक बर्तन में रख कर भूमि में समाधिस्थ कर देने की प्रथा थी किन्तु उस युग के कोई स्तूप या उनके अवशेष अब नहीं मिलते अतः यह नहीं कहा जा सकता कि वे उन पर स्तूप बनवाते थे। अब तक जो स्तूप प्राप्त हुये हैं, वे या तो बौद्धों के हैं या जैनों के।

स्तूप के नीचे महा-पुरुषों की अस्थियां सोने के अथवा अन्य किसी धातु के पात्र में बन्द करके रख दी जाती थीं, फिर उसके ऊपर ठोस ढांचा बनाकर, अर्ध गोलाकार गुम्बद बना दिया जाता था। सबसे नीचे, आधार पर परिक्रमा के लिए 'मेधि' रहती थी। मेधि तक पहुँचने के लिए सोपान रहती थी। मेधि के ऊपर फिर अंडाकार आकृति जिसे गर्भ कहते हैं, रहती थी। गर्भ पर हर्मिका रहती थी। हर्मिका स्तूप के शिखर पर चौकार होती थी। कभी-कभी इस हर्मिका में भी अस्थि-पात्र रख दिया जाता था। स्तूप के चारों ओर घेरा होता था जिसे वेदिका कहते थे। वेदिका में चारों दिशाओं में तोरण रहते थे।

---

१. "सुनंतु भोन्तो मम एक वाक्यं
अम्हाकं बुद्धो अहु खन्तिवादो
नहि सधयं उत्तम पुग्गलस्स
सरीरभंगे सिया संपहारो।
सब्बेव भोन्तो सहिता समग्गा
सम्मोदमाना करोमट्ठ भागे।
वित्थारिका होन्तु दिसासु थूपा
बहुज्जना चक्खुमंतो पसन्ना।"

सांची

जिन भू-भागों को भगवान ने अपनी चरण-धूलि से पावन किया, वे तीर्थ बन गये। सांची का नाम यद्यपि बुद्ध गया, सारनाथ या कुशीनगर की श्रृंखला में नहीं जुड़ता फिर भी वह अपनी बौद्ध कला के कारण उतना ही महत्वपूर्ण और पुण्य-भूमि समझा जाता है। इसके स्तूपों के तोरणों की कला ने अमिताभ की स्मृतियों, उनकी जीवन-कथाओं को रत्न-मंजूषा की भांति संजोकर रक्खा है।

सांची के स्तूप भोपाल के अन्तर्गत आते हैं। लगभग ढाई सो फीट ऊँची पहाड़ी पर तीन स्तूप हैं। इनमें जो सबसे बड़ा अंडाकार स्तूप है, उसके तोरणों के शिल्प के कारण ही सांची को विश्वव्यापी ख्याति प्राप्त हुई है। प्रकृति देवी की गोद में सांची की श्री देखते ही बनती है। वर्षा में पहाड़ियाँ निखर जाती हैं तब खिरनी के धुले हुये पत्तों की हरीतिमा भी मन को मोह लेती है। सांची में तीन स्तूप हैं। जिस स्तूप पर यह शिल्प-कृतियाँ आंकी गई हैं, वह मौर्य-काल का है। प्राचीन युग में सांची का नाम काकनाद था।

विद्वानों का मत है कि अशोक के काल में यह स्तूप केवल ईंटों का बना हुआ ही था। अशोक युग के पश्चात् यह न केवल उपेक्षित अवस्था में पड़ा रहा वरन् इसकी ईंटों को भी खिसका दिया गया। सम्भव है कि पहले स्तूप को लकड़ी की वेदिका घेरे हुये हो।

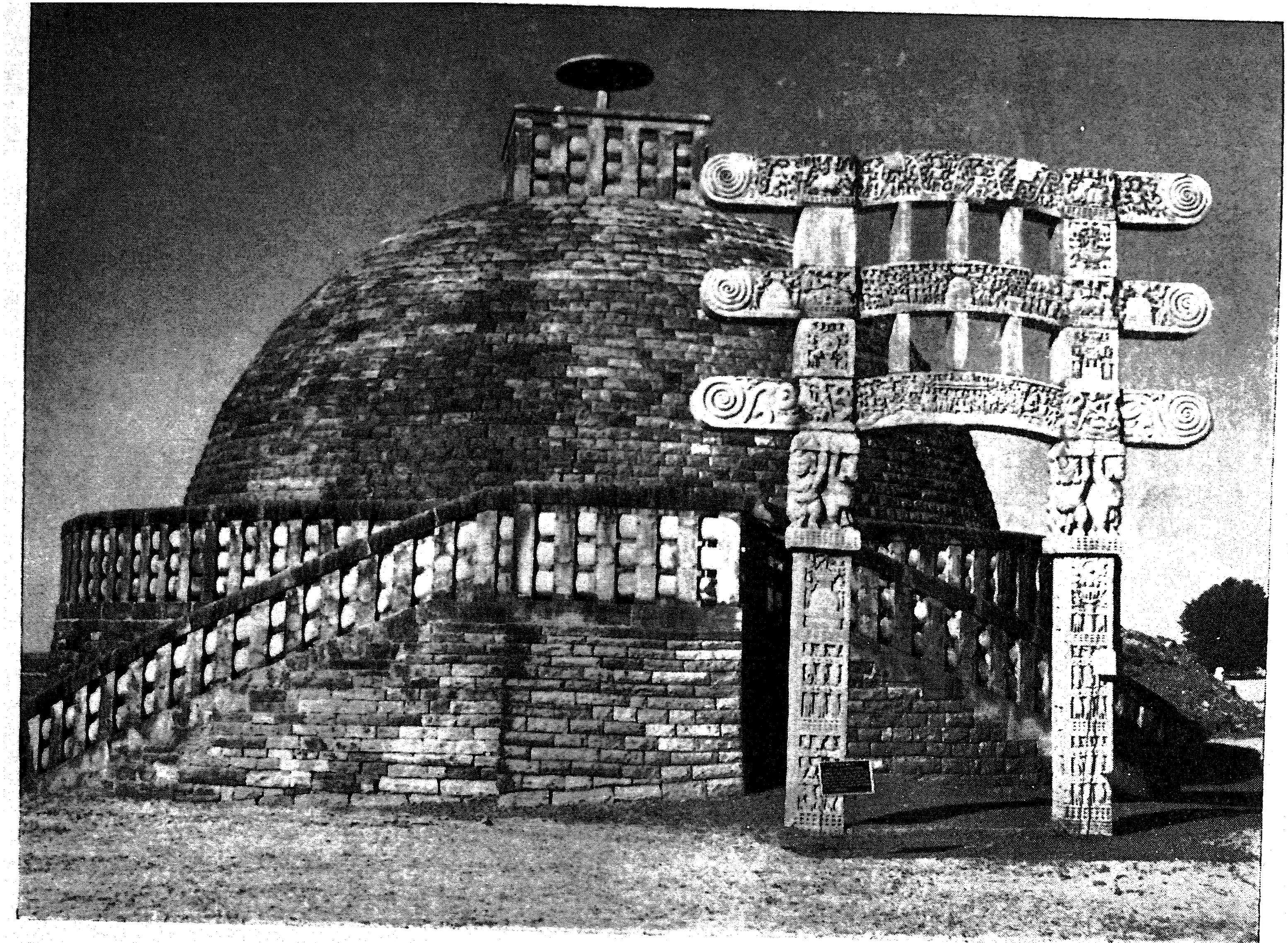
शुंग काल में सांची के भाग्य ने फिर करवट बदली। किसी शुंग राजा ने इसे पत्थरों से ढक दिया। चारों ओर वेदिका बनवा दी फिर सातवाहन राजाओं ने इसकी चारों दिशाओं में चार तोरण बनवा दिये। यह तोरण चौंतीस फीट ऊँचे हैं। चारों तोरण एक से हैं। केवल उन पर आँकी हुई शिल्प-कृतियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं। इनमें नीचे की ओर चौपहले खम्भे हैं। खम्भों के ऊपर सिंह, बौने और हाथी हैं जो अपने सिर पर बड़ेरियों और सूचियों का भार लादे हुये खड़े दिखाई देते हैं। इन तिहरी बड़ेरियों के दोनों ओर का कुछ भाग

बाहर की ओर निकला हुआ है। वह कोने से मुड़ गया है। इन स्तम्भों, बड़ेरियों और सूचियों की मूर्तियों के कारण ही सांची का भारतीय मूर्तिकला में अपना एक विशिष्ठ स्थान है।

यह सच है कि सांची की कला बहुत अधिक विकसित नहीं कही जा सकती। ऐसा लगता है कि शिल्पी को पाषाण का यह माध्यम अपनाये हुये अधिक समय नहीं गुज़रा। मूर्तियों के मुखों पर गुप्त कला में शिल्पियों ने जो भावनायें व्यक्त की हैं, वह यहाँ नहीं दिखाई देतीं। एक बात और है, मनुष्यों और वस्तुओं को सादृश्यता का ध्यान रखकर भले ही न बनाया जाय किन्तु उनमें 'परिमाण' तो रहना ही चाहिए। सांची का शिल्पी एक ही अर्ध-चित्र में सब कुछ दिखा देना चाहता है इसीलिये यह परिमाण बिगड़ जाता है। वस्तुतः यह लोक-कला है, जिसका पाषाण पर अंकन किया गया।

तोरणों पर अनेक अर्ध-चित्र अथवा उभरी हुई प्रतिमायें हैं। दक्षिण ओर के तोरण पर कमलों के बीच में लक्ष्मी, सम्राट अशोक की रामग्राम की यात्रा, व छदंक जातक आदि हैं। कुछ में भगवान बुद्ध के प्रतीकों की उपासना के दृश्य दिखाई देते है। खम्भे के एक अर्ध-चित्र में नृत्य का अत्यंत मनोहारी दृश्य है। उत्तर दिशा के तोरण पर ऋषि ऋृंग जातक, वैसन्तर जातक, मार का आक्रमण, छदंत जातक, भगवान बुद्ध का सांकाश्य में स्वर्ग से आरोहण, जेतवन दान आदि की कथायें हैं। कहीं इन्द्र भगवान बुद्ध से मिलने के लिये आ रहे हैं। कहीं उनके परिनिर्वाण का दृश्य है। एक जगह बन्दर बड़ी भक्ति भावना से भगवान बुद्ध के प्रतीक वृक्ष के पास आ रहे हैं। पूर्व दिशा की ओर के तोरण पर भगवान के महाभिनिष्क्रमण का दृश्य है। इसमें सांची की कला अपने युग के शिल्प की पूर्णता तक पहुंच गई है। इसमें काश्यप ऋषि की कथा, अंतिम सात बुद्धों के प्रतीक आदि हैं। पूर्व दिशा की ओर के इस तोरण पर ही सम्राट अशोक और उनकी रानी की बोधिवृक्ष की उपासना का दृश्य है। इसकी गणना सांची के सर्वोत्कृष्ट चित्रों में की जाती है। पश्चिम की ओर के तोरण पर हाथियों द्वारा वृक्ष-पूजा के दृश्य, अस्थियों के लिये युद्ध, व महाकपि जातक आदि हैं।

इस शिल्प में भारहुत की भांति ही भगवान बुद्ध की प्रतिमा कहीं नहीं दिखाई देती। कलाकार को जहाँ उनकी मूर्ति आंकनी है, वह उनका प्रतीक रख देता है। पूर्व दिशा के तोरण की बीच की बड़ेरी पर भगवान बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण का दृश्य है। इसमें कपिलवस्तु नगर के मकान दुमंजिले, तिमंजिले दिखाये गये हैं। उनके गवाक्षों में से स्त्री-पुरुष झांक रहे हैं। प्राचीर प्रदर्शित



सांचीका स्तूप

करने के लिये उनका केवल थोड़ा सा भाग आंका गया है। पूरी प्राचीर बना देने से नगर का दृश्य नहीं दिखाया जा सकता था। नगर की गलियों में चहल-पहल है। यों भगवान बुद्ध गहरी रात की निस्तब्धता में घर त्याग कर गये थे किन्तु शिल्पी समूचे अर्ध-चित्र को भरा हुआ देखना चाहता है। वह उसमें रिक्त स्थान नहीं छोड़ना चाहता। केवल बुद्ध को अंकित देने से सम्भवत: चित्र में वह सौष्ठव न आ पाता जो अब आ गया है। जब अर्ध-चित्र को शिल्पी कई दृश्यों में बांट देना चाहता है तो वह बोधि वृक्ष और उसके चारो ओर वेष्टिनी बना देता है। इससे उसका अभिप्राय भी पूरा हो जाता है और एक वातावरण भी बन जाता है। छंदक, सिद्धार्थ के घोड़े कंथक को लिये जा रहा है। वह उस पर छतरी लगाये है। इसके पश्चात् वह एक बोधिवृक्ष आंक देता है ताकि दृश्य पृथक् रूप से पहचाना जा सके। घोड़े पर जीन पड़ी है। उसके चारों खुर देव गण अपने हाथों में साधे हुये हैं, ताकि शब्द न हो। अश्व आगे बढ़ता जा रहा है। अर्ध-चित्र के एक कोने पर चरण हैं, जिनपर पद्म अंकित है। वे बुद्ध के चरण हैं। छंदक उनके आगे घुटने टेके, हाथ जोड़े हुये बैठा दिखाई देता है। दृश्य के नीचे के भाग में छंदक बुद्ध को पहुँचा कर लौट रहा है। अब न कंथक पर जीन है और न छत्र ही। छंदक पीछे मुड़कर देख रहा है मानो वह अपनी अमूल्य निधि खोकर वापस लौट रहा हो। वह अत्यंत दुखी जान पड़ता है। पीठ पर कपड़ों की एक गठरी लदी है, जिसे शायद सिद्धार्थ छोड़ गये हैं। पीछे-पीछे देव गण भी आ रहे हैं।

पूर्व दिशा के तोरण पर ही एक अन्य अर्ध चित्र है। यह भी सांची की कला के श्रेष्ठतम उदाहरणों में से एक माना जाता है। दृश्य के बीच में विशाल बोधिवृक्ष आंक दिया गया है जिससे चित्र दो समान भागों में बंट गया है। बायें भाग में महाराज अशोक अपनी सम्राज्ञी और पुत्र के साथ बोधि-वृक्ष की पूजा करने आये हैं। उनके साथ वादकों का एक दल भी है।

पश्चिमी तोरण पर भगवान बुद्ध की 'अस्थियों के लिए युद्ध' का दृश्य है। राजा लोग अपने हाथी और घोड़े सजाकर युद्ध करने जा रहे हैं। एक ओर नगर का दृश्य है।

प्राचीन शिल्प के गवाक्ष से हम तत्कालीन समाज की झांकी देख सकते हैं। उन दिनों लोगों का रहन-सहन और पहनावा कैसा था? वे कैसे मकानों में रहते थे? राजाओं की शोभा-यात्राओं,, युद्धों, राज-प्रासादों और किसानों की झोंपड़ियों, सब के दृश्य हमें सांची के इन अर्ध-चित्रों में दिखाई देते हैं। वैसन्तर जातक के दृश्य में राजा अपने पुत्र का हाथ पकड़े हुये जा रहे हैं। रानी की

गोद में उनकी पुत्री है। रास्ते में गांव के लोग उनका अभिवादन कर रहे हैं। वे हाथ जोड़े हुये खड़े हैं। उनके वस्त्र और पगड़ियाँ सादा हैं। उनके शरीर पर आभूषण भी नहीं हैं। किसान स्त्रियाँ अपने बच्चों को लिए झोपड़ियों के बाहर बैठी हैं और किसान अपने खेतों की ओर जा रहे हैं। लोक-जीवन का सीधा-सादा चित्र है। वैसन्तर जातक के ही एक अर्ध-चित्र में नगर के भवन दिखाई दे रहे हैं। उनके गवाक्षों में स्त्री और पुरुष बैठे हुये हैं। उन दिनों तीन-चार मंजिल तक के घर बनाये जाते थे, यह राजा प्रसेनजित की शोभा-यात्रा के दृश्य से मालूम होता है। इस दृश्य से नगरी के भवनों के स्थापत्य का अच्छा-खासा परिचय मिलता है। नगर के चारों ओर एक खाई खोद दी जाती थी और जब शत्रु-सेना उस पर आक्रमण करती तो उसे पानी से भर दिया जाता था। दक्षिण की ओर के तोरण पर शत्रु-राजा की चतुरंगिनी सेना के युद्धों का दृश्य है। नगर के मकान दुमंजिले और तिमंजिले हैं। उनके बाहर खाई खुदी हुई है, जिसमें कमल खिले हैं। भारत के शिल्पियों को कमल इतना प्रिय था कि वे उसके बिना जल-राशि या सरोवर की कल्पना ही न कर सकते थे। इन्हें एक प्रतीक और अत्यधिक प्रिय था, वह था हाथी। गज और कमल,-उनसे परिपूरित सरोवर उसे और भी प्रिय था। छंदत जातक की चर्चा हम आगे करेंगे। दक्षिण तोरण के एक अर्ध-चित्र में सरोवर में कमल खिले हैं। कमलों के वन में हाथी है। वह अत्यधिक प्रसन्न जान पड़ता है। हाथी पर राज-पुरुष बैठा है। उसके हाथ में अंकुश है। कहीं बैठे हुये हाथियों पर ध्वजा लिये हुये राज-पुरुष दिखाई देते हैं। दोनों हाथी घुटने टेके हुये बैठे हैं। एक की पीठ दूसरी के पीठ को छिपाये है। केवल मुँह दिखाई देते हैं। सांची में बैलों की जोड़ी भी इसी प्रकार की बैठी हुई दिखाई देती है। पशुओं की पूछें रस्सी से बंधी हुई दिखाई देती हैं। घोड़ों के सिर पर कलगी है। कहीं विशालकाय हाथियों को सजाया गया है। उनके ऊपर पड़े हुये कपड़े में घंटियाँ लटक रही हैं। कहीं-कहीं हाथियों पर अंकुश लेकर बैठे हुये महावत दिखाई देते हैं। हाथियों के ऊपर हौदा रक्खा जाता था।

सांची के शिल्प में हाथी के अतिरिक्त अश्व और बारहसिंगे भी दिखाई देते हैं। उनपर राजा लोग सवार हैं। एक पर राजा और उसकी रानी है। अश्वों के मुख भी हाथियों की भांति ही अलग-अलग दिशा में हैं। एक के अगले भाग ने दूसरे के पिछले भाग को ढक लिया है। इस प्रकार दोनों पशुओं का पेट एक ही स्थान घेरता है। केवल मुँह दिखाई देते हैं। अश्वों पर राजा और रानी बैठे हैं। वे मुड़कर एक दूसरे की ओर देख रहे हैं। राजा के सिर पर

पगड़ी है और गले में पांच छै लड़ की मोटी माला है, जिसमें ठप्पे भी हैं। रानी के गले में छोटे-बड़े व तरतीब से पोहे हुये मोतियों की मालायें हैं। वह सिर पर दुपट्टा ओढ़े है जो टोपी जैसा प्रतीत हो रहा है। दोनों अपने-अपने घोड़ों की राशें थामे हैं। घोड़े पैर मोड़े हुये बैठे हैं। इससे पाषाण-चित्र में एक सौष्ठव आ गया है। अश्वों के सिर पर बालोंदार कलगी है। वैसी ही जैसी हम आज भी तांगेंवालों के घोड़ों के सिर पर देखते हैं। यह सज्जा दो हजार वर्ष पुरानी होगी, इसकी तो हम कभी कल्पना भी न कर सकते थे।

हाथी और अश्वों के अतिरिक्त राजा लोग रथों पर सवारी किया करते थे। सांची के शिल्प से पता चलता है कि यह रथ खुले हुये रहते थे। इनमें घोड़े जुते रहते थे। इनमें केवल दो ही व्यक्तियों के बैठने का स्थान रहता था। यह रथ विशेष-रूप से युद्धों में काम आते थे। उन दिनों गाड़ियों का भी प्रचलन था। यह गाड़ियाँ ऊपर से बन्द रहती थीं। दक्षिण तोरण के खम्भे पर एक ऐंसी ही बैलगाड़ी दिखाई देती है। इसमें तीन-चार पुरुष बैठे हैं। आगे-आगे एक कुत्ता चलता जा रहा है। गांव का यह दृश्य आँखों के आगे देहात का वातावरण खड़ा कर देता है।

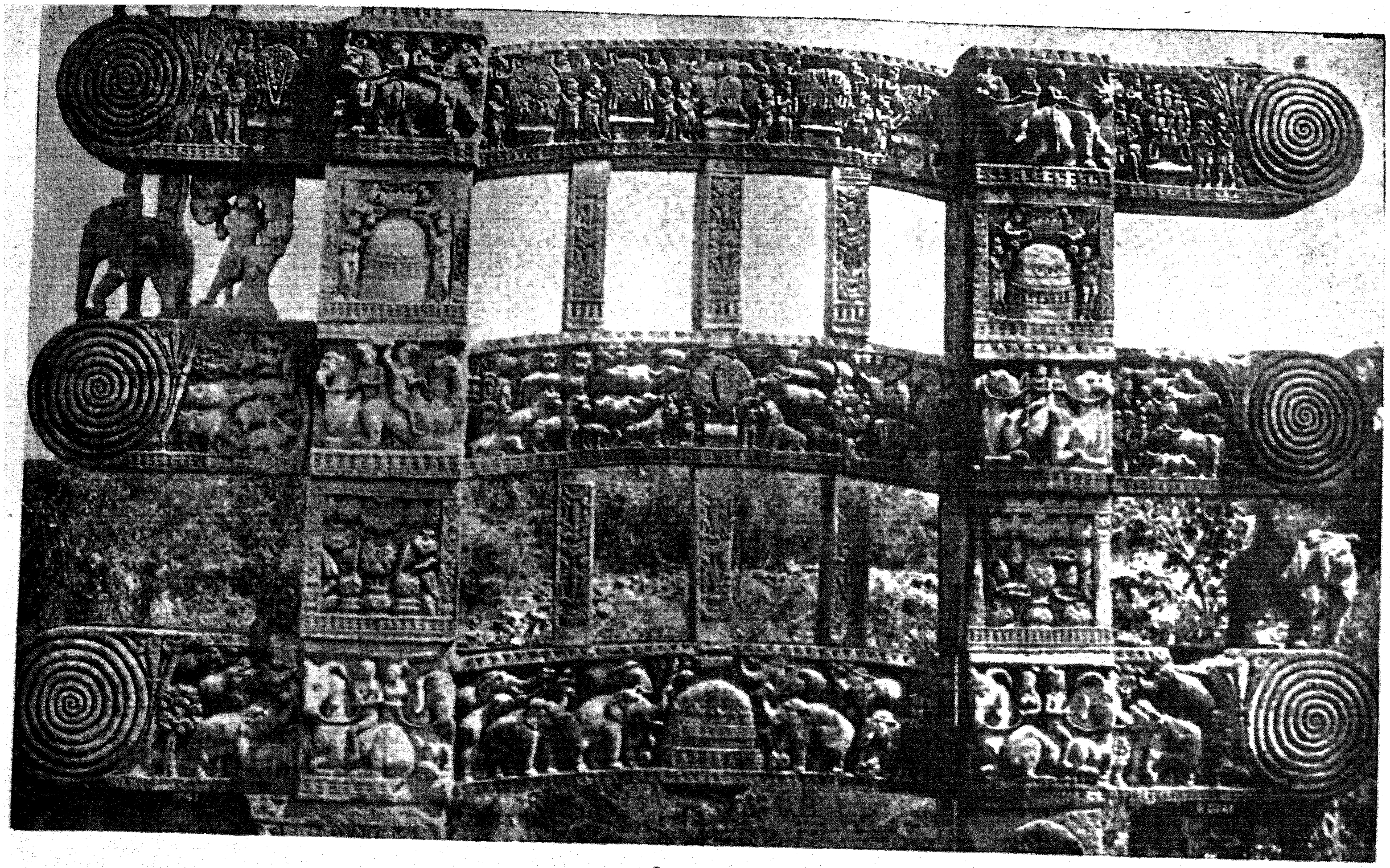
सांची के शिल्पी को पक्षियों में मयूर अधिक प्रिय है। फूलों से लदे हुये सुन्दर वृक्ष मयूरों के जोड़े और उनकी पार्श्व-भूमि में प्रेम-मग्न मिथुन! पक्षियों के भावों के अंकन के लिये मानव की पार्श्व-भूमि! कलाकार की कैसी विचित्र कल्पना है?

सांची के इस शिल्प में यद्यपि भगवान बुद्ध की जीवन-गाथा तथा जातक-कथाओं को आंका गया है फिर भी इसे धार्मिक कला की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इसके पीछे लोक-कला की परम्परा है। इसका उद्देश्य धर्म का साधना-पक्ष नहीं वरन् जीते-जागते समाज को प्रतिबिम्बित करना है। प्रश्न उठता है कि इस कला की पूर्व-परम्परा कौन सी है? राय कृष्णदास जी का अनुमान है कि, 'इसे अपनी पूर्व-परम्परा हाथी दांत पर की जाने वाली खुदाई से मिली। विदिशा के कारीगर इस कार्य में बड़े कुशल थे।' किन्तु हाथी दांत की कारीगरी और पाषाण पर अर्ध-चित्र उभारने की कला के बीच में कोई न कोई सीढ़ी होनी ही चाहिए। सांची के इन तोरणों में से दक्षिणी ओर का तोरण सबसे पहले बनाया गया है। सब तोरणों के आंकने में लगभग २५–३० वर्ष लगे होंगे। वे एक ही समय में नहीं बनाये गये।

सांची के स्त्री-पुरुषों के मुख पर चिंतन और आध्यात्मिकता की छाया नहीं दिखाई देती वरन् एक सीधा-सादापन झलकता है। साथ ही वे आनन्दित



गज—लक्ष्मी—सांची



सांची का तोरण

इन्द्र और ब्रह्मा संखसा अथवा सांकाश्य के बुद्धावतरण के दृश्य में दिखाई देते हैं। भारहुत और सांची के बहुत से विषय समान है विशेष रूप से छंदत जातक, महाकपि जातक, जेतवन दान आदि। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ कथायें लोक में अधिक प्रचलित थीं, शिल्पी अंकन के लिये उन्हीं को ले लिया करते थे।

सांची के यक्ष पुरुषों जैसे ही हैं। वे राजाओं जैसे वस्त्र और अलंकार पहने दिखाई देते हैं। पूर्व की ओर के द्वार पर धृतराष्ट्र नामक गन्धर्व है। गन्धर्व के गले में करधनी जैसी मोटी लड़ है, जिसमें गुरिये और जंजीरें हैं। बीच में चौकोर ठप्पे हैं। उसके हाथ में भी तीन-तीन उमठे हुये कड़े और दो-दो गुरियें हैं। वह एक हाथ में कमल लिये है और दूसरे हाथ से कमर बन्द को पकड़े है।

सांची की यक्षणियाँ अनन्य रूपवती हैं। वे आम की डालों को इस प्रकार पकड़े हुये दिखाई देती हैं जैसे मायादेवी साल वृक्ष को पकड़ कर उस समय खड़ी हुई थीं, जब भगवान बुद्ध का जन्म हुआ था।

सांची में नागों के भी अनेक दृश्य हैं। एक दृश्य में नाग फूल-मालायें आदि लिए, पूजा के लिये तालाब में से निकलकर आ रहे हैं। एक अन्य दृश्य में नाग राजा बड़ी प्रसन्न मुद्रा में बैठे हैं। निकट ही उनकी रानियाँ भी बैठी हैं। नर्तकियाँ नाच रही हैं।

सांची के शिल्प में मोटे पेटवाले बौने भी दिखाई देते हैं कहीं उनके मुख से कमल की बेलें निकलती दिखाई देती हैं, कहीं वे बड़ेरियों का बोझ लादे खड़े दिखाई देते हैं। सांची का शिल्प लोक-जीवन की अनूठी झांकी है।

भारहुत

विंध्य-प्रदेश में सतना के निकट एक रियासत नागौर थी, उसी के निकट भारहुत नामक गांव में एक प्राचीन स्तूप था। स्तूप तो हमारी उपेक्षा वृत्ति ने न जाने कब नष्ट कर दिया किन्तु उसकी वेदिका और तोरण के भाग सन् १८६३ में मेजर जनरल कनिंघम ने कलकत्ता संग्रहालय में भिजवा दिये। इनके स्तम्भ, सूची और बड़ेरियों पर जो शिल्प अंकित है उसी से हमें उस युग की शुंग कालीन कला का पता चलता है। वह लोक-मानस को हमारे आगे ज्यों का त्यों रख देती है।

यह स्तूप चुनार के लाल पत्थर का बना था। कनिंघम महोदय के अनुसार खुदाई के समय इसका व्यास ६८ फीट था। इसके चारों ओर भी तोरण थे, जिनका शिल्प उन्हें खुदाई में प्राप्त हुआ था। कुछ अंश इधर-उधर के गांव-वाले उठा ले गये थे और उन्होंने अपने मकानों में पत्थरों की तरह लगवा लिये थे। कुछ धोबी लोग अपने घाटों पर उठा ले गये थे और उन पर कपड़े धोने लगे थे। यह समस्त प्रस्तर-खंड एकत्रित कराकर कलकत्ता संग्रहालय को सौंप दिये गये। इसके पश्चात् कुछ अन्य खंड भी मिले जिन्हें भारत-कला-भवन काशी और इलाहाबाद के संग्रहालय में रख दिया गया है।

इन अर्ध-चित्रों के, जो स्तम्भों और बड़ेरियों पर खोद कर बनाये गये, विषय अनेक हैं। उनमें यक्ष और यक्षिणियाँ हैं, नाग हैं, कुछ भगवान बुद्ध के पूर्व-जन्म की जातक कथायें हैं और कुछ अर्ध-चित्रों को उनके जीवन की ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित कहा जा सकता है। यह समस्त लोक-कला है जो न केवल भारहुत में वरन् इस भू-खंड में जगह-जगह पनप रही थी।

भारहुत में हमें नागों के अर्ध-चित्र दिखाई देते हैं। यह दोनों प्रकार से अंकित किये गये हैं। कहीं अपने मूल नाग के रूप में और कहीं मनुष्य के रूप में, जिनके सिर पर उनका प्रतीक नाग-फन रहता है। इनमें नागराज चक्रवाक का एक आदमकद अर्ध-चित्र है। वे राजाओं जैसे ही वस्त्र पहने हैं। उनके गले में मालायें हैं और कानों में कुंडल। शिल्पी ने

उनकी प्रतिमा में इतना सौष्ठव और लालित्य भर दिया है कि वह मूर्ति उस प्रारम्भिक कला की मालूम ही नहीं होती। ऐसा लगता है कि कोई देव-पुत्र भू पर उतर आया है। उसके सिर के ऊपर से फन से उनकी आकृति में कोई भयावहता नहीं आई। एक अन्य चित्र में एक नाग राज, नागिनियों के साथ दिखाई देता है। नागनियों के सिर पर भी उनका प्रतीक नाग-फन दिखाई देता है। उनमें से एक की कमर का निचला भाग सर्पों जैसा है। नागों के और कई चित्रण भारहुत में किये गये हैं।

भारहुत के एक अर्ध-चित्र में एक दुमंजिले भवन में, छत पर कुछ स्त्रियाँ नाचती हुई दिखाई देती हैं। यह अप्सरायें हैं। इनके नीचे इनके नाम भी अंकित हैं जिनसे मालूम होता है कि यह स्वर्ग की, राजा इन्द्र की सभा की नर्तकियाँ हैं। इनके नाम सुभद्रा, सुदर्शना, मिश्रकेशी और अलम्बुषा हैं। सांची में भी राजा इन्द्र की सभा का एक दृश्य आंका गया है, जिसमें राज पुरुष बैठे हैं और एक अप्सरा नृत्य कर रही है। बौद्ध-धर्म में नृत्य-गान का कोई स्थान नहीं है किन्तु भारहुत या सांची का शिल्प लोक-जीवन से अधिक अनुप्राणित हुआ है। जीवन के सभी पहलुओं का स्पर्श करते समय उसने नृत्य या गान को बहिष्कृत नहीं कर दिया। यह तो तत्कालीन समाज का एक दर्पण है। जिस भवन की छत पर नृत्य चल रहा है, उसकी छत को कुछ बौने अपने दोनों हाथों से साधे हुये हैं। बौनों की छटा देखने ही योग्य है। वे घुटनों तक की धोती पहने हुये हैं। सिर पर लट्टूदार पगड़ी है। इनमें से चार अप्सरायें नाच रही हैं। उनके साथ एक बालक भी नाच रहा है। स्त्रियों के हाथ चूड़ियों से भरे हुये हैं। अप्सरायें कान पर हाथ रखकर अलाप ले रही हैं। उनके गले में चौलड़ी मालायें हैं। कुछ स्त्रियाँ नीचे बैठी हैं। उनके सिर पर भी पगड़ियों जैसा दुपट्टा है इन से मालूम होता है कि शुंग काल में स्त्री या पुरुष किसी का सिर खुला हुआ नहीं रहता था। उन दिनों स्त्रियाँ ऊपर का भाग बहुधा अनावृत ही रखती थीं। उनकी साड़ी कमर बन्द से बंधी रहती थी। वह घुटनों तक ही रहती थी। वे सिर पर दुपट्टा ओढ़ती थीं जो बालों को ढके रहता था।

भारहुत के अर्ध-चित्रों में कुछ ऐसे चित्र भी हैं जिनके विषय ऐतिहासिक कहे जा सकते हैं। इनमें महाराज प्रसेनजित और अजातशत्रु के भगवान बुद्ध के पास जाने की घटनायें प्रस्तरांकित हैं। महाराज प्रसेनजित अपने मंत्रियों और सेवकों के साथ एक रथ पर बैठ कर, जिसमें चार घोड़े जुते हैं, मिलने जा रहे हैं। सांची में भी हमें राजाओं के रथ में चार घोड़े जुते हुये दिखाई देते हैं। महाराज अजात शत्रु एक सजे हुये हाथी पर बुद्ध के दर्शन करने जा रहे हैं। यह विषय भी सांची की शिल्प कृतियों में दुहराये गये हैं।

भारहुत के शिल्प के सबसे उत्कृष्ट चित्र हैं माया देवी का स्वप्न और जेतवन का दान।

माया देवी के स्वप्न में वे शांत भाव से सो रही हैं। रात का समय है। यह दिखाने के लिये ही शिल्पी ने कोने में जलता दीपक अंकित कर दिया है। दासियाँ भी ऊँघने लगी हैं। पलंग के पीछे की ओर एक देव-पुरुष खड़ा दिखाई देता है। एक अत्यंत सुन्दर हाथी आकाश पथ से उनकी ओर दौड़ता हुआ आ रहा है। माया देवी ने स्वप्न देखा था कि एक हाथी आकर उनकी कुक्षि में समा गया है। अर्ध-चित्र एक वातावरण की सृष्टि करने में समर्थ है।

जेतवन दान की कथा भी भारहुत के शिल्पियों ने बड़ी सफलता के साथ आंकी है। इसमें अनाथ-पिंडक ने राजकुमार जेत से उतनी स्वर्ण-मुद्राओं के मूल्य पर भूमि ली थी जितनी उस पर बिछ जावें। श्रद्धावान अनाथ पिंडक को यह भूमि विहार के लिये बुद्ध को अर्पित करनी थी। इस अर्ध-चित्र में मुहरें गाड़ियों में से उड़ेल कर जमीन पर बिछाई जा रही हैं। राजकुमार जेत खड़े हैं और अनाथ पिंडक भी हाथ में गडुआ लिए खड़े हैं।

जातकों में छंदत जातक शिल्पियों को विशेष प्रिय रहा है। उन्होंने सांची और अजंता में भी इसे दोहराया है। भारहुत के चित्रों में अनेक जातक दिखाई देते हैं। उनमें दशरथ जातक, ऋषि शृंग जातक, महाकपि जातक, मृग जातक आदि हैं। दशरथ जातक में राम भरत को अपनी चरण-पादुकायें देते हुये दिखाई देते हैं। दशरथ जातक की कथा रामायण के कथानक कुछ भिन्न है। उसमें दशरथ वाराणसी के राजा हैं और राम और लक्ष्मण दो पुत्रों के अतिरिक्त उनके सीता नाम की पुत्री भी है। इसमें राम, रावण का युद्ध नहीं होता पर राम छः वर्ष का वन-वास अवश्य करते हैं। राम-कथा का यह रूप हमें आश्चर्य में डाल देता है।

चन्द्र किन्नर की कथा, हम सांची में भी देखते हैं, जिसमें वाराणसी का राजा उसकी पत्नी पर मुग्ध होकर किन्नर को मार डालता है और किन्नर को इन्द्र की कृपा से पुनः प्राण-दान मिलता है। सांची में ऋषि शृंग जातक भी प्रस्तरांकित हैं किन्तु भारहुत का शिल्प-अंकन बड़ा ही विचित्र है। ऋषि शृंग एक तपस्वी के साधना-भ्रष्ट हो जाने की कथा है। अर्ध-चित्र के कोने पर एक छोटी सी झोंपड़ी है जिसके आगे एक लकड़ी पर दो छींके लटक रहे हैं। छींकों पर दो मटकियाँ रक्खी हैं। एक ऋषि प्रज्वलित अग्नि में आहुतियाँ डाल रहा है। अग्नि-पूजा के दृश्य बौद्ध शिल्प में अन्यत्र नहीं पाये गये। बौद्ध वाङ्मय में एक कथा आती है जिसमें अग्नि की निन्दा की गई है कि वह स्वयं अपनी ही रक्षा करने में असमर्थ है, दूसरों की रक्षा कैसे करेगा?



जेतवन दान – भारहुत



यक्षिणी–भारहुत

इस दृश्य में एक और विशेषता है, ऋषि के जटा-जूट और दाढ़ी, मूछें हैं इसका पहनावा भी कुछ विचित्र है। यह दो घाघरे पहने हुये है, जो एक कमर से और दूसरा छाती के ऊपर से बंधा है। दूसरे कोने में भी एक ऋषि है। उसकी केवल कमर में घाघरा है। एक आकृति जो टूट गयी है, भूमि पर पड़े हुये एक नग्न बालक को उठा रही है। सम्भव है कि किसी हिन्दू तपस्वी को वन में यज्ञ करते हुये देखकर कलाकार के मानस पर वह दृश्य उतर गया हो और जब ऋषि की कथा का प्रसंग आया हो उसने वही चित्र शिल्प में उतार दिया हो।

छदंत जातक में बोधिसत्व ने एक बार हिमालय की तलहटी में हाथियों के राजा के यहाँ जन्म लिया। उस समय उनके छः दांत थे। बड़े होकर उन्होंने राज्य भार संभाला। उस समय उनके दो रानियाँ थी, महाभद्रा और चुल्लभद्रा। छोटी रानी को यह भ्रम हो गया कि छदंत मेरी अपेक्षा छोटी रानी को अधिक स्नेह की दृष्टि से देखता है। वह मन ही मन कुढ़ने लगी और मर गई। उसने बनारस के राजा के यहाँ जन्म लिया और अपने पिता से कहकर सोनन्तर शिकारी को भेजा कि वह छदंत के दांत ले आवे। छदंत तो प्रज्ञावान थे। उन्होंने सारा रहस्य जान लिया और अपने हाथ से दांत उखाड़कर उसे दे दिया किन्तु वे पीड़ा के कारण जीवित न रह सके। उन्होंने प्राण दे दिये। राजा की पुत्री के पास जब सोनन्तर पहुँचा और उसे यह समाचार सुनाया गया तो उसका भी प्राणान्त हो गया। यह जातक भारहुत और सांची में आंका गया है।

महाकपि जातक की कथा बड़ी मनोरंजक है। एक बार बोधिसत्व ने वानरों के राजा के यहाँ जन्म लिया। वे हिमालय की तलहटी में राज्य करने लगे। उनके राज्य में गंगा के तट पर एक आम का पेड़ था जिसके फल मीठे होते थे। एक बार उसका एक फल गंगा की धारा में जा गिरा। वह बहते-बहते बनारस पहुँचा। सोने के रंग का वह आम राजा के पास पहुँचाया गया। राजा को वह आम बहुत पसन्द आया और वह स्वयं अपने सेवकों और शिकारियों को लेकर आम के पेड़ की खोज में चल दिया। उसने पेड़ पर वानर दल देखा तो बहुत क्रुद्ध हुआ और आज्ञा दी कि इन सब को मार डाला जाय। रात घिर आई थी। बोधिसत्व ने जब यह सुना कि सबेरे राजा के सिपाही इन वानरों को मार डालेंगे तो उसने रात में ही उन्हें नदी के उस पार पहुँचा देने का निश्चय कर लिया। बीच में नदी की धारा थी। बोधिसत्व ने स्वयं अपने शरीर के ऊपर से सब बन्दरों को नदी के पार पहुँचा दिया। वाराणसी का राजा यह सब दृश्य देख रहा था। उसे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने बोधिसत्व

को नीचे बुलाकर उनसे धर्म के उपदेश सुने और वापस लौट गया। भारहुत के एक अर्ध-चित्र में एक राजा वृक्ष के नीचे चौकी पर बैठा है और दूसरी पर बोधिसत्व बैठे हैं। ऊपर के दृश्य में एक बानर दो वृक्षों के बीच में लेटा हुआ सा दिखाई देता है, वे स्वयं बोधिसत्व हैं। सांची में भी एक ही अर्ध-चित्र में कई दृश्य हैं। बीच में नदी की धारा है, जिसमें जल की लहरियां दिखाई गई हैं। नदी की धारा में मछलियां तैर रही हैं। एक ओर राजा घोड़े पर खड़ा है। उसके पास ही वादक और सैनिक हैं। ऊपर वट-वृक्ष के नीचे महाकपि राजा को धर्मोपदेश दे रहे हैं। एक ओर एक सैनिक छिपा हुआ है। वह उस कपि को मारने के लिये तरकश ताने है जो कूदकर नदी की धारा को पार करना चाहता है। दूसरी ओर के वृक्ष पर भी कपि दिखाई दे रहा है। उस ओर वृक्ष है जिसके नीचे हिरन बैठे हैं। भारहुत पर इस प्रकार के पत्थर पर काटे हुये चित्रों की संख्या काफी है। कुछ ऐसे अर्ध-चित्र है जिसके विषय में यह तय नहीं हो पाता कि यह किस जातक के अंश हैं? भारहुत की इस लोक-कला में उस युग का समाज अपने दर्शन दे रहा है। कहीं अध्यापक बालकों को पढ़ा रहे हैं, कहीं मछुये जाल बुन रहे हैं। एक जातक में हिरन के बंधन उसका मित्र कछुआ काट रहा है। यह कथा हितोपदेश में भी आती है।

कुछ दृश्य हास्य के हैं। कुछ बन्दर एक हाथी पर बैठे हुये जा रहे हैं। उनके आगे एक बन्दर बाजा बजाता हुआ जा रहा है। एक अन्य दृश्य में ग्वाला दही की मटकी लिये जा रहा है और एक बन्दर हाथ डालकर उसमें से दही निकाल रहा है। एक अर्ध-चित्र में एक विशाल काय मनुष्य चौकी पर बैठा है और बन्दर उसके दांत में रस्सा बांध कर उसे खींच रहे हैं। भला इन दृश्यों से आध्यात्मिकता का क्या नाता?

भारहुत के शिल्पी ने कमल के विभिन्न प्रकार के अंकन में अपनी मौलिक सृजन-शक्ति व कल्पना प्रदर्शित की है।

कमल का इतने प्रकार का इतना सफल अंकन किसी कला की किसी शैली में अब तक नहीं हुआ। इसे कला-समीक्षक श्री फर्गुसन ने भी अपने भारतीय और पूर्वीय स्थापत्य के इतिहास में मुक्त कंठ से स्वीकार किया है। यह लोक-कला जिसकी छटा हमें भारहुत में दिखाई देती है, दूर-दूर तक फैली हुई थी।

जैसा कि हम कह चुके हैं, भारहुत के इस प्रारम्भिक बौद्ध-शिल्प में, शिल्पकार भगवान बुद्ध की प्रतिमा तो आंकते ही न थे, पर उनके प्रतीकों की उपासना अनेक स्थानों पर दिखाई देती है। भारहुत के एक स्तम्भ पर अजात शत्रु की बुद्ध पूजा का दृश्य आंका गया है। वे अपनी रानियों के साथ हाथी पर आते

हैं। फिर उसी फलक में वे हाथी पर से उतरते हुए भी दिखाई देते हैं। ऊपर की ओर एक कोने में आसन है, जिसपर फूलों और बेलों का अलंकरण है। आसन के नीचे शिला-पट्ट पर भगवान बुद्ध के दोनों चरण आंके गये हैं। उनके बीच में चक्र है। अजातशत्रु विनत भाव से दोनों हाथ जोड़े हुये बैठे हैं। बुद्धासन के ऊपर छत्र तना है, जिसमें पंचलड़ी मालायें झूल रही है।

भारहुत के ही एक अन्य अर्ध-चित्र में हाथी अपनी हथिनियों और बच्चों को लेकर बुद्ध की पूजा करने आये हैं। उनमें से कुछ घुटने टेककर बैठे दिखाई देते हैं। आसन पर फूल पड़े हैं। आसन से सटा हुआ बोधि-वृक्ष है। उसके निकट ही एक भिक्षु हाथ जोड़े हुये खड़ा है व एक नागरिक है। कहीं चक्र की पूजा होती हुई दिखाई देती है।

सांची में भी भगवान के प्रतीकों की उपासना अनेक स्थलों पर दिखाई देती है। महानिष्क्रमण के दृश्य में छदंक भगवान बुद्ध के चरणों की पूजा करता दिखाई देता है। 'रामग्राम में अशोक की यात्रा' की चर्चा हम सांची के प्रकरण में ही कर चुके हैं। इन प्रतीकों पर सदैव छत्र तना रहता है जो सम्मान का सूचक है। दक्षिण दिशा वाले तोरण पर आठ मृग और चार लोकपाल अपनी पत्नियों के साथ बोधिवृक्ष की उपासना कर रहे हैं। चक्र में बत्तीस अरे है। चक्र के ऊपर छतरी तनी है।

स्तूपों की हर्मिकाओं और बुद्धों की सम्बोधि के प्रतीक; वृक्षों के ऊपर भी यह छतरी तनी हुई दिखाई देती है। उनमें मालायें लटकती रहती हैं। दक्षिण तोरण के ही परिनिर्वाण के स्तूप पर हर्मिका को अनेक छतरियों और फूल-मालाओं से सजा दिया है। छत्र सम्मान का द्योतक है अतः जिसे शिल्पकार अधिक आदर देना चाहता है, उस पर अधिक छतरियाँ रख देता है। दक्षिण तोरण पर ही मनीषी बुद्धों के प्रतीक, स्तूप पर, जो सम्भवतः शाक्यमुनि का है, पांच छतरियाँ तनी हैं। शेष स्तूपों पर एक-एक छतरी है।

भारहुत और सांची के प्रारम्भिक बौद्ध-शिल्प में बुद्ध पूजा का यही स्वरूप दृष्टिगोचर होता है।

भारहुत के शिल्प से हमें शुंग युग के लोगों के रहन-सहन और पहनावे का पता चलता है।

पुरुष धोती पहना करते थे किन्तु उसका पहनावा कुछ भिन्न था। वे एक छोर कमर में लपेट लेते थे और लांग पीछे खींच लेते।[1] धोती के ऊपर कभी-

1. डा. मोतीचन्द्र भारतीय वेशभूषा पृष्ठ ६३

कभी पटका भी बंधा रहता था, जिसके दोनों छोर नीचे लटकते रहते थे। वे उत्तरीय डालते थे। यह दुपट्टा कभी बायें कन्धे पर पड़ा रहता था और कभी गर्दन में रहता था। उनके दोनों छोर लटकते रहते थे। उसके अतिरिक्त शरीर का ऊपरी भाग खुला रहता था।

शुंग काल में स्त्री अथवा पुरुष कोई भी नंगे सिर नहीं रहता था। पुरुष कामदार पगड़ियाँ बांधा करते थे। सिर के बालों का जूड़ा बनाकर सिर पर पगड़ी बांध दी जाती थी। इस प्रकार उसमें सामने की ओर एक लट्टू निकल आता था। इन साफों और पगड़ियों में झालरें भी टंकी रहती थीं। यह पगड़ियाँ भिन्न-भिन्न ढंग से बांधी जाती थीं। कभी इनमें आभूषण और पुष्पालंकार भी रहते थे।[1]

पुरुष गहने भी पहनते थे। उनके कानों में गोल कुंडल रहते थे। गले में कंठे और चार-पांच लड की मालायें रहती थीं। हाथों में भी अलंकार रहते थे। नीचे के भाग में साड़ी पहना करती थीं। जिस पर एक पटका बंधा रहता था। डा. मोतीचन्द जी ने यक्षिणी चन्दा की वेश-भूषा का जो विवरण दिया है, उससे उस युग की नारी का चित्र सामने खिंच जाता है।

"चंदा की वेश-भूषा से शुंग युग की एक सम्भ्रान्त नारी की वेशभूषा का पता चलता है। उसकी धोती कमर तक पहुंचती है। उसपर खरबुजिया मनकों और चौखूटी तख्तियों से बनी एक सतलड़ी करधनी है। कमर बन्द फुल्लों और पंजकों से सजा है और इसके किनारों पर दाने दार बेल बनी है। पटका लहरियादार है। उसके शरीर का ऊपरी भाग अनावृत है पर दाहिने स्तन के नीचे की धारियाँ शायद पतले चादर की द्योतक हैं। बायें कंधे से मोती की बद्धी छाती पर जनेऊ की तरह पड़ी है। गले में छलड़ी तोक है। जिसकी पहली लड़ में पद्म, अंकुश और श्री वत्स के आकार के टिकरे हैं। दूसरी लड़ गोल मनकों की है, और लड़ें गोल और लम्बोतरे मनकों से बनी हैं। गले में स्तनों के बीच लटकती हुई टिकरेदार मोहन-माला है। कानों में वप्र कुंडल (घुमाव दार) हैं और मांग में सीस मांग। सिर एक झीनी ओढ़नी से, जिसके दोनों पल्ले एक दूसरे को पार करते, हैं, ढका है।"

भारहुत की अपेक्षा सांची का शिल्प अधिक विकसित है किन्तु सांची के प्रथम स्तूप का निर्माण अशोक के समय में हुआ, इसीलिए उसकी चर्चा भारहुत

---

1. भारहुत के अर्ध-चित्रों का अध्ययन करके डा. मोतीचन्द जी ने शुंग काल की इन पगड़ियों के चौबीस विभिन्न प्रकार बताये हैं देखिये भारतीय वेश भूषा-पृष्ठ ६७

से पहले कर ली गई। सांची का दूसरा स्तूप भारहुत के काल अर्थात् १०० से ५० ईसवी पूर्व तक की रचना है। उसमें आकृतियों की उतनी सुगढ़ता और सुडौलता नहीं आ पाई है फिर भी सारे दृश्य को एक वातावरण में बांध दिया है। उसे विभिन्न पशुओं और कमल आदि की बेलों से भर दिया गया है। भारहुत में कमल को इतने प्रकार से आंका गया है कि विश्व के किसी कला-मन्दिर में, उसके इतने प्रकार नहीं दिखाई देते, जितने भारहुत में हैं। प्रत्येक की रचना अनूठी है और वे एक दूसरे की अनुकृति नहीं जान पड़ते।

कलाकार की कल्पना निर्झर के सदृश्य है। जब उसके सामने पथ अवरुद्ध दिखाई देता है तो वह सहस्र धाराओं में फूट पड़ती है। शिल्पी को जब स्वयं भगवान बुद्ध के द्वारा उनकी प्रतिमा अंकित न करने का आदेश मिला तो वह प्रकृति के सौन्दर्य और लोक के जीवन को आंकने लगा। भारतीय स्थापत्य में भी ऐसी ही स्थिति तब दिखाई देती है, जब शिल्पी को मस्जिदें बनानी पड़ती है शिल्पी वे ही थे जो अबतक विशाल प्रतिमायें बनाते रहे थे। धारा का रुख बदल जाता है और शिल्पी का ध्यान बेल-बूटों और नकाशी की ओर चला जाता है। उस में वह जो कमाल दिखाता है, पत्थर को मोम समझकर जो बारीक जालियाँ काटता है, वह अहमदाबाद की मस्जिदों की खिड़कियों में अब भी मौजूद है। भारहुत के शिल्पी का ध्यान लोक-जीवन के अंकन की ओर अधिक है। वह जातक-कथाओं को अधिक आंकता है, यद्यपि उसने 'अजात शत्रु की पूजा,' 'माया देवी का स्वप्न भी' आंके हैं। सांची में उसका 'कैनवास' बड़ा हो जाता है। अर्ध-चित्र का आकार भी बढ़ जाता है और उसमें अधिक आकृतियों का समावेश होने लगता है। भारहुत की आकृतियों से, विशेषतः जातक-कथाओं की पुरुष व नारी आकृतियों से, घटना का चित्रण तो हो जाता है किन्तु आकृति के मुख पर कोई भाव नहीं आ पाते। सांची में इस दिशा में कुछ विकास होता दिखाई देता है। अशोक की रामग्राम की यात्रा में अथवा महाभिनिष्क्रमण के दृश्य में आकृतियों के मुख पर मनोभावों की एक हलकी सी छाया दिखाई देती है। भारहुत में कुछ हल्के-फुल्के विषय भी ले लिये गए हैं जैसे बन्दरों की हाथी पर सवारी, राक्षस का दांत उखाड़ा जाना, बन्दरों का हाँडियों में हाथ डालकर दही निकालना आदि। सांची में इस प्रकार के दृश्य प्राप्त नहीं होते। उसमें या तो बुद्ध-जीवन की घटनायें हैं, या जातकों के गम्भीर अंश।

भारहुत के अर्ध-चित्रों को देखने से उनमें भी कला के स्तर दिखाई देते हैं।

जातक-कथाओं के अंकन से यक्ष-यक्षिणियों व नागराज चकवाको के अंकन की कला अधिक विकसित है। मूर्ति पत्थर को चारों ओर से काटकर बनाई

जाती है किन्तु अर्ध-चित्र पत्थर पर एक ओर ही उभारा जाता है। शिल्पी उसमें जितनी गहराई ले आता है, अंग-प्रत्यंग उतना ही अधिक सौष्ठवमय व सुडौल दिखाई देने लगता है। सांची के तोरणों पर आंकी हुई कृतियों में शिल्पी ने मनुष्यों के अंगों को भारहुत की अपेक्षा गहरा काटा है और उसमें गोलाई देने की चेष्टा की है। भारहुत के कुछ अर्ध-चित्र काठ की खुदाई जैसे ही जान पड़ते हैं किन्तु यक्ष-यक्षिणियों की मूर्तियों आदि में काफी सजीवता आ गई है। वह सांची की कला के अधिक निकट जान पड़ते हैं। हाथियों की पूजा, चक्र की पूजा आदि ऐसे ही दृश्य हैं।

सांची के शिल्पकारों ने अपने अंकन के लिए विषय तो भगवान की जीवन-गाथा और जातक-कथाओं से ही लिये हैं किन्तु उसने उन्हें बड़े विशद्-रूप में आंका है। 'अस्थियों के लिए युद्ध,' 'महाभिनिष्क्रमण' आदि ऐसे ही दृश्य हैं। सांची में सबसे पहले दक्षिण दिशा की ओर का तोरण बना, उसके और पूर्वीय अथवा उत्तरी तोरण के शिल्प के स्तर में भी अंतर है। वह उत्तरोत्तर विकसित होता चला गया है। यद्यपि इन तोरणों के बनने के समय में कोई विशेष अंतर नहीं है किन्तु उनमें कुछ नये तत्वों का भी समावेश होता गया है। दक्षिणी तोरण पर विदेशी प्रभाव का कोई चिन्ह नहीं दिखाई देता। वह उत्तरी व पूर्वीय तोरण पर ही परिलक्षित होता है, और पश्चिमी तोरण पर जो सबसे अंत में बना, और भी बढ़ा हुआ दिखाई देता है। सिंह, बारह सिंघे आदि के पंख दिखाई देने लगते हैं।[१] वे गन्धर्व भी जो बोधिद्रुम पर मालायें अर्पित करते हुए दिखाई देते हैं, पंखदार हैं।[२] पूर्वीय तोरण के पीछे के भाग पर एक दृश्य आंका गया है। इसमें वन के समस्त पशु-पक्षी भगवान की पूजा करने के लिए बोधिवृक्ष तक आये हैं। उनमें नाग है जो अपने पांच फन फैलाये हुए बैठा है, हिरन है, सिंह हैं, भैंसे हैं। इनमें कुछ ऐसे मेढ़े भी हैं, जिनके मुख मनुष्यों जैसे हैं और शेष शरीर पशुओं जैसा।[३] यह समस्त विदेशी प्रभाव ही है जो सांची की कला पर पड़ता हुआ दिखाई देता है, यद्यपि वह बहुत कम है और केवल उसी के कारण सांची की कला विदेशी तत्वों से प्रभावित नहीं कही जा सकती।

भारत ने अपने द्वार सदैव खुले रक्खे हैं। अत्यंत प्राचीन समय से अनेक देशों के साथ उसके व्यवसायिक व सांस्कृतिक सम्बन्ध रहे हैं। विचारों से लेकर

---

१. The Monuments of Sanchi, Plate 63

२. वही Plates 61-64

३. वही Plate 44-46

वस्तुओं तक का आदान-प्रदान भारत व अन्य देशों के बीच में चलता रहा है। महाभारत काल में बलख, बुखारा, ताजिकिस्तान आदि भारतवर्ष के प्रदेश थे। वे भारत के सम्राट को अपना चक्रवर्ती राजा मानते थे। महाभारत में राजसूय यज्ञ के समय धर्मराज युधिष्ठिर को अपने उपहार अर्पित करने के लिए इन समस्त देशों के राजालोग स्वयं आये थे।

"राजसूय यज्ञ में उपायन स्वरूप कंबोज (आधुनिक ताजिक प्रजा तंत्र) से ऊनी वस्त्र, घोड़े, सुनहले काम किये हुये समूर और चमड़े, कार्पासिक (आधुनिक काफिरिस्तान) से सुन्दर दासियाँ, भरूच से गन्धार के घोड़े, सिंघ के पार बलूचिस्तान से, जिसमें वैरामक, पारद, बंग, कितव आदि जन-समूह बसते थे, बकरे, गाय, ऊँट, खच्चर, फलों की शराब, शाल और नम्दे, प्राग्ज्योतिष (आधुनिक आसाम से) घोड़े, अश्मसार (संगपशव) के बने पात्र और हाथी दांत की मूठों वाली तलवारें, द्वक्ष्य (बदख्शां) एक पाद (शायद कच्छ) और ललटाक्ष (आधुनिक लदाख) से सुवर्ण और घोड़े, हूण, ओहुन (स्वात के एक प्रदेश का प्रचलित नाम) हारहूर (हिरात) हैयवन् (हिन्दू कुश) से काली गर्दनों वाले खच्चर, चीन और वाल्हीक (आधुनिक वल्ख) से ठीक नाप के खुशरंग और मुलायम कपड़े, ऊनी वस्त्र, रंकु (पामीर) के बने पश्मीने, नमदे (कुट्टीकृत) मेमनों की खालें, सीमाप्रांत (अपरांत) से अच्छे शस्त्र, पूर्व भारत से बहुमूल्य आसन, यान, सुवर्ण रत्न तथा हाथी दांत के काम वाली शय्यायें, नाराच और अर्ध-नाराच नाम के बाण, जरफशानदी (शोतादा) के प्रदेशों से पिपीलक स्वर्ण, हिमालय की पूर्वी ढाल तथा वारिष (वारीसाल) के किरात देश से कपड़े, रत्न, सुवर्ण, चंदन और अगरु और कालीर, वंग कलिंग, ताम्र लिपि तथा पुन्ड्र से दुकूल, कौशिक, पत्रोर्ण और प्रावार (चादर) तथा सिंहल से धोती, समुद्रसार, वैडूर्य, शंख और हाथी के रंगीन झूल आये।[1]"

यह वस्तुयें राजसूय यज्ञ के अतिरिक्त भी उन देशों से भारत में आती होगीं। भारत की कुछ वस्तुयें भी जाती रही हैं। तुर्की के लेम्पेस्कास नामक स्थान से एक तश्तरी प्राप्त हुई है।[2] जिसमें भारत माता एक स्त्री के रूप में आंकी गई हैं और वे वस्तुयें दिखाई गई हैं जो भारत से उन दिनों विदेशों को भेजी जाती थीं। भारत माता सिर पर गन्धमुकुट पहने हुये हैं और इसमें ईख की दो पोरें खुरसी हुई हैं। उनका शरीर एक मलमली साड़ी से आवृत है। जिस

---

१. भारतीय कला और साहित्य में जन्म भूमि की कल्पना, डा. मोती चन्द, नया साहित्य ५.

२. वही

तिपाही पर वे बैठी हैं, उसके पाये हाथी दांत के बने हुये हैं तश्तरी के दाहिनी ओर चितकबरा मुर्गा और एक शिकारी कुत्ता है। बाईं ओर एक सुग्गा और लंगूर है। चित्र के सामने की ज़मीन में दो शिकारी कुत्ते अपने रक्षकों के साथ हैं।

"भारत माता के उपरोक्त चित्र से वह पता चल जाता है कि ईसा की प्रारम्भिक सदियों में इस देश से रोम को शक्कर, गन्ध-मुकुट जो इत्र में डले हुये तमालपत्रों से बनता था, हाथी दांत, चितकबरा मुर्गा, शिकारी कुत्ते, चीते बन्दर और सुग्गे जाते थे। इसके मानी यह नहीं होते कि केवल यही वस्तुयें इस देश से रोम को जाती थीं। यहाँ तो केवल इन लाक्षणिक प्रतीकों द्वारा भारत माता का रूप खड़ा करने का प्रयत्न कलाकार ने किया है।"

यह आदान-प्रदान तो प्रथम शताब्दी का है किन्तु ईसा से १५ वीं शती से भी पहले भारत के उपनिवेश बन गये थे। वस्तुओं के साथ ही साथ विचारों का आदान प्रदान हुआ साथ ही भारत की कला के कुछ 'अभिप्राय' अन्य देशों में गये और कुछ विदेशी अभिप्रायों ने भारतीय कला में प्रवेश किया। पक्ष-युक्त सिंह, बैल, और मनुष्य भी, जिनका आधा शरीर पुरुष का दिखाया जाता है तथा नीचे के भाग में अलंकरण आदि रहता है, विदेशी कला की ही देन हैं। यह प्रभाव सांची व भारहुत की कला-कृतियों पर भी परिलक्षित होता है। भारहुत में तोरण पर एक पशु ऐसा दिखाई देता है, जिसका शरीर पशु का है और मुख मनुष्य का। मुख्य-रूप से यह समस्त अभिप्राय लघु एशिया के थे जो ईरान के रास्ते से भारत में आये। यह अभिप्राय ईरान और भारत की कला में इसलिए दिखाई देते हैं। वह अभिप्राय जो भारतीय कला के प्रारम्भिक युग में दिखाई देते हैं, अनेक हैं।[१]

---

१. "A great variety of motifs found in Maurya, Sunga, and early Andhra art and thus ante lating the age of Hellenistic influence, present a Western Asiatic appearance, suggesting parallels in Sumerian, Hittite, Assyrian, Mykenean, Cretan, Trojan, Lykian, Phoenician, Achaemenid and Scythian cultures. A partial list of such motifs would include such mythical monsters as winged lions, centaurs, griffons, tritons, animals formally posed in profile with head forward, facing or turned back, animals addorsed and affronted, animal combats and friezes; the sun car with four horses, the bay wreath and mural crown; altar and battlement friezes of Bharhut and Orissa; the tree of life, mountain and water formulae, palmette and honeysuckle (blue lotus) rosette and petal-moulding (rose lotus) etc."

—Dr. Coomarswamy in History of Indiain and Indonesian art, Page 11.

इन विदेशी अभिप्रायों के अतिरिक्त भारत के अपने परम्परा-गत प्रतीक भी थे। उन्हें भी कला में स्थान प्राप्त हुआ। भारतीय कला का सबसे महान प्रतीक पद्म है। जैसा कि हम कह चुके हैं, कि यह पद्म स्वयं पृथ्वी का द्योतक है। पृथ्वी की आठ दिशायें उसके अष्ट दल हैं। पृथ्वी की समृद्धि, श्री, इस पद्म पर ही स्थित रहती है। पद्म, हिन्दू, बौद्ध और जैन सभी मतों में पवित्रता का प्रतीक माना जाता है। वस्तुतः वह है भी। कमल कीचड़ में में जन्म लेकर भी उससे ऊपर रहता है, उस प्रज्ञावान मानव की भांति, जो संसार में रहकर भी इसके राग-द्वेष से ऊपर उठा रहता है। कमल पर जल की बूंद नहीं ठहरती, ज्ञानी का मन भी विकारों से निर्लिप्त रहता है। कमल में एक-एक पत्ता जुड़ता जाता है, विवेक-शील नये श्रेयस्कर तत्वों को ग्रहण करता जाता है। बौद्ध-वाङ्मय में कमल स्वसृजन का प्रतीक है। भारतीय कला में कमल के इतने रूप दिखाई देते हैं कि शिल्पी की सृजन शीलता और कल्पना की सराहना किये बिना नहीं रहा जाता। कमल भारत के सभी प्रान्तों में मिलता है और उसके अनेक प्रकार भी रहते हैं। कमल बहुधा लाल रंग का, रहता है इसीलिए उसे रक्तोत्पल कहते हैं। प्राचीन भारतीय भित्ति-चित्रों अजंता, सितन्नवासल और बाघ आदि में सभी रंगों का कमल दिखाई देता है। यह केवल शिल्पकारों की कल्पना नहीं है। श्वेत कमल काशी के पास तथा अन्य स्थानों में होता है। इसे शतपत्र, महा पद्म, नल और सिताम्बुज आदि कहते हैं। नीला कमल काश्मीर, तिब्बत और चीन में भी कहीं-कहीं मिलता है। पति कमल भी कई देशों में प्राप्त होता है। कला में कमल आसन के स्थान पर मिलता है। इसमें बहुधा दो कमलों को उल्टा करके आसन सा बना दिया जाता है, और उस पर देव-मूर्ति बैठी हुई दिखाई जाती है। कमल का आसन गुप्त-कला में व उसके पश्चात् की शिल्प-शैलियों में दिखाई देता है। गांधार शिल्प की कुछ प्रतिमायें भी कमल पर हैं। मौर्य कला में स्तम्भ पर कमल की मुड़ी हुई पंखुड़ियों का कमल रहता है। चौकी पर भी कमल का अलंकरण रहता है। शुंग-काल का शिल्पी तो कमल के बिना जलाशय आदि की कल्पना ही नहीं कर सकता। सांची और भारहुत के अर्ध-चित्रों के विवरण के साथ हम कमल की चर्चा कर चुके हैं। शिल्प के अलंकरण में कमलों की बेलें दिखाई देती हैं, जिन्हें गोमूत्रिका कहते हैं। इन में भांति-भांति के पुष्प और कलिकायें रहती हैं। भारहुत और सांची दोनों ही शिल्प-केन्द्रों में इस प्रकार की अनेक बेलें दिखाई देती हैं। अजंता और बाघ गुहा आदि में तो इन बेलों के बीच में पशुओं की आकृतियाँ भी दिखाई देती हैं।

दूसरा प्रतीक चक्र है। चक्र आर्यों का प्रतीक है। ऋग्वेद के अनुसार सूर्य वृत्ताकार चक्र की भांति सृष्टि की गति का संचालन करते हैं। चक्रवर्ती शब्द महान सम्राटों के लिए उपयुक्त होता है।

चक्र का प्रवंतन करना अथवा उसको चलाना एक ही बात है। यह प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति मात्र है। बौद्धों की यह मान्यता है कि जब कोई चक्रवर्ती राजा जन्म लेता है तब उसके साथ ही एक चक्र उदय होता है। जिस समय चक्रवर्ती का अवसान निकट आता है, तब वह चक्र भी भूमि में धंसता चला जाता है और जब उसका उत्तराधिकारी आर्य प्रथाओं के अनुसार उसके धर्म-कार्य करता है तो यह चक्र पुनः प्रकट हो जाता है। चक्रवर्ती सम्राट और बुद्ध के जन्म के समय एक ही लक्षण होते हैं, इसीलिए असित ने सिद्धार्थ के जन्म के समय यह कहा था कि यह बालक का तो चक्रवर्ती सम्राट होगा अथवा सम्बोधि प्राप्त करेगा।

चक्र का हिन्दू वाङ्मय में भी अपना एक विशिष्ठ स्थान है। वह विष्णु के आयुधों में से है और शिल्प शास्त्र में उसे आयुध पुरुष कहा गया है। उसकी पृथक रूप से प्रतिमायें भी आंकी जाती थीं।[1]

चक्र, अशोक कालीन स्तम्भों के शीर्षकों पर सिंहों के ऊपर प्रतिष्ठित किया गया है। जैसा कि हम कह चुके हैं, सारनाथ के स्तम्भ शीर्षक का एक टूटा हुआ चक्र प्राप्त हुआ है। डा. वासुदेव शरण जी अग्रवाल ने इस चक्र के सम्बन्ध में लिखा है—"चौबीस अरों से युक्त यह चक्र जो हमारी राष्ट्रीय ध्वजा का चिन्ह बन गया है, देश और काल में विकसित होने वाले क्रियाशील जीवन का प्रतीक है। चौबीस अरे चौबीस पक्षों के प्रतीक हैं और उनसे जिसका रूप निष्पन्न हुआ है, ऐसा चक्र संवत्सर का प्रतीक है। संवत्सर काल उपलक्षण है। काल का दुर्धर्ष परिभ्रमण ही जीवन की अनिवार्य प्रगति, परिवर्तन और संचरण शीलता का कारण है।"

चक्र, सारनाथ में भगवान बुद्ध के धर्म-चक्र-परिवर्तन का प्रतीक बन गया। शुंग-कलीन कला में स्वयं भगवान के स्थान पर उसे प्रतिष्ठित किया गया है।

बौद्ध-शिल्प में चक्र के प्रतीक रूप में भगवान बुद्ध की उपासना के अनेक दृश्य दिखाई देते हैं।

भारहुत के अर्ध-चित्रों में एक चैत्य बनाया गया है, इसमें वेदी के ऊपर

---

1. Elements of Hindu Iconography, Volume II, Part II, Shri G. A. Gopinath Rao.

चक्र की आकृति है। चक्र बहुत बड़ा प्रतीत होता है। इसमें चौबीस अरे हैं। चक्र की बीच की कीली पर एक मोटी रत्न-माला पड़ी है। दो स्त्रियाँ वेदिका के निकट झुकी हुई स्तवन कर रही हैं और उनके निकट ही दो व्यक्ति हाथ जोड़े हुए खड़े हैं। भारहुत के अर्ध-चित्रों में इस दृश्य का स्थापत्य की दृष्टि से भी महत्व है। इससे उन दिनों के चैत्यों की बनावट का पता चलता है। एक बाहरी प्रकोष्ठ सा बनाया गया है किन्तु उसमें भीतरी भाग भी है, यह चैत्य की तनिक ऊपर उठी हुई, दुमंजिली छत से स्पष्ट हो जाता है। खम्भों पर एक छत है और छत के दोनों सिरों पर छोटे-छोटे मन्दिर, जिसे ग्रामीण भाषा में मठिया कहते हैं, बने हुये हैं। इनमें शिखर भी उठाये गये हैं। चैत्य की परिक्रमा करते हुए राज-पुरुष दिखाई देते हैं। वे अपने घोड़ों पर हैं।[१] भारहुत के ऐसे ही एक अन्य अर्ध-चित्र में चैत्य बना हुआ है और दो पुरुष हाथ जोड़े हुए खड़े हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके तीन ओर एक पतली सी गली है, जैसी आजकल भी मन्दिरों के तीनों ओर दीवाल से सटी हुई दिखाई देती है। उपासना करने वाले इस गली में से आते-जाते हुए दिखाई दे रहे हैं। चक्र के ऊपर छत्र तना हुआ है। उसमें मालायें गुथीं हुई हैं। इसकी छत के ऊपर भी शिखरदार मठियाँ दिखाई दे रही हैं। चैत्य के बाहर एक अन्य छोटा सा चैत्य है। एक राजा शायद पूजा समाप्त करके अपने रथ में लौट रहा है। रथ खुला हुआ है। उसमें चार घोड़े जुते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि शायद उन दिनों रथों में चार घोड़े जोतने का ही रिवाज था। राजा के साथ उसके दो सेवक हैं। इनमें से एक के हाथ में छाता है, जिसे वह राजा पर ताने हुये हैं।[२]

सांची के शिल्प में चक्र की पूजा का एक अत्यंत सुन्दर अंकन है। चक्र भगवान बुद्ध के धर्म-चक्र प्रवर्तन का प्रतीक है, जो उन्होंने प्रथम बार मृगदाव अथवा सारनाथ में किया था। चक्र एक लम्बे स्तम्भ पर रक्खा हुआ है। खम्भे के सिरे पर सारनाथ के अशोक स्तम्भ जैसा कमल है, जिसकी पंखुड़ियाँ नीचे की ओर झुकी हुई हैं। इसके ऊपर जो चक्र प्रतिष्ठित है, उसमें बत्तीस अरे हैं। चक्र के ऊपर बत्तीस ही त्रिरत्न हैं। जिस प्रकार नटराज की कांस्य प्रतिमा के प्रभा-मंडल में ज्वालायें निकलतीं दिखाई देती हैं, उसी प्रकार यहाँ त्रिरत्न हैं। त्रिरत्न नन्दीपद के आकार का रहता है। उसमें तीन नोकें निकली रहती हैं। यह बुद्ध, संघ और धर्म का प्रतीक है। कभी-कभी यह चक्र की छोटी सी आकृति के

१. The Stupa of Bharhut, Cunnigham.

२. The Cambridge Histony of India, Volume I. figure 43.

ऊपर बनाया जाता था। इस प्रकार का चक्रयुक्त त्रिरत्न उस युग के शिल्पियों के लिए, केवल एक प्रतीक नहीं ही रहा था, अलंकरण बन गया था। भारहुत के आभूषणों में त्रिरत्न की डिजायन दिखाई देती है। तोरणों में सबसे ऊपरी भाग में चक्रयुक्त त्रिरत्न की विशाल आकृति आंकी जाती थी। सांची के इस दृश्य में चार राजा अपनी पत्नियों सहित चक्र की उपासना करने आये हैं। वे हाथ जोड़े हुये खड़े हैं। बौद्धों के प्राचीन ग्रंथों तथा भारहुत के शिला-लेख के अनुसार यह चारों दिशाओं के लोकपाल हैं जो भगवान बुद्ध के धर्म-चक्र प्रर्वतन के समय आ गये हैं। चक्र के ऊपर भी छत्र तना है, जिसमें मालायें लटक रही हैं। विद्याधर भी उस पर फूल-मालायें चढ़ा रहे हैं। यह दृश्य मृग दाव का है, यह प्रदर्शित करने के लिए ही शिल्पियों ने स्तम्भ के नीचे हिरनों की टोली दिखा दी है।[1] यह अर्ध-चित्र दक्षिणी ओर के तोरण के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण है।

सांची में चक्र के प्रतीक-रूप में बुद्ध-पूजा के और भी कई दृश्य दिखाई देते हैं। एक दृश्य में चक्र वेदी पर प्रतिष्ठित है। उसके ऊपर छत्र तना है। दो आकाशचारी गन्धर्व उसपर मालायें चढ़ा रहे हैं और नीचे दो सम्भ्रांत नागरिक, चक्र के दोनों ओर हाथ जोड़े हुये खड़े हैं।[2] इसी तोरण में बाईं ओर के एक अर्ध-चित्र में एक ऐसा सिंह-शीर्षक स्तम्भ दिखाया गया है, जो सारनाथ के स्तम्भ के आकार का है। अंतर केवल इतना है कि सारनाथ का खम्भा बहुत लम्बा है और इसमें छोटा सा ही है। स्तम्भ के ऊपर नीलोत्पल या लीलोफर है, जिसे स्मिथ और मार्शल जैसे इतिहासकारों ने 'इन्डो परशियन कॉलम' का नाम दिया है। इसके ऊपर एक गोल चौकी है और उस पर चार सिंह। सिंहों के ऊपर एक बहुत बड़ा चक्र है। दो राजा अपनी रानियों के सहित उसके दोनों ओर खड़े हुये हैं।[3]

तोरणों की बड़ेरियों को जोड़ने वाले डंडों पर भी कमल, सिंह और चक्र-युक्त स्तम्भ दिखाई देते हैं। सांची के शिल्प में चक्र-पूजा के और भी अनेक अंकन हैं।

प्रारम्भिक बौद्ध-शिल्प में वृक्ष भी एक बहुत महत्व पूर्ण प्रतीक समझा गया है। भारहुत के अर्ध-चित्रों में ऐसे भी दृश्य हैं जिनमें बोधि वृक्ष को चैत्य

---

१. Bharhut, Cunningham, plate 14, I.

२. The Monuments of Sanchi, Vol. II, plate 18

३. वही, Plate 26.

के साथ ही आंका गया है। चैत्य के प्रकोष्ठ में वेदिका है। वेदिका पर चक्रयुक्त त्रिरत्न हैं और फिर भवन का ऊपरी खंड है। उसके पीछे पीपल का एक वृक्ष है। उसका तना चैत्य की आकृति में छिपा है किन्तु डालियाँ और शाखायें उससे ऊपर हैं। डालियों में मालायें और रत्न-हार लटकते दिखाई देते हैं। गन्धर्व और विद्याधर भी उस पर मालायें अर्पित करते हुए दिखाई देते हैं। वृक्ष, भगवान बुद्ध की सम्बोधि अथवा बुद्धत्व प्राप्त करने का प्रतीक है। गौतम ने अश्वस्थ वृक्ष के नीचे बुद्धत्व प्राप्त किया था। इसी प्रकार ककुच्छंद ने सिरीष, कनक मुनि ने उदुम्बर, काश्यप ने न्यग्रोध के नीचे तपस्या की थी। यह समस्त मनीषी बुद्ध ही हैं, जिनकी चर्चा हम बुद्ध और बोधिसत्व के प्रकरण में कर चुके हैं। जिस मनीषी बुद्ध का बोधि वृक्ष शिल्पी आंकता है, उसके पत्ते व डालियाँ आदि भी वैसे ही बना देता है।

कभी-कभी वह स्तूप और उनके बीच में बोधिवृक्ष बना देता है।[1] सांची तथा भारहुत में बोधिवृक्ष के प्रतीक रूप में भगवान बुद्ध की पूजा की चर्चा भी की जा चुकी है। 'अशोक की रामग्राम की यात्रा' सांची की अत्यंत उत्कृष्ट कला-कृति है। सांची में इन मनीषी बुद्धों के वृक्षों के निकट स्त्री और पुरुषों के मेले उमड़ रहे हैं। श्रद्धा से पूरित उपासक और उपासिकाओं के झुन्डों ने इन्हें घेर लिया है। मानव ही नहीं पशु-जगत् भी बुद्ध-पूजा के लिये नदी सा उमड़ आया है। पश्चिमी तोरण की नीचे की बड़ेरी में हाथियों का झुंड बोधिवृक्ष के पास आया है। कोई हाथी कमलों के सरोवर से निकल कर आ रहे हैं तो कोई वनों से। हथिनियाँ और बच्चे; उनका परिवार भी उसके साथ ही आया है। भारहुत में भी बोधिवृक्ष के निकट हाथी अत्यंत भक्ति-भावना से झुके दिखाई देते हैं। प्रारम्भिक-कला के शिल्पियों को हाथियों का चित्रण अत्यंत प्रिय रहा है, इसका कारण यह है कि हाथी स्वयं बुद्ध के जन्म का वैसा ही प्रतीक समझा जाता है जैसा बोधि-वृक्ष सम्बोधि का, चक्र, धर्म के प्रवर्तन का अथवा स्तूप निर्वाण का। हाथियों के अंकन में उनके शरीर के परिमाण के साथ उनकी भावना को भी व्यक्त करने की चेष्टा की गई है। यद्यपि यह शिल्पी का प्राथमिक प्रयास जान पड़ता है। अजंता और बाग गुफा में उसका हाथ मंज जाता है और वह उनका एक-एक मनोभाव वैसे ही आंकता है जैसे कि मनुष्यों का।

बौद्ध-शिल्प का सबसे महान प्रतीक स्तूप है। भगवान बुद्ध के समय से पहले भी स्तूप बनते थे अथवा नहीं यह ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर

---

१. The Monuments of Sanchi, Vol. II, Plates 15, 22

निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परिनिर्वाण के पश्चात् उनके अवशेष चिन्हों पर स्तूपों की रचना हुई। इनमें से बहुत से आज, काल के गर्भ में विलीन हो चुके हैं। स्तूपों के खंडित भाग भारहुत, अमरावती व नागार्जुन कोन्डा आदि में प्राप्त हुये हैं। उनके शिल्प में स्तूपों की कुछ आकृतियाँ भी हैं जिनसे पता चलता है कि वे कितने भव्य और गरिमामय रहते थे? सांची का स्तूप इसकी पुष्टि करता है। अमरावती के शिल्प में अंकित स्तूप की चर्चा हम आगे करेंगे। सांची के शिल्प में उत्तरी तोरण के खम्भे पर कुशी नगर के मल्लों का द्वारा बनवाया हुआ स्तूप आंका गया है। यह उन्होंने उन अस्थियों पर बनवाया था जो उन्हें आठ भाग होने के पश्चात् मिली थीं। स्तूप पर प्रदक्षिणा, मेधि है और ऊपर बहुत बड़ी हर्मिका है, जिस पर कई छाते तने हैं। स्तूप को एक वेदिका घेरे हुए है, जिसका तोरण भी दिखाया गया है। तोरण में दो बड़ेरियाँ हैं। स्तूप के निकट कुछ उपासक है, जिनके हाथों में मालायें हैं। स्तूप के ऊपर भाग पर किन्नर उड़ रहे हैं। इनका आधा शरीर पक्षियों का है और आधा पुरुष का। स्तूप के बाहर मल्लों की टोली खड़ी है। इनमें से कुछ उस के हाथ जोड़े हुये खड़े दिखाई देते हैं। कुछ ढोलक, मृदंग और वंशी आदि बजा रहे हैं। इनका पहनावा भी विचित्र सा ही है। इनके सिर पर लट्टूदार साफा नहीं दिखाई देता वरन् लम्बी, तिकोनी व गोल टोपियाँ हैं। सम्भव है कि शिल्पी का आशय पहाड़ी लोगों का चित्रण रहा हो। शुंग काल में लोग जो धोती पहनते थे, वह घुटनों से बहुत नीची रहती थी। कुशीनगर के यह मल्ल कमर पर एक कपड़ा लपेटे हैं जो घुटनों से भी ऊँचा प्रतीत होता है। इनमें कुछ घुंघराले बालों वाले लोग हैं जो चेहरों से यूनानी मालूम होते हैं।

सांची के स्तूप-पूजा के ही एक दृश्य में एक राजा अपने घोड़ों के रथ में स्तूप की ओर आ रहा है। उसकी चतुरंगिनी सेना उसके साथ ही चल रही है। सेवक राजा पर चंवर हिला रहा है। उन दिनों के खुले हुए रथों में सारथी सदैव पीछे खड़ा रहता था। उसके हाथ में ही घोड़े की लगामें रहती थीं। राजा के आगे घोड़े पर अश्वारोही चलते आ रहे हैं और उनके भी आगे बाजा बजाने वाले लोग हैं। राजा के सिर पर लट्टूदार पगड़ी है और उसमें झालरें लटक रही हैं। तीन हाथियों पर उपराजा गण है। उपराजा, राजा के मंत्री का सब भार संभालता था। हाथी सजे हुये हैं और उन पर झूलें पड़ी हुई हैं। कुछ सेवकों के हाथों में झंडे हैं। उन दिनों झंडों का भी एक विचित्र प्रकार था जो इन अर्ध-चित्रों में दिखाई देता है। एक मोटी सी लकड़ी के सिरे पर गोलाकार लकड़ी लगी रहती थी और उस पर नन्दीपद अथवा त्रिरत्न

रहता था। इससे एक मोटा सा कपड़ा बंधा रहता था, जो उड़ता चलता था। यह गोलाकार लकड़ी चक्र का ही परिचायक है। चक्र के ऊपर त्रिरत्न का डिजायन उन दिनों इतना अधिक लोकप्रिय हो गया था कि स्त्रियाँ उसे अपने गहनों में लटकन की जगह प्रयोग में लाती थीं। भारहुत और सांची दोनों स्थानों में तोरणों के ऊपर एक वेदी बनी रहती थी। यह वेदी चौकोर रहती थी। उसके ऊपर गोलाकार चक्र रहता था। इस चक्र में अरे नहीं रहते थे, वरन् कमल की पंखुड़ियाँ आंक दी जाती थीं और उसके ऊपर त्रिरत्न रहता था, जो धर्म, संघ और बुद्ध का प्रतीक था। इस दृश्य के बीच में स्तूप बना हुआ है। स्तूप के ऊपर मेधि और हर्मिका दिखाई दे रही है। हर्मिका के ऊपर छत्र तना है और उस पर दो किन्नर, जिनके पंख लगे है और जो आभूषणों आदि से सजे हुए हैं, फूल मालायें अर्पित कर रहे हैं। दृश्य की पार्श्वभूमि में आम, कटहल व फूलोंदार चम्पक के वृक्ष दिखाई दे रहे हैं। भारहुत अथवा सांची के दृश्यों में जहाँ भी शिल्पी को वृक्ष, लता आदि आंकने का अवसर मिला है, वहां वह तनिक भी नहीं चूका है। उसने उन्हें बड़े रमणीक और मनोरम रूप में आंका है। स्तूप के एक ओर राजा अपनी चतुरंगिनी सजाकर आया है दूसरी ओर नाग-राजा हैं। नाग-राजा के साथ उनका उपराजा भी है। उनके सिर पर सर्प के पांच फन तने हुए हैं। उनके दोनों हाथों में फूलों के मोटे-मोटे गजरे हैं जिन्हें वे स्तूप पर चढ़ाने आये हैं। उनके साथ उनकी पत्नियाँ भी हैं। उनके सिर पर केवल एक-एक फन ही है। स्त्रियाँ अपने एक हाथ में फूलों की डलिया उठाये हैं और दूसरे हाथ में जल से भरा गडुआ है। नागराजाओं के वस्त्र वही हैं जो शुंग काल के राजाओं के दिखाई देते हैं। नागों की स्तूप-पूजा का यह दृश्य उस युग की आर्य-अनार्य संस्कृतियों के समन्वय की झलक प्रस्तुत करता है। उन के सम्बन्ध में यह मान्यता थी कि वे जलाशयों में रहते हैं। अर्ध-चित्र में कमलों से भरा हुआ एक सरोवर है, उसमें दो नाग और उनकी पत्नियाँ बैठे हुये दिखाई देते हैं। उनके हाथों में भी सम्भवतः रत्नों की मोटी-मोटी मालायें हैं। सरोवर के खिले हुए कमलों, कलियों और उनके पत्रों की छटा अत्यंत सुन्दर प्रतीत होती है। कुशीनगर के मल्लों का चित्रण करते समय शिल्पी उनकी वेश-भूषा आदि पृथक् कर देता है किन्तु नागों को आंकते समय वह उनमें अन्य निवासियों सें कोई अंतर प्रदर्शित नहीं करता। अमरावती के शिल्प में भी ऐसे अनेक दृश्य हैं जिनमें नाग तथा अन्य व्यक्ति एक से ही लगते हैं। नागों के सिर पर केवल उनकी पहचान के लिए फन रहता है।

भारहुत व सांची का शिल्प, स्तूप और वृक्ष के प्रतीक रूप में बुद्ध की उपासना के दृश्यों से भरा पड़ा है। एक दृश्य में वेदी के निकट बोधिवृक्ष है।

उसपर मालायें लटक रही हैं। एक स्त्री जो सम्भवतः सुजाता है, एक तोरण के नीचे से निकल कर बोधिवृक्ष की ओर आ रही है। उसके एक हाथ में, जिसे वह ऊँचा किए है, फूलों की डलिया है और दूसरे में पानी का गडुआ। पूजा करने के लिए आने वाली स्त्रियों की सांची के शिल्पकार ने इसी रूप में कल्पना की है। इस मुद्रा से उनके शरीर में सहज भंग आ गया है और वे अधिक सौन्दर्यवती प्रतीत होने लगी हैं। यह दक्षिणी तोरण की बीच की बड़ेरी का दृश्य है। बोधिवृक्ष पर छतरी लगी है और दो किन्नर उस पर फूलों की मालायें भी चढ़ा रहे हैं। दूसरी ओर एक राजा अपनी स्त्री व बालक के साथ हाथ जोड़े हुए खड़ा है। उसके पश्चात् उसी बड़ेरी पर मार एक राजा की भांति अपने आसन पर बैठा है। उसका एक चरण चौकी पर है दूसरा भूमि पर। एक सेवक उस पर छाता लगाये खड़ा है। उसके निकट ही उस पुत्र और पुत्रियाँ हैं। इसके पश्चात् पिशाचों की सेना दिखाई देती है। यह इतने भयावह प्रतीत होते हैं कि देखकर आश्चर्य होता है। सांची का शिल्पी जो सौन्दर्य और जीवन के ही अंकन करता रहा, इतने भयानक राक्षसों को कैसे बना सका जिन्हें देखकर ही सामान्य मानव का हृदय कांप उठे?

भारहुत और सांची में केवल बुद्ध-जीवन, जातक व उपासना के ही चित्रण नहीं हैं, उनमें नृत्य गान आदि को भी स्थान मिला है। सांची के एक अर्ध चित्र में नाग राजा एक वृक्ष के नीचे बैठा है। उसके निकट ही उसकी भागिनियाँ बैठी हैं। वे प्यालों में कुछ लिए हुए खा-पी रहीं हैं। अन्य नागनियाँ नृत्य और गान में रत हैं। एक के हाथ में चंवर है और दूसरी वेणु बजा रही है। यह दोनों नारियाँ तनिक झुकी हुई सी खड़ी हैं। सांची का शिल्पी भंगिमाओं द्वारा दृश्य में मोहकता ले आता है। रस-सृजन के लिए जिन तत्वों का समावेश आवश्यक है, शिल्पकार उन सब को दृश्यों में ले आने की चेष्टा करता हुआ दिखाई देता है। भारहुत के शिल्प की अपेक्षा वह सांची में अधिक सफल होता दिखाई देता है। अमरावती में यह कुछ और आगे बढ़ता है और गुप्त युग तक पहुँचते-पहुँचते भारतीय कला अपनी पूर्णता के शिखर तक पहुँच जाती है। जिस प्रकार देव-मन्दिर तक पहुँचने के लिए यात्री को प्रत्येक सीढ़ी पर चढ़ना पड़ता है, उसी प्रकार कला के उत्थान के भी स्तर रहते हैं। युग की कला अपनी प्राचीन परम्पराओं का सहारा लेकर आगे बढ़ती हुई दिखाई देती है। यह समस्त शैलियाँ कलाधरी के मन्दिर की सोपान कही जा सकती हैं। भारहुत, व सांची के प्रारम्भिक शिल्प के, विषयों की भिन्नता के आधार, पर कई प्रकार किए जा सकते हैं। जिनमें सबसे पहली बुद्ध जीवन की घटनायें हैं जैसे भारहुत में महामाया

देवी का स्वप्न, सांची का महाभिनिष्क्रमण व मार आक्रमण का दृश्य। इन में भगवान स्वयं दर्शन नहीं देते। दूसरे प्रकार में जातक-कथायें आती हैं। इनमें ऋषि ऋंग जातक, वैसन्तर जातक, महाकपि जातक और छदंत जातक हैं। शिल्पी को जातकों के माध्यम से सम्पूर्ण समाज का जीवन आंकने को मिलता है इसलिए उसे विषयों की विभिन्नता मिलती जाती है। उसे वन, नगर, देहात सभी के दृश्य आंकने को मिलते हैं। तीसरे प्रकार के चित्रण ऐतिहासिक कहे जा सकते हैं, जैसे अजातशत्रु आदि राजाओं का बुद्ध के दर्शन करने के लिए आना, अशोक की रामग्राम यात्रा तथा कुशीनगर के मल्लों का स्तूप के निकट समारोह का आयोजन करना। 'बुद्ध की अस्थियों के लिए युद्ध' भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत आ जाता है। इसके अतिरिक्त उपासना के दृश्य दिखाई देते हैं। जैसी कि हम चर्चा कर चुके हैं भगवान के स्थान पर उनके प्रतीकों की पूजा ही दिखाई देती है। इनमें स्तूप, चक्र, वृक्ष, त्रिरत्न और बुद्ध के चरण हैं। मानवों के अतिरिक्त यक्ष, नाग, अप्सरा, किन्नर और गन्धर्व आदि को भी उत्कीर्ण किया गया है। देवगण में ब्रह्मा और इन्द्र विशेष-रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। सांची में लक्ष्मी की प्रतिमा भी कई स्थानों पर विभिन्न रूप में दिखाई देती है। पशुओं का अंकन इस शैली के कलाकारों को बहुत प्रिय जान पड़ता है और वे हाथी, घोड़े बैल, हिरन, व बारहसिंघे को दिखाते हैं। जब कहीं स्थान रिक्त दिखाई देता है तो वे वहाँ एक घुड़सवार आंक देते हैं। इनके अतिरिक्त अलंकृत घट आदि दिखाई देते हैं, जिनमें से कमलों के फूल निकलते दिखाई देते हैं।

भारहुत अथवा सांची की पूर्व-परम्परा बुद्ध गया की वेदिका के शिल्प में दिखाई देती है। बुद्ध गया बौद्ध मत के महान् केन्द्रों में से हैं। यहाँ भगवान को सम्बोधि प्राप्त हुई थी।

महाबोधि के विशाल गगन-चुम्बी मन्दिर के निर्माण से पूर्व सम्राट अशोक ने यहाँ एक विहार और चैत्य की रचना कराई थी। सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में ह्वेन सांग भारत आये थे। उन्होंने इस विहार का उल्लेख किया है। उनके समय में यहाँ एक बोधि वृक्ष भी लगा था, जिसे लगभग १० फीट ऊँची दीवार घेरे हुए थी।

भारहुत के अर्ध-चित्रों में ऐसे दो दृश्य दिखाई देते हैं जिनमें अशोक का चैत्य और विहार दिखाई देते हैं। भारहुत के दृश्य में एक विहार दिखाई देता है। उसे खम्भे साधे हुए हैं। उसके बीच में वज्रासन है। वज्रासन के पीछे बोधिद्रुम का तना दिखाई देता है। वज्रासन के ऊपर बोधिवृक्ष फैला हुआ दिखाई देता है। वज्रासन पर फूल पड़े हुए हैं और उस पर बुद्ध नहीं दिखाई देते।

स्तूप और वृक्ष की भांति वज्रासन की भी उपासना होती थी। भारहुत के ही एक दृश्य में महाराज अजात शत्रु हाथी पर बैठकर वज्रासन की पूजा करने आये हैं। उनके साथ उनकी तीन रानियाँ भी हैं। वे भी अलग-अलग हाथियों पर हैं। फिर राजा का हाथी बैठा हुआ दिखाई दे रहा है और वे उस पर से उतर रहे हैं। ऊपर के कोने में वज्रासन है, जिसकी वे हाथ जोड़ कर पूजा कर रहे हैं। अशोक के चैत्य वाले वज्रासन के ऊपर अलंकरण भी है। बोधिद्रुम के निकट ही एक छोटे से स्तम्भ पर त्रिरत्न और धर्म-चक्र की आकृति दिखाई दे रही है।

अशोक के चैत्य के बाहर एक वेदिका थी। अब इसके भग्नावशेष प्राप्त होते हैं। यह मौर्य काल की थी। अशोक के युग की अवशिष्ठ कृतियों में उनके स्तम्भों व शिलालेखों के अतिरिक्त यह वेदिका भी है।

वेदिका के जो भाग प्राप्त होते हैं, उन पर शिलालेख भी हैं। उनके आधार पर यह प्रमाणित हो जाता है कि यह वही वेदिका है जिसका उल्लेख ह्वेन सांग ने किया था। इसके खम्भे छ: फीट आठ इंच के हैं और नीचे का भाग दो फीट, दो इंच। दोनों मिलकर नौ फीट, दस इंच हो जाते हैं। ह्वेन सांग ने अनुमान लगाकर ही इसकी ऊँचाई दस फीट लिखी थी।

वेदिका के खम्भों व उनको जोड़ने वाले पाषाणों पर भी गोलाकार में कमल बने हैं। उनके भीतर कहीं केवल कमल की तरह-तरह की आकृतियाँ हैं और कहीं उनके बीच में ही पशु बने हुए हैं। इनमें से कुछ में मनुष्याकृतियाँ हैं। इनमें केवल मुख ही उत्कीर्ण किया गया है। राजाओं के सिर पर लट्टूदार साफे हैं। इनमें कुछ स्त्रियों की आकृतियाँ भी दिखाई देती हैं। इस प्रकार के खिले हुए कमल के फूल और उनमें राजाओं की आकृतियाँ भारहुत के शिल्प में भी दिखाई देती हैं। पशुओं में दौड़ता हुआ घोड़ा, मकर व हाथी आदि हैं। एक आकृति में तीन हाथी बोधिवृक्ष के निकट भगवान की पूजा करने आये हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य अर्ध-चित्र भी बोध गया की इस वेदिका में दिखाई देते हैं। एक बोधिवृक्ष के पास छाते और मालायें रक्खी दिखाई देती हैं। एक अर्ध-चित्र में वज्रासन के ऊपर चक्र रक्खा हुआ है और उसके ऊपर त्रिरत्न है। दो पुरुष उसके हाथ जोड़े हुए खड़े हैं। मनुष्यों की आकृति स्पष्ट नहीं उभरी। यह भारहुत से भी पहले की कला है, जिसमें सुडौलता, सौष्ठव आदि का समावेश नहीं हो सका है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि शिल्पी लकड़ी

का माध्यम छोड़ कर पाषाण का नया माध्यम पकड़ रहा है। पुरुष घुटनों तक की ऊँची-ऊँची धोती पहने हैं। उसमें चुन्नटें हैं। उनके सिरों पर पगड़ियाँ भी हैं किन्तु उनमें सफाई नहीं दिखाई देती।

एक दृश्य में कल्पद्रुम दिखाया गया है। एक आदमी उसके निकट खड़ा है। एक अन्य चित्र में एक उपासक बोधि-वृक्ष के नीचे हाथ जोड़े हुए बैठा है और एक देवता आकाश-पथ से उड़ता हुआ आ रहा है। उसके हाथ में फूलों की माला है। कहीं एक किसान दो बैलों को हल में जोत रहा है। उसका एक हाथ हल की मुठिया पर है और दूसरे हाथ में वह एक लकड़ी लिए है। इस आकृति में शिल्प का निखार व सौष्ठव भले ही न हो स्वाभाविकता अवश्य है। वर्षा के प्रारम्भ में आज हजारों वर्ष के बाद भी यही दृश्य ज्यों का त्यों दिखाई दे जाता है।

अनाथ पिंडक के जेतवन दान की कथा भारहुत और सांची, दोनों स्थानों में आंकी गई है। यहाँ जो अंकन है वह सब से प्रारम्भ का है। भारहुत में गाड़ी में से मुहरें उड़ेल कर भूमि में बिछाई जा रही हैं। अनाथ पिंडक व राजकुमार जेत वहीं खड़े हुए हैं बोध गया के इस दृश्य में केवल तीन आदमी ही खेत में दिखाई दे रहे हैं। इनमें से दो खेत में मुहरें बिछा रहे हैं और तीसरा कंधे पर मुहरों की डलिया लादे झुका हुआ खड़ा है। उसके घुटने भी झुक गए हैं। भार के कारण उसने अपना एक हाथ कमर पर रख लिया है। इस दृश्य में भी वही स्वाभाविकता झलकती है जो किसान के खेत जोतने वाले दृश्य में है।

प्रारम्भिक बौद्ध-शिल्प में एक दृश्य कई स्थानों पर दिखाई देता है, वह है इन्द्र का भगवान बुद्ध के निकट आना। उसमें इन्द्र के साथ उसका एक मित्र पंचशिख भी, जो वाद्य बजाने वाला गन्धर्व था, बुद्ध के निकट आया करता था। इसमें वह एक गुफा के सन्मुख खड़ा है। गुफा सूनी जान पड़ती है किन्तु उसमें बुद्ध हैं, यह दिखाने के लिए ही वज्रासन दिखाया गया है। गुफा पत्थरों से बनी हुई जान पड़ती है।

एक अन्य अर्धचित्र में एक वज्रासन के ऊपर गोल चौकी रक्खी है और उस पर सिंह दिखाई देते हैं। सिंहों के ऊपर अशोक-चक्र रक्खा है। यह अशोक चक्र का प्रारम्भिक स्वरूप जान पड़ता है।

एक चित्र में नौका का दृश्य अंकित किया गया है। सांची या भारहुत में जब जल का दृश्य दिखाया जाता है तो शिल्पी लहरियाँ दिखाता है किन्तु यहाँ

चित्र को कमलों से भर कर ही जल का अस्तित्व दिखाने की चेष्टा की गई है। नाव में केवट व अन्य पुरुष दिखाई दे रहे हैं।

इन सब के अतिरिक्त जो चित्र मूर्ति विधान की दृष्टि से बहुत अधिक महत्वपूर्ण है, वह कमल पर खड़ी हुई लक्ष्मी का है। वे घुटनों तक की धोती पहने हुए हैं और सिर पर बहुत भारी साफा है। जिस कमल पर वे खड़ी हुई हैं, उसके दोनों ओर कमल-कलिकायें हैं एक कमल पर हाथी खड़ा है। गज लक्ष्मी का यह सबसे पुरानी मूर्ति है, जिसकी पुनरावृत्ति भारहुत में भी दिखाई देती है।

बौद्ध विहार

शुंग राजाओं के समय में सह्याद्रि (पश्चिमी घाट) की पर्वत-मालाओं में कुछ बौद्ध विहार बने। इनमें भाजा, पूना के निकट वेदसा और कोलाबा के निकट कौंडिण्य की गुफायें हैं। भाजा इन सब में अधिक प्राचीन है। भाजा की गुफाओं का महत्व उसकी दीवारों पर अंकी गई विशाल प्रतिमाओं के कारण है। यह आंध्र राजाओं की कीर्ति की साक्षी हैं। एक गुहा-मंदिर है, उसमें एक सभा मंडप है तथा उससे सटे हुये दो कमरे हैं। सामने बरामदा हैं। एक सिरे पर तीन कोठरियाँ बनी हुई हैं। यह कोठरियाँ खम्भों द्वारा बरामदे से अलग कर दी गई हैं। इनमें नीचे की ओर मूर्तियाँ बनी हुई हैं। स्तम्भों पर एक ऐसी नारी आकृति भी दिखाई देती है जिसका मुख मानवों जैसा है और शेष शरीर पशुओं जैसा। यह भी विदेशी अभिप्राय है। इस स्तम्भ पर कमलों का अलंकरण है। भाजा की गुफा में बाईं ओर एक राजा चार अश्वों के रथ में जाता हुआ दिखाया गया है। उसके दाहिनी और बाईं ओर दो स्त्रियाँ हैं, जो चंवर और छत्र लिये हुए हैं। कुछ विद्वानों ने इस प्रतिमा को सूर्य की मूर्ति माना है। रथ एक अत्यंत विशालकाय राक्षसी के ऊपर से, जिसका मुख विकृत हो गया है, निकल रहा है। उसका शरीर बहुत भयावह है। इस दृश्य की पार्श्वभूमि में कुछ घुड़सवार दिखाई देते हैं।[1] बौद्ध वाङ्मय में सूर्य का उल्लेख अनेक ग्रंथों में मिलता है। उन्हें देव पुत्र कहा गया है। वे शक्र के आदेश से विश्व को प्रकाशवान करते हैं किन्तु इस मूर्ति की प्रसंग-कथा कहीं नहीं मिलती। अंधकार को राक्षसी मान लिया हो और सूर्य का रथ उस अंधकार को विदीर्ण कर रहा हो, इस प्रकार की कल्पनाओं से प्रसूत चित्र उन दिनों बनते न थे। फिर पीछे खड़े हुये घुड़सवारों का क्या प्रयोजन है? इस मूर्ति को सूर्य का नाम देना ही भ्रामक है। भाजा में ऐसी ही एक और विशाल मूर्ति है, जिसे इन्द्र का नाम दिया गया है। इसमें विशाल हाथी पर एक राजपुरुष बैठा है और उसके पीछे उसका एक सेवक झंडा लिए हुए बैठा है। हाथी ने एक वृक्ष को उखाड़ लिया है और वह उसे अपनी सूंड में दबाये हुये है। उस के नीचे अनेक मानव–आकृतियाँ हैं। राजा और उसका सेवक आकार

---

१. The Cambridge History of India, Volume I, Plate XXVI

में बहुत बड़े दिखाई दे रहे हैं। हाथी के पाँव के नीचे एक वृक्ष है, जिसके चारों ओर चौकोर वेदिका है और उसके ऊपर छत्र तना है। एक ओर के कोने में एक राजा अपने आसन पर बैठा हुआ है। उसके निकट उसकी रानियाँ खड़ी हैं। यह मूर्ति इन्द्र के नाम से प्रसिद्ध है। हाथी को ऐरावत कहा गया है। इन्द्र का उल्लेख बौद्ध वाङ्मय व शिल्प में अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है। वह भगवान के जन्म के समय उपस्थित रहता है और फिर बार-बार उन के निकट आता-जाता रहता है। जिस समय भगवान तुषित स्वर्ग से सांकाश्य में उतरते हैं तब भी शक्र अथवा इन्द्र उनके साथ ही दिखाई देता है किन्तु उसके इस प्रसंग का जो भाजा के इस गुहा—मन्दिर में अंकित है, कोई उल्लेख नहीं मिलता। वस्तुतः यह किसी बौद्ध कथा का अंश है।

भाजा की वह मूर्ति जो चार घोड़ों के रथ पर सवार है, लट्टूदार पगड़ी बाँधे है। इस प्रकार की पगड़ियाँ भारहुत के अर्ध—चित्रों में दिखाई देती हैं। राजा के गले में दुहरी माला दिखाई दे रही है। रानियों के सिर पर भी बड़े-बड़े साफे हैं। उनके गले में भी वैसे ही आभूषण दिखाई दे रहे हैं, जैसे कि भारहुत की स्त्रियाँ पहना करती थीं।

राजा जिस प्रकार के रथ पर चढ़ा है, वैसे रथ सांची में भी दिखाई देते हैं। यह ऊपर से खुले हुये रहते थे। उनमें चार-पाँच घोड़े जोड़े जाते थे, यह भी सांची के दृश्यों से मालूम होता है। समूची मूर्ति अर्ध—चित्र के भाँति पत्थर पर खोद दी गई है और फिर गहराई तक कोर कर आकृतियों को उभारने का यत्न किया गया है। यह लोक—कला है और इसकी कड़ी भारहुत के बौद्ध शिल्प से जुड़ती हुई जान पड़ती है।

वह मूर्ति भी जो 'इन्द्र' के नाम से प्रसिद्ध है, इसी लोक—कला की है। राजा के वस्त्र और आभूषण आदि सांची के सदृश्य ही हैं। हाथी के शरीर के अंगों में 'सम विभक्ति' नहीं दिखाई देती। नीचे आसन पर राजा बैठा हुआ है। उसके वस्त्र और आभूषण भी शुंग काल के लोगों के सदृश्य ही हैं। इस मूर्ति में ऊपर के कोने में एक बहुत ही आश्चर्य जनक दृश्य दिखाई दे रहा है। एक नारी आकाश से पतित होकर भू पर गिर रही है। उसे हाथों में लेने के लिए पुरुष गोल बना कर एकत्रित हो गये हैं। इस मूर्ति की सन्दर्भ कथा क्या है, यह पता नहीं चलता किन्तु हाथी पर बैठने वाला राजा इन्द्र नहीं है, यह तो निःसन्दिग्ध ही है। इन दृश्यों को देखने से मालूम होता है कि यह कला या तो मौर्यकाल के अंतिम युग की है अथवा प्रारम्भिक शुंग कला की।

इसका शिल्प—विधान भारहुत और सांची की अपेक्षा अधिक पुराना जान पड़ता है। भाजा विहार के बरामदे में इससे भी प्राचीन शिल्प—फलक

दिखाई दे रहा है। इस पर कुछ मनुष्यों और पशुओं की आकृतियाँ हैं। ऐसा जान पड़ता है कि घोड़ों के व्यवसायी एकत्रित हो गये हैं।

भाजा में एक सैनिक की आकृति भी है, यह नीचे से भग्न हो गई है। वह धोती के स्थान पर चुस्तदार वस्त्र पहने हुए है, जिसके ऊपर दुपट्टा बंधा हुआ है। पटके के दोनों छोर लटक रहे हैं। उसके सिर पर एक मोटा सा साफा दिखाई दे रहा है। उसकी बाहों, भुजाओं और गले में आभूषण हैं, कमर में ढाल है और तलवार को वह अपने हाथों में लिए है।

भाजा की इन दोनों मूर्तियों को, जिन्हें अन्य विद्वानों ने सूर्य और इन्द्र की आकृतियाँ कहा है, श्री रनछोड़ लाल जी ज्ञानी ने राजा मान्धाता माना है। यह दोनों दृश्य उसके उस जीवन-प्रसंग पर आधारित हैं, जो दिव्यावदान में आता है। भाजा की यह गुफायें बौद्ध हैं और ईसा से १५० वर्ष पहले से लेकर १०० वर्ष बाद तक की हैं। इनमें सूर्य और इन्द्र को उत्कीर्ण करने का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी स्थिति में ज्ञानी जी का अनुमान ही सत्य प्रतीत होता है। वे इस योद्धा को भी राजा मान्धाता ही मानते हैं। दिव्यावदान के अनुसार मान्धाता उपोषध नामक राजा का पुत्र था। एक बार जब मान्धाता अपने राज्य में भ्रमण करने गया था, उसके पिता बीमार पड़े और उनका देहावसान हो गया। मंत्रियों ने मान्धाता को राजधानी में लौट आने के लिए लिखा किन्तु वह अपना राज्याभिषेक कराने के बाद ही लौटा।

मान्धाता के शासन-काल में वैशाली के वन में पाँच सौ ऋषि रहा करते थे। उस वन में बगुले व और पक्षी भी थे। पक्षियों के पंखों की फड़फड़ाहट से ऋषियों की तपस्या में विघ्न पड़ने लगा तब दुर्मुख ऋषि ने उन्हें शाप दिया कि उनके पंख ही कट कर गिर पड़ें। वैसा ही हुआ। मान्धाता को जब उन निरीह पक्षियों की इस दुर्दशा का समाचार मिला तो वह क्रोधित हो उठा और उसने उन्हें अपनी राजधानी छोड़ कर अन्यत्र चले जाने का आदेश दे दिया। ऋषि वैशाली छोड़ कर सुमेरु पर्वत पर तपस्या करने चले गये।

अनेक वर्षों तक राज्य करने के पश्चात् मान्धाता की इच्छा दिग्विजय करने की हुई। उसकी सेना सुमेरु पर्वत की ओर चल दी। रास्ते में उसने ऐसे वृक्ष देखे जिनमें फलों की जगह आभूषण और वस्त्र लगे थे। उसने वृक्षों की डालियों पर अप्सरायें भी देखीं। मान्धाता ने अपने सेनापतियों को उन फलों का उपभोग करने का आदेश दिया। सुमेरु पर मान्धाता को वे ऋषि भी मिले, जिन्हें उसने अपनी राजधानी से बहिष्कृत कर दिया था। उन्होंने अपने चमत्कारों द्वारा

1. History of Indian and Indonesian Art, Plate VII.

मान्धाता की सेना की अबाध गति को रोक देना चाहा किन्तु वे सफल न हु । राजा ने क्रोधित होकर आदेश दिया कि इन सब तपस्वियों की जटा मुंडवा दी जावें।

राजा, देवताओं के नगर सुदर्शन की ओर चला। वहाँ सबसे पहले नागों ने और फिर देवताओं ने मान्धाता की सेना से युद्ध किया किन्तु वे पराजित हो गये। मान्धाता की सेना उत्तरोत्तर आगे बढ़ती चली। राजा ने पारिजात नामक वृक्ष देखा जिसके नीचे देवगण क्रीडायें किया करते थे। उसने अपने सेनापतियों को भी वहाँ क्रीडा करने की अनुमति दे दी। देवताओं का नगर सोने और रत्नों से बना हुआ था। उसी नगर में इन्द्र और उपेन्द्र के भी भव्य भवन थे। इन्द्र ने मान्धाता का यथोचित सत्कार किया। उन दिनों देव और असुरों में युद्ध चल रहा था। मान्धाता ने देवताओं की ओर से युद्ध किया। राजा उस समय एक रथ में बैठा हुआ था। घमासान युद्ध हुआ। असुर गण परास्त होकर भाग गये।

यह संक्षेप में दिव्यावदान की कथा है, कुमारस्वामी व अन्य इतिहासकार जिसे सूर्य की मूर्ति मानते हैं, वह महाराज मान्धाता हैं। उनका रथ असुरों को कुचलता हुआ आगे बढ़ता जा रहा है। इस दृश्य में वह एक महाकाय राक्षसी के ऊपर से गुजरता हुआ जा रहा है। दूसरे दृश्य में एक राज–पुरुष एक हाथी पर जा रहा है। आभूषणों और वस्त्रों से वह कोई राजा प्रतीत होता है। उसके पीछे हाथ में पताका लिये सेवक बैठा है। इस पर नन्दीपद अथवा त्रिरत्न का चिन्ह है। सांची में भी इसी प्रकार की पताकायें दिखाई देती हैं। अनेक विद्वानों ने इसे इन्द्र की प्रतिमा माना है किन्तु दिव्यावदान की कथा से ज्ञानी जी के मत की ही पुष्टि होती है।

भाजा की गुफाओं का शिल्प प्रारंभिक काल का है और भारहुत का समकालीन कहा जा सकता है। जैसा कि हम भारहुत के प्रकरण में कह चुके हैं, कि इस लोक–कला का न तो धर्म के दार्शनिक पक्ष से सम्बंध है और नैतिक पक्ष से। यह तो उस युग के आमोद–प्रमोद मय जीवन को हमारे सम्मुख रखता है। पशु और वृक्ष-वल्लरियों आदि का चित्रण भी इतनी उत्कृष्टता से हुआ है कि विदेशी कला समीक्षकों को भी मुग्ध होकर कहना पड़ा है, 'विश्व की किसी अन्य शिल्प-शैली में पशु-जगत् या वनस्पतियों का इतना सुन्दर और सजीव चित्रण नहीं हुआ' कुछ इतिहासकारों ने भाजा के शिल्प को तीसरी अथवा दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व का माना है किन्तु सर जॉन मार्शल व श्री कुमारस्वामी के मत में यह प्रथम शताब्दी का है।

भाजा के विहार के निकट ही एक स्तूप भी था। कौंडिन्य, पितलखोरा व अजंता की दसवीं कन्दरा की गुफा भी इसी युग की है। अजंता की नवीं गुफा कुछ

पश्चात् बनी है। यह चैत्य उन भिक्षुओं के लिए बने थे जो संघ बनाकर सामूहिक रूप से रहते थे। इनमें उपासना स्थल, स्तूप भी बना रहता था। इन्हें चैत्य कहा गया है। इनमें बड़े प्रकोष्ठ, चैत्य और कोठरियाँ रहती थीं। प्रकोष्ठ भिक्षुओं के एकत्रित होने के लिए, कोठरियाँ रहने के लिए तथा स्तूप उपासना के लिये बनाया जाता था। बहुधा आकार में यह लम्बाई लिए हुए रहते थे और सबसे भीतरी भाग में स्तूप रहता था। चैत्य का भवन का वह छोर जिसमें स्तूप रहता था, कुछ गोलाई लिए हुए रहता था। वही स्तूप के परिक्रमा– पथ का काम भी देता था। सभा-मडंप अथवा बड़े प्रकोष्ठ में द्वार के उपर घोड़े के नाल के आकार का एक बड़ा झरोका भी काटा जाता था ताकि गुफा में प्रकाश और वायु प्रवेश कर सके। कौंडिण्य, वेदसा अथवा पितलखोरा में मूर्तियाँ नहीं हैं। यह स्थापत्य के विकास की दृष्टि से ही अधिक महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। यह प्रारम्भिक नमूने हैं। समस्त गुहा मंदिर भाजा के समकालीन ही हैं। इन गुफाओं की छतों में काठ का उपयोग भी हुआ है। भाजा का सभा-मंडप लगभग ६० फीट लम्बा है और कौंडिण्य का भी इतना ही है। अजंता की दसवीं गुहा का सभामंडप इनसे बड़ा है और वह लगभग ९६ फीट है। इनमें सबसे पुराने बिहार भाजा, कौंडण्य और पीतलखोरा के हैं। अजंता की दसवीं गुहा भी इसी काल की है। बेदसा और नासिक का चैत्य कुछ बाद में बने और कार्ले का सबसे अंतिम है। सर जॉन मार्शल इन का समय इस प्रकार मानते हैं। भाजा, कौडिण्य, पितलखोरा तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व में बने। अजंता की दसवीं गुहा भी इसी समय बनी। बेदसा के गुहा-मन्दिर द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व के प्रथम अथवा द्वितीय दशाब्दी में तथा नासिक ईसा से १६० वर्ष पूर्व बना। कार्ले का समय ईसा से ६० वष पूर्व का है।[१]

इन समस्त गुहा मंदिरों में कार्ले सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। वह इन सब में बड़ा है और उसमें हीनयान के चैत्य-गृह की पूर्णताओं का समावेश हो गया है। यह सुरक्षित अवस्था में भी है। यह लगभग एक सौ चौबीस फीट लम्बा और पैंतालीस फीट चौड़ा है। अपने पहले के बौद्ध-भवनों में यह सबसे भव्य प्रतीत होता है।

इसका स्तूप भी विशाल है। उसकी हर्मिका के ऊपर काठ का छत्र लगा हुआ है। कार्ले की गुफा की छत में भी लकड़ी दिखाई देती है। स्तूप में दो वेदिका पथ हैं। भवन का प्रवेश द्वार कटा हुआ है ताकि भीतर प्रकाश प्रवेश कर सके। भवन के प्रवेश द्वार से लेकर भीतर के स्तूप तक विशाल खम्भों की पंक्तियां है। इन खम्भों के ऊपर झुके हुए हाथी, घोड़े और उनके सवारों की आकृतियां

१. The Cambridge History of India Vol. I, Page 637.

बनी हुई हैं। हाथियों और उनके आरोहियों को बड़ी सजीवता के साथ बनाया गया है। कार्ले के प्रवेश-द्वार पर भी कुछ मूर्तियाँ दिखाई देती हैं। इनमें कहीं हाथियों की पंक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, तो कहीं मिथुन। ऊपर के एक शिला-पट्ट पर भगवान बुद्ध की मूर्तियाँ आंकी गईं हैं। यह विभिन्न काल की हैं। इनमें से कुछ गुप्त युग की बनी हुई हैं। प्राचीन प्रतिमायें उन दान-दाताओं की हैं, जिन्होंने इस संघाराम के लिए धन व्यय किया था। वे अपनी पत्नियों के साथ खड़े हैं।

स्तूप भवन के आगे दो ध्वज-स्तम्भ खड़े हुए थे। इनमें से एक प्राप्त होता है। उस पर चार सिंहों की आकृतियाँ आंकी गई थीं। कार्ले की गुफा की विशेषता यह है कि इससे कई मंजिलों के गुहा-मंदिर बनाने की परम्परा चलती है और फिर एलोरा में तीन-तीन तल की गुफायें दिखाई देती हैं। इसका प्रारम्भ नासिक और कार्ले की गुफाओं से ही होता है।

नासिक में गुफा नगर से ५-६ मील-दूर हैं। यहाँ के लोग इन गुफाओं को पान्डव गुफा कहते हैं। उनका विश्वास है कि पंच पांडव अपने वनवास में यहाँ आकर ठहरे थे। इसे गौतमी पुत्र गुफा भी कहते हैं। इसमें सामने का भाग, दो तलों में विभक्त कर दिया गया है। नीचे की ओर द्वार है और ऊपर की ओर बड़ी खिड़की, जिससे प्रकाश आया करता है। विदेशियों ने इसे घोड़े के नाल के आकार का कहा है। सामने की ओर बरामदा है और उससे लगे हुए तीन कमरे हैं। इसके ऊपर भी नकाशी का काम दिखाई देता है। स्तम्भों के ऊपर चौकोर चौकियाँ हैं, जिन पर बैठे हुए हाथी आंके गये हैं। स्थापत्य के विकास की दृष्टि से इन खम्भों का अपना महत्व है। क्योंकि नीचे का आकार जल-कलश का है। उसी में से यह खम्भे निकलते हुए दिखाई देते हैं। खम्भों में कलश का प्रयोग अजंता और एलोरा में तो बहुत दिखाई देता है। वहाँ तो इन्हें विविध प्रकार के अलंकरण से भर दिया गया है। प्रारम्भिक बौद्ध स्थापत्य में इस प्रकार के खम्भे यहाँ पहिली ही बार दिखाई देते हैं। खम्भे के ऊपरी भाग में मुड़ी हुई पंखुड़ियों का कमल नीलोत्पल या लीलोफर है। सच तो यह है कि प्रारम्भिक बौद्ध स्थापत्य में खम्भों की डिजायनों की मूल-कल्पना अशोक-स्तम्भों से ही ली गई है। उससे पहले भी जो खम्भे बनते थे, उनमें ऊपर की ओर पक्षियों आदि की मूर्तियाँ बनी रहती थीं।

प्रारम्भिक गुहा-मन्दिरों में जुन्नार की गुफाओं का भी अपना एक स्थान है। यह पूना से लगभग पचास मील दूर पड़ती हैं। इसमें से एक स्तूप व विहार भी है। इनमें भी भीतर खम्भे हैं। इन सब गुफाओं में से किसी में भी कोई मूर्ति नहीं है। मनमोड़ की गुफा जुन्नार के दक्षिण-पश्चिम सड़क के ऊपर ही लगभग एक मील की दूरी पर स्थित है। इसकी तीन गुफाओं में एक अपूर्ण

चैत्य गुफा प्रधान समझी जाती है। इसमें श्री देवी की एक प्रतिमा प्राप्त होती है। जैसा कि हम सांची के प्रकरण में देख चुके हैं, लक्ष्मी की प्रतिमायें बौद्ध-शिल्प में भी प्राप्त होती हैं। ईसा की प्रथम और दूसरी शताब्दी में लक्ष्मी की उपासना बहु-प्रचलित थी। सिरि और कालकर्णी जातक में भी लक्ष्मी का उल्लेख प्राप्त होता होता है। सिरि जातक में एक चोर अनाथ पिंडक की श्री अर्थात् धन चुराना चाहता था किन्तु वह एक स्थान पर ठहरती ही न थी। कभी वह मणियों में चली जाती थी, कभी श्रेष्ठि पत्नी में जाकर निवास करती थी। इस प्रकार 'श्री' का धन के रूप में उल्लेख प्राप्त होता है। एक अन्य जातक में बोधिसत्व काशी के एक वणिक के यहाँ उत्पन्न हुए। वह परिवार धार्मिक कार्यों को पवित्रता के साथ सम्पन्न करता था, इसीलिए उसे शुचि परिवार कहते थे। एक बार देवी श्री और कालकर्णी अनोतप्त सरोवर पर स्नान करने गईं। दोनों में झगड़ा उठ खड़ा हुआ कि पहले कौन स्नान करे? जब उस झगड़े को देवों के अधिपति शक भी न सुलझा सके तब वे दोनों बोधिसत्व के पास गईं, बोधिसत्व के पास पहले नीले वस्त्र पहने कालकर्णी पहुंचीं। बोधिसत्व नें उनसे बातचीत की और उससे उनके गुण पूछे। जब बोधिसत्व को उनसे संतोष न हुआ तो उन्होंने उस देवी से चले जाने को कहा। उसके पश्चात् देवी श्री आई। वे पीले वस्त्र पहने हुए थी और उनके शरीर पर भी सोने के आभूषण थे। उन्होंने अपने गुण बताये कि वे कर्मठ व्यक्तियों को पसन्द करती हैं साथ ही उन्हें जीवन मे पवित्रता अत्यंत प्रिय है। बोधिसत्व ने उनका सत्कार किया और बैठने के लिए वह शैया दी जो अत्यंत पवित्र लोगों के लिए रक्खी गई थी। उसका नाम ही श्री-शैया पड़ गया।

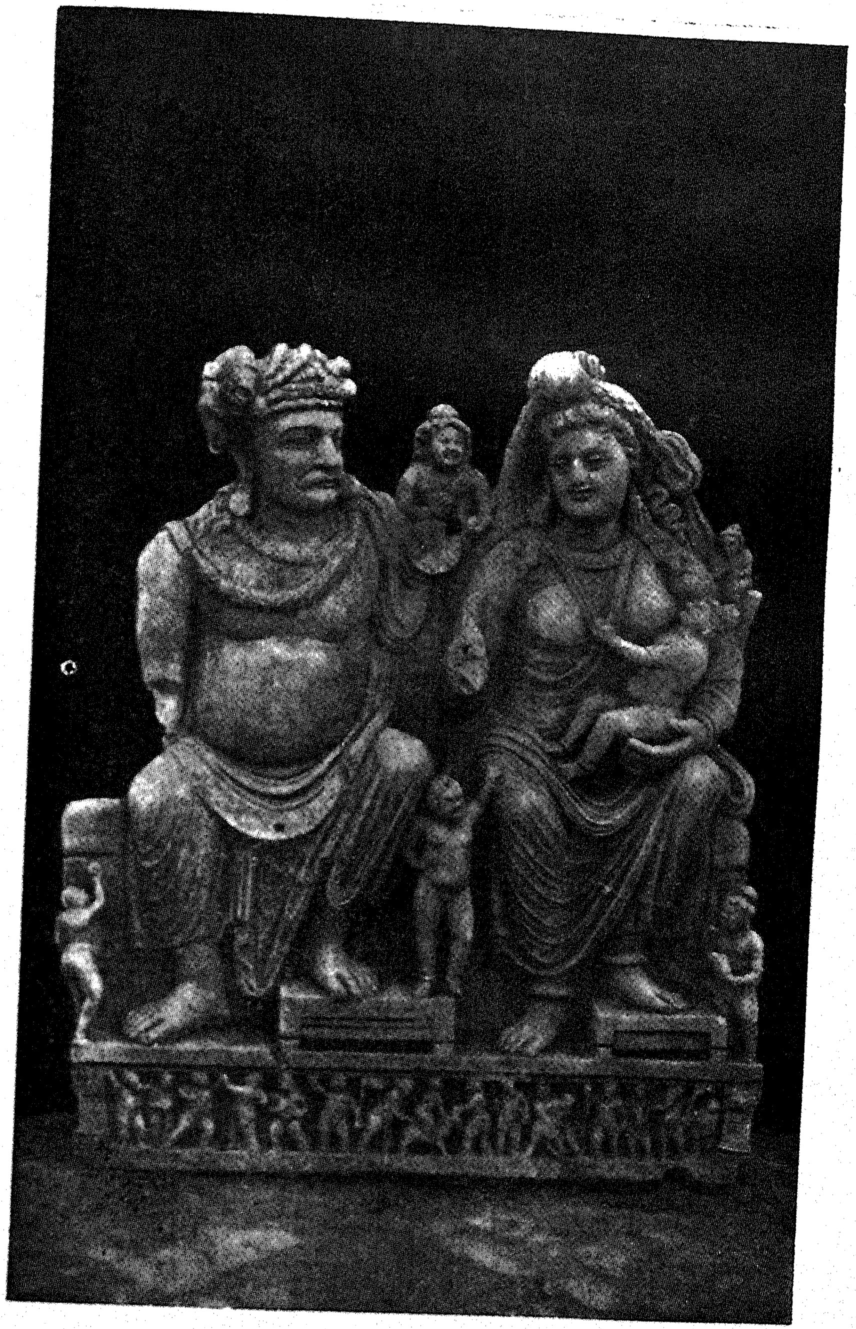
इस जातक-कथा से स्पष्ट हो जाता है कि श्री देवी बौद्ध वाङ्मय में अपरिचिता नहीं थीं। उनकी प्रतिमायें बोध गया, भारहुत और सांची में भी मिलती ही हैं। जुन्नार के निकट मनमोड़ पर्वत की गुफाओं में श्री देवी की प्रतिमा ऊपरी गोलार्ध के निकट बनी हुई दिखाई देती है। वे कमल पर खड़ीं हैं और उनके निकट के प्रकोष्ठ में दो हाथी कमलों पर खड़े हुए दिखाई देते हैं। उनकी सूंडों में जल-कुंभ दिखाई देना है उसके पास के प्रकोष्ठ में दो पुरुष हाथ जोड़े हुए खड़े दिखाई देते हैं। वे भीतर के प्रकोष्ठ की देवी की पूजा करते हुए प्रतीत होते हैं। बाहर की दीवालों पर स्त्रियाँ खड़ी हैं। वे भी इसी मुद्रा में हैं। उनके हाथों में कमल का पुष्प तथा कलिका दिखाई देती है। मनमोड़ पर्वत की प्रतिमा श्री की ही आकृति है, यह सभी कला-समीक्षकों ने स्वीकार कर लिया है।

प्रसिद्ध इतिहासकार फर्गुसन ने भी लिखा कि भारहुत के साथ इस मूर्ति तुलना करने पर संशय का कोई स्थान ही नहीं रह जाता, यद्यपि जिन पत्थरों पर उनकी आकृतियां बनाई गई हैं वे भिन्न प्रकार के हैं। उन दोनों में यह बताना

कि इनमें कौन सी पहली है, सम्भव नहीं है । लगभग इसी युग की जैन गुफायें उड़ीसा में भी हैं, उनमें से रानी गुम्फा में दरवाजे के ऊपर की मेहराब: में भी श्री–दिखाई देती हैं । इसमें वे एक कमल पर खड़ी दिखाई देती हैं और सरोवर के दो अन्य कमलों पर हाथी खड़े हैं । यद्यपि इन प्रतिमाओं में कला की श्रेष्ठता तो नहीं दिखाई देती फिर भी मूर्ति–विधान की दृष्टि से इनका महत्व है । इनसे यह तो सिद्ध होता ही है कि हिन्दू, बौद्ध और जैन, सभी में समान रूप से लक्ष्मी की उपासना प्रचलित थी ।

जैन शिल्प के अतिरिक्त जैनों के वाङमय में भी लक्ष्मी देवी का उल्लेख प्राप्त होता है । भगवान महावीर की माता त्रिशला देवी ने चौदह पवित्र स्वप्न देखे थे । उनमें उन्होंने अनेक पवित्र वस्तुयें जैसे अग्नि की ज्वाला, दिव्य रथ, हाथी आदि देखे थे । उन्होंने स्वप्न में श्री देवी के दर्शन भी किए थे । वे कमल पर आसीन थीं और दिग्गज उनका अभिषेक कर रहे थे । सबेरे जब उन्होंने यह स्वप्न ज्योतिषियों को बतलाया तो उन्होंने कहा कि रानी ने ऐश्वर्य की देवी के दर्शन किये हैं । उनका पुत्र अलौकिक होगा और जिस समय वह माता की कोख में रहेगा, रानी की दान आदि देने की विशेष अभिरुचि रहेगी । भगवान बुद्ध के जन्म के समय उत्तर रुचक से जो कुमारिकायें आईं उनमें श्री भी थीं। ईसा पूर्व के इन गुहा–मन्दिरों में श्री की प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा दिखाई देती है । फिर ज्यों-ज्यों महायान का विकास होता जाता है, वे ध्यानी बुद्धों और बोधि-सत्वों की भीड़ में न जाने कहाँ विलीन भी हो जाती हैं ?

जिन दिनों दक्षिण में गुहा-मन्दिरों की परम्परा चलती जा रही थी, उन्ही दिनों उत्तरी भारत में दो शिल्प शैलियाँ उदय हो रही थीं । एक का केन्द्र मथुरा था और दूसरी का गान्धार प्रदेश । मथुरा शैली में इस देश की लोक–कला ही विकास प्राप्त रही थी और गांधार में विदेशी तत्वों का मिश्रण था । मथुरा और गांधार दोनों शैलियों में पृथक्–पृथक् रूप से भगवान बुद्ध प्रतिमायें बनती जा रही थीं ।



कुबेर और हारिती—
गांधार शैली

गांधार शैली

मथुरा के शिल्पी जिन दिनों भगवान तथागत की शांति, मैत्री और करुणा को भावमयी प्रतिमाओं के रूप में साकार कर रहे थे उन दिनों भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में भी बुद्ध की जीवन-गाथा और जातक-कथाओं से प्रेरणा पाकर राजा लोग, शिल्पियों से असंख्य प्रतिमायें गढ़वा रहे थे। एक मन की प्रेरणा से आत्मविस्मृत होकर कला की साधना कर रहा था, दूसरा उदर-पूर्ति के लिये राजाज्ञा का पालन कर रहा था।

गान्धार प्रदेश में यवन, ईरानी और भारतीय संस्कृतियों का संगम हो रहा था। इस का प्रभाव कला पर भी पड़ना स्वाभाविक था। दोनों के दृष्टिकोण के साथ ही उनके शिल्प-विधान में भी अंतर था। एक कल्पना की देवी को साकार कर रहा था, दूसरे के आगे सादृश्य था। वह ग्रीक के देवताओं जैसी ही चीज़ बना देना चाहता था। वह बुद्ध की प्रतिमा को एपोलो की प्रतिकृति बना देना चाहता था। बलिष्ठ शरीर व उभरी हुई मांस-पेशियों की ओर उसका ध्यान अधिक था। वह कथा के विषय को पूरी तरह से सजा देना जानता था पर स्वतः की अनुभूति के अभाव में प्रतिमा में प्राण-प्रतिष्ठित करने में असमर्थ था। विषय दोनों के एक ही थे पर गान्धार-कला में वह लुनाई न आ पाई, जो मथुरा की कला-कृतियों को सजीव बनाती थी। इस भिन्नता के कारण यह शैली भारतीय कला के आदर्शों से कुछ दूर जा पड़ती है, पर एक कहावत है, 'सोने को रंग कसौटी लगे पै कसौटी को रंग लगे नहिं सोनें।' भारतीय कला ने इस पर अपना कुछ न कुछ प्रभाव छोड़ ही दिया। इन प्रतिमाओं के नेत्रों में कटाक्ष भर गया। उंगलियाँ भी लचकीली हो गईं पर दोनों में अन्तर बना रहना भी स्वाभाविक था।

जो शिल्प-शैली गान्धार में पनपी उसे 'गान्धार-कला' की संज्ञा दे दी गई। यों विदेशी विद्वानों ने इसे 'ग्रीको-बुद्धिस्ट,' इन्डो-ग्रीक, इन्डो-वैक्टीरियन के नाम से सम्बोधित किया है।

गान्धार नाम अत्यंत प्रसिद्ध है, साथ ही प्राचीन भी। ऋग्वेद और अथर्व वेद में इसके इसी नाम का उल्लेख मिलता है। पुरुषपुर और पुष्कलावती यहाँ के सुप्रसिद्ध नगर थे। दक्षिण-पूर्व में इसकी सीमा तक्षशिला को छूती थी।

धर्म-प्रिय सम्राट अशोक ने भगवान बुद्ध के आर्य-सत्यों को समस्त जनपदों में प्रसारित कराया था। भिक्षुओं का जो दल गान्धार और काश्मीर गया, उसके नेता मध्यान्तक थे। वहां के नाग-राजा इरावल ने उनसे दीक्षा ली थी। कहते हैं कि अशोक ने देश भर में चौरासी हजार स्तूप बनवा दिये थे। सम्भव है कि कुछ स्तूप यहाँ भी बनाये गये हों।

ईसा पूर्व दूसरी व पहिली शताब्दी में जो बैक्टीरियन राजा यहाँ शासन करते थे, उनकी बौद्ध मत पर आस्था थी। 'मिलिन्द-प्रश्न' में यवनराज मीनंडर की भिक्षु नागसेन से धार्मिक विषयों पर चर्चायें हैं। मीनंडर ही मिलिन्द थे, यह निश्चय हो चुका है।[1] वे स्वयं बौद्ध मतावलम्बी थे। मीनंडर के राज्य की सीमा बढ़कर अयोद्या तक आ गई थी।

बैक्टीरियन राजाओं के पश्चात् इस प्रदेश पर शकों का आधिपत्य हुआ। बौद्ध मत के प्रश्रय दाताओं में कनिष्क का नाम भी अशोक के समान ही बड़े आदर-भाव से लिया जाता है। उन्होंने १०० ई० में भिक्षु-संघ को जालंधर में आमंत्रित किया था। वहीं महायान को एक निश्चित स्वरूप प्राप्त हुआ। कनिष्क सभी धर्मों को सम्मान की दृष्टि से देखते थे। उनकी धर्म-सहिष्णुता के प्रमाण वे सिक्के हैं जिनपर हिन्दू, बौद्ध और पारसी आदि देवी-देवताओं की मूर्तियाँ बनी हैं।[2]

इस प्रांत में धीरे-धीरे महायान की जड़ें जमती गईं। महायान यहाँ कई शताब्दियों तक फूलता-फलता रहा। चीनी पर्यटक हुआन सांग ने जो सातवीं शताब्दी में भारत आये, लिखा है कि उनके समय में गान्धार में पांच सौ विहार हैं जिनमें भिक्षुगण निवास करते हैं। गान्धार की शैली महायान के मूर्ति-विधान की दृष्टि से अत्यंत महत्व पूर्ण है। विषयों का बाहुल्य इसकी विशेषता है।

गान्धार प्रदेश में पिछली शताब्दी में अनेक भग्न स्तूपों की खुदाई की गई। उनमें से प्रतिमाओं का इतना विशाल भंडार निकला कि पेशावर, लाहौर व कलकत्ता के संग्रहालयों के अनेक कक्ष भर गये। सबसे पहली खुदाई सर ई. क्लाइव बैले ने जमालगढ़ी में कराई। इसकी मूर्तियाँ इंगलैन्ड ले आयी गईं। वहाँ क्रिस्टल भवन में इनकी प्रदर्शनी हुई किन्तु दुर्भाग्यवश उसमें आग लग गई और सारी प्रतिमायें वहीं नष्ट हो गईं। इनके चित्र भी नहीं उतारे जा सके। बैले साहब ने इनके केवल ग्यारह रेखा-चित्र बनाये हैं।[3] जमाल गढ़ी, तख्ते-बाही युसुफजाई, सिकरी आदि के बौद्ध स्तूपों में काले स्लेट की हजारों मूर्तियाँ निकली

१. Dictionary of Pali Proper Names, Malalasekera, Vol., Intro, XVIII ff.

२. History of Indian and Indonesian Art, Dr. Coomaraswamy Page 50.

३. Journal of Royal Asiatic Society Vol. XXI [1852] Page 606—621.

हैं। गान्धार की समस्त प्रतिमायें काले स्लेटी पत्थर की ही हैं। यह मूर्तियाँ किस काल की हैं, यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता क्यों कि इन पर कोई लेख नहीं खुदा, जिसके आधार पर उनका समय निर्णय किया जा सके। सर जॉन मार्शल ने इन प्रतिमाओं के सम्बन्ध में लिखा है—

Not one of the thousands of known images bare a date in any known era, nor do consideration of style permit us to determine their chronological sequence with any approach to accuracy."[१]

ऐसी स्थिति में यह कह सकना सम्भव नहीं कि इनमें से कौन सी कृति पहले की और कौन सी उसके बाद की है। केवल दो-तीन प्रतिमायें इसकी अपवाद हैं। खरोष्ठी में उनके नीचे, उनके बनने का समय लिख दिया गया है। इनमें से एक कलकत्ता संग्रहालय में है। यह एक बुद्ध-मूर्ति है, जिसे किन्हीं बुद्धघोष ने संघ को अर्पित किया था। इसके नीचे '३१९' लिखा है। ब्रिटिश म्यूजियम में हस्त नगर इलाके में मिली एक मूर्ति है जिसका ऊपरी भाग खंडित हो गया है और केवल धड़ का हिस्सा बच रहा है। इस पर '३९४' लिखा हुआ है। हारिति की एक मूर्ति लाहौर के संग्रहालय में है, जिस पर १७९ अंकित है। यह कौन से संवत् का निर्देश करता है, इस सम्बन्ध में अबतक केवल अनुमान लगाये जा रहे हैं। सम्भवतः यह पहिली शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर दूसरी शताब्दी तक की प्रतिमायें हैं।

गान्धार-कला के विषय भगवान बुद्ध के जीवन से लिये गये हैं। शायद ही कोई ऐसा प्रसंग शेष बचा हो जिसे यहाँ के शिल्पी की छैनी ने न छुआ हो। उनके भू पर अवतरित होने से लेकर महा परिनिर्वाण तक के सारे प्रसंग इस शिल्प में आंक दिये हैं। इन प्रतिमाओं की संख्या इतनी अधिक है कि उनका पृथक् रूप से अध्ययन कर सकना सम्भव नहीं है। यों तो देश का शायद ही कोई संग्रहालय हो, जहाँ हमें गान्धार कला का कोई न कोई नमूना न मिल जाय, किन्तु कलकत्ता संग्रहालय व लाहौर संग्रहालय इसके सबसे विशाल भंडार हैं।

गान्धार शिल्प की शैली विदेशी होते हुये भी इसके विषय सर्वथा भारतीय हैं। इनमें से कुछ कथानक भारतीय शिल्पियों को इतने प्रिय हैं कि वे सभी शिल्प-शैलियों में प्रस्तरांकित हुये हैं।

मायादेवी का स्वप्न भारहुत के अर्ध-चित्रों में आंका गया है। गान्धार कला का एक फलक कलकत्ता संग्रहालय में भी है, जिसमें माया देवी सो रहीं हैं। एक हाथी दौड़ता हुआ उनकी ओर आ रहा है। रानी की शैया के निकट ही एक

१. Guide to Taxila Sir J. H. Marshall, Page 31.

दासी खड़ी है। हाथी के मुंह के पीछे प्रभा-मंडल दिखाई दे रहा है। गान्धार शैली की प्रतिमाओं में भगवान बुद्ध और कभी कभी बोधिसत्व के मुख के पीछे प्रभा-मंडल दिखाई देता है किन्तु वह कुषाण अथवा गुप्त कालीन प्रतिमाओं के प्रभा-मंडल की भांति कमलों की बेलों अथवा पुष्पों से अलंकृत नहीं रहता, वरन् सादा और सपाट रहता है। गान्धार शैली की कुछ ही बुद्ध-प्रतिमाओं में अलंकरणों से भरा हुआ प्रभा-मंडल दिखाई देता है, किन्तु सम्भवतः यह बाद की कृतियाँ हैं।

माया देवी के स्वप्न के इस दृश्य में एक स्त्री दण्ड लिये उनके पास खड़ी है किन्तु भारहुत के अर्ध–चित्र से तुलना करने पर हमें निराश ही होना पड़ता है। भारहुत के दृश्य में जलते हुए दीपक से, पलंग पर माथा टेक कर सोती हुई दासियों से, स्वयं माया देवी की मुद्रा से, जिस वातावरण की सृष्टि होती है, उसका शतांश भी इस फलक से नहीं हो पाती।

कला का स्रोत उसके निर्माता की अन्तर की प्रेरणा होती है। अजंता के अंधेरे गुहा-मंदिरों को केवल अंतर के प्रकाश से ही आलोकित कर उन दिव्य-चित्रावलियों की रचना हो सकती थी। गान्धार शैली के कारीगर को यह प्रेरणा न मिल पाई थी।

गान्धार शैली की कृतियाँ फरमाइशी चीजें थीं। कलाकार के पास आदेश पड़े थे और उसे उन्हें निबटाना था अतः वह बिना कोई अनुभूति जगाये, मशीन की भांति मूर्तियाँ बनाता चला गया। यदि ऐसी प्रतिमायें रसानुभूति जाग्रत करने में समर्थ न हो सकें तो क्या आश्चर्य ?

श्री राय कृष्णदास जी ने इस स्थिति को समझ कर लिखा है—"बौद्ध विषयों की अभिव्यक्ति के लिये उन शिल्पियों को अपनी कल्पना से काम नहीं लेना पड़ा। कुछ उपादानों के नमूने भी गन्धार में पहुँचाये होंगे किन्तु यतः वहाँ के कारीगरों को थान की थान मूर्तियाँ तैयार करनी थीं अतः उन्हें इतना अवकाश न था कि वे इन नमूनों को आत्मसात् करते अथवा भारतीय अभिप्रायों को समझने बैठते। कुछ खास–खास बातें लेकर अपनी पारंपरीण शैली के अनुसार उन्हें काम पीटना था।" १.

जन्म के दृश्य में रानी माया देवी साल वृक्ष के नीचे उसकी एक टहनी पकड़े हुये खड़ी हैं। निकट ही उनकी बहिन महाप्रजावती खड़ी हैं। उनके निकट जल-पात्र लिये एक अन्य नारी अंकित की गई है। देवराज शक्र वस्त्र पकड़े, शिशु सिद्धार्थ को अपने हाथों में ले रहे हैं। उनके पीछे ब्रह्मा खड़े हैं। महाप्रजावती देवी के निकट जो स्त्री खड़ी है, उसके हाथ में ताड़ के पंखे जैसी कोई वस्तु है, जो भारतीय शिल्प-कृतियों में नहीं दिखाई देती।

---

१. भारतीय मूर्तिकला,—श्री राय कृष्ण दास, पृष्ठ ७४,

गान्धार शैली की यह मूर्तियाँ मानो भगवान बुद्ध की जीवन-गाथाओं की विशाल भंडार हैं। कहीं छंदक और कहीं कंथक घोड़े के जन्म के दृष्य हैं, जो केवल भगवान की सेवा करने के लिये धरती पर उतरे थे। कहीं शिशु बुद्ध का प्रथम स्नान है जिसमें वे एक चौकी पर खड़े हुये हैं और ब्रह्मा तथा इन्द्र एक जल-पात्र लिये हुये उन्हें स्नान करा रहे हैं।

सिद्धार्थ के पाठशाला में जाकर पढ़ने का दृश्य साँची या भारहुत के शिल्प में कहीं नहीं दिखाई देता। वे अपनी दोनों जांघों पर पट्टी रक्खे हुये लिख रहे हैं। वे एक चौकी पर बैठे हैं। निकट ही अन्य विद्यार्थी खड़े हैं। इस फलक में कई दृश्य हैं। एक ही कथा के विभिन्न प्रसंगों को, एक ही फलक में, कई दृश्यों के रूप में आँकने की शैली पूर्णतया भारतीय है। अजंता, साँची, भारहुत और अमरावती में हमें यह शैली दिखाई देती है, अतः यह स्वाभाविक जान पड़ता है कि यह गांधार के शिल्पियों ने विभिन्न शैलियों से ग्रहण की हो। इसके एक कोने में गुरु बैठे हैं और सिद्धार्थ अन्य सहपाठियों के साथ अपनी पट्टी, लिपि-फलक लिये खड़े हैं। एक ओर कुछ विद्यार्थी मल्ल युद्ध कर रहे हैं और दूसरी ओर शस्त्र चलाने का अभ्यास कर रहे हैं। कहीं गोपा और सिद्धार्थ का परिणय होता दिखाई देता है। वे यज्ञ-वेदी के निकट एक दूसरे का हाथ पकड़े खड़े हैं। वर के निकट ही एक पुरुष वाद्य बजा रहा है।

सिद्धार्थ के महाभिनिष्क्रमण का दृश्य साँची के तोरणों पर भी आंका गया है किन्तु वहाँ वे स्वयं नहीं दिखाई देते। छन्दक खाली घोड़े पर छतरी ताने हुये है। गांधार कला के, कलकत्ता संग्रहालय के एक मूर्ति-फलक में वे एक राजकुमार की भांति घोड़े पर बैठे हुये जा रहे हैं। उनके सिर पर लट्टूदार पगडी है। मुख के पीछे प्रभा-मंडल है। वे राजकीय परिधान और अलंकार धारण किये हैं। नाटे कद के घुंघराले वालों वाले देव घोड़े के खुरों को अपने हाथ में लिये हैं। छंदक छतरी ताने है। घोड़े के निकट ही इन्द्र खड़े हैं। वे राजपुरुषों जैसे आंके गये हैं। उनके पीछे ब्रह्मा खड़े हैं। वे योगियों जैसे वस्त्र धारण किये हैं। सिर पर लम्बे बाल हैं, जिनका जूड़ा ऊपर बंधा हुआ है। उनके पीछे भी प्रभा-मंडल है। देव गण हाथ जोड़े हुये हैं। आकाश में एक ओर वज्र लिये हुये यक्ष वज्र-पाणि दिखाई देता है, और दूसरी ओर अन्य देवता।

महाभिनिष्क्रमण की भांति ही, शक्र का भगवान बुद्ध के निकट आगमन भी बौद्ध कालीन शिल्पियों का प्रिय विषय रहा है। बोधगया में भी शक्र का उनके निकट भेंट करने के लिए आना, आंका गया है। जिन दिनों भगवान मगध जा रहे थे, वे राजगृह के निकट एक गुहा में ठहर गये। तब इन्द्र अपने एक गन्धर्व मित्र के साथ उनके निकट अपनी जिज्ञासाओं के समाधान के लिए

आया। गांधार के इस फलक में बुद्ध आसन पर बैठे हैं और शक्र हाथ जोड़े हुये खड़ा है। सेवक उस पर छतरी ताने है। इन्द्र के साथी गन्धर्व के हाथ में हार्प बाजा है।

ऐसे ही और भी अनेक विषयों का अंकन हमें गांधार शिल्प में दिखाई देता है जो भारहुत, साँची और अमरावती आदि में आंके जा चुके थे। मार-विजय के दृश्य तो भित्ति-चित्रों में भी दिखाई देते हैं। महाराज बिम्बसार से भगवान बुद्ध की भेंट भारहुत के तोरणों के अर्ध-चित्र में प्राप्त होती है, जिसकी चर्चा हम भारहुत के प्रकरण में कर चुके हैं। जब भगवान, गंगा को पार करके राजगृह पधारे तब राजा बिम्बसार उनसे मिलने के लिये आये। कलकत्ता संग्रहालय के फलक में वे दोनों हाथ जोड़े हुये बैठे हैं।

इन समस्त विषयों के अंकन से स्पष्ट हो जाता है कि गान्धार कला के शिल्पियों ने उन्ही विषयों को स्पर्श किया जो पहले सांची या भारहुत में आंके जा चुके थे। गांधार शैली में हमें प्रतीकों की उपासना भी दिखाई देती है। वे त्रिरत्न और चक्र आदि हैं। जातकों का वाङमय बहुत बड़ा है। उनमें से शिल्पियों ने केवल कुछ जातक ही चुन लिये हैं। वही हमें भारहुत, सांची, अजंता और गांधार शिल्प में दिखाई देते हैं। इनमें हम छंदत जातक, श्याम जातक, वैसन्तर जातक, दीपंकर जातक, किन्नर जातक, ऋषि ऋंग जातक आदि देखते हैं। यद्यपि भारहुत में कुछ और जातक भी आंके गये हैं किन्तु ऐसा लगता है कि किसी एक शिल्प-शैली में एक जातक अंकित हो जाने के पश्चात् वही अधिक लोकप्रिय हो गया और मूर्तिकार उसी को गढ़ने लगे। छंदत जातक, भारहुत, सांची और अजंता के भित्ति-चित्रों में आता है। महाकपि जातक, भारहुत और सांची दोनों स्तूपों के तोरणों पर आंका गया है। ऋषि ऋंग जातक, जो कोई बहुत उत्कृष्ट कोटि की कथा नहीं है, (केवल एक ऋषि के चारित्रिक पतन के सम्बन्ध में है) भारहुत, सांची और गान्धार शैली में उतरा है।

बोधिसत्व एक बार हिमालय की घाटी में किन्नर बनकर उत्पन्न हुये उनकी पत्नी का नाम चन्द्रा था। एक बार वे दोनों एक वन में विहार कर रहे थे। किन्नर चन्द्र वेणु बजा रहा था और उसकी पत्नी नृत्य कर रही थी। वाराणसी का राजा शिकार करता हुआ उधर आ निकला। वह किन्नरी चन्द्रा का सौन्दर्य देखकर ठगा सा रह गया। उसने सोचा कि यदि वह किन्नर को मार डालेगा तो उसकी पत्नी को अपने साथ ले जा सकेगा। उसने तीर छोड़ दिया और चन्द्र किन्नर वहीं घायल होकर गिर पड़ा। फिर मर गया। चन्द्रा शोकातुर होकर उसके पुनर्जीवन के लिये शक्र से प्रार्थना करने लगी। उनकी कृपा से किन्नर में पुनः प्राण लौट आये। कलकत्ता संग्रहालय के मूर्ति-फलक में चन्द्र वेणु बजा रहा है और चन्द्रा नृत्य कर रही है। उसी में एक अन्य दृश्य है जिसमें राजा कमान थाम कर तीर छोड़ रहा है। किन्नरी और

चन्द्रा अपने पति के पास बैठी हुई विलाप कर रही है। एक ओर एक पुरुष एक स्त्री को खींचे लिये जा रहा है।[१]

गान्धार कला के मूर्तिकारों को दीपंकर जातक बहुत अधिक प्रिय था। उसे अनेकों बार आंका गया।

गान्धार कला को विदेशी कला-समीक्षकों ने जिनमें इतिहासकार बी. ए. स्मिथ और सर जॉन मार्शल भी हैं, बहुत आदर दिया है। उनकी मान्यता है कि बुद्ध-प्रतिमाओं का श्री गणेश इस शिल्प-शैली से ही हुआ, भारतीय मूर्तिकला से यह शैली बिलकुल अलग है। बुद्ध-मूर्ति की कल्पना सबसे पहले कहाँ उपजी, इस पर हम अगले अध्याय में विचार करेंगे।

गान्धार शैली में बोधिसत्वों की प्रतिमायें राजाओं जैसी बनाई जाती हैं। उनका शरीर मांसल दिखाई देता है। कभी-कभी पुठ्ठे और मांस-पेशियाँ उभरी हुई रहती हैं। उनकी मूंछें ऊपर उठी हुई रहती हैं। जो पहनावा और रहन सहन पहिली, दूसरी शताब्दी के सम्भ्रान्त परिवार के लोगों का था वही शिल्पियों ने बोधिसत्वों की प्रतिमाओं में आंका है। उनके माथे पर भी बुद्ध जैसा ही ऊर्ण रहता है। उनकी धोती नीची और सलवटों दार रहती है। कन्धे पर उत्तरीय पड़ा रहता है। गले में चौलड़ी मालायें रहती हैं। सिर पर पगड़ी रहती है, जिसमें रत्न टंके रहते हैं। उनके बाल कंधों पर लहराते हुये दिखाई देते हैं। गान्धार कला में केवल तीन ही बोधिसत्वों की प्रतिमायें प्राप्त होती हैं। वे अवलोकितेश्वर, मंजुश्री और मैत्रेय हैं। इसमें से मैत्रेय के हाथों में नकाशीदार, सुराही के आकार का पात्र रहता है। मंजु श्री पुस्तक लिये रहते हैं और पद्मपाणि अथवा अवलोकितेश्वर के हाथों में कमल रहता है। वे रत्नों से जड़े हुये गहने पहने रहते हैं।

गान्धार शैली में कुबेर और हारिति की प्रतिमायें प्राप्त होती हैं। कुबेर धन का स्वामी है और उत्तर दिशा का रक्षक भी कहा जाता है। वे यक्ष जाति के समझे जाते थे। कुबेर यक्षों का अधिपति समझा जाता था। हारिति उसकी पत्नी थी। हारिति की माता के रूप में कल्पना की गई है। वह अपनी गोद में शिशु लिये रहती है। कुछ नन्हें बालक उसे घेरे रहते हैं। तख्ते-वाही की खुदाई में कुबेर और हारिति की पास-पास एक ही आसन पर बैठी हुई मूर्ति प्राप्त हुई है। कुबेर का शरीर मांसल और पेट स्थूल है। यह दोनों, उन स्त्रियों द्वारा पूजे जाते थे, जो पुत्रों की कामना रखती थीं।

गान्धार कला का उद्गम भारतीय है। वह क्षेत्र जिसमें यह पनपी, विभिन्न संस्कृतियों का मिलन-भूमि रहा है। यही कारण है उस पर बाहर

१. A Guide to the sculptures in the Indian Museum, plate VI, a.

का; विशेष-रूप से ग्रीक ओर ईरानी प्रभाव दिखाई देता है किन्तु इस प्रभाव ने उसका पथ कुंठित कर दिया। न तो उसमें यूनानी कला की यथार्थता आ सकी और न भारतीय कला की आदर्श-शीलता। भारतीय मूर्तिकला की विभिन्न शैलियों पर उसका कोई स्थायी प्रभाव न पड़ सका। उसका महत्व यदि कुछ है तो मूर्ति-विधान की दृष्टि से। किसी शिल्प-शैली में इतने विषयों का बाहुल्य नहीं दिखाई देता किन्तु प्रतिमाओं में सजीवता ओर सौष्ठव न होने के कारण वह मन में रसानुभूति जगाने में नितान्त असफल रह जाती है। बौद्ध-कला का वह दुर्बल ही सही, एक अंग तो है, इसीलिये उसकी चर्चा करना आवश्यक सा हो गया।

हम कह चुके हैं कि गान्धार शिल्प में भगवान बुद्ध का शरीर मांसल और बलिष्ठ आंका गया है। कहीं-कहीं उनकी मांस-पेशियाँ उभरी हुई भी दिखाई देती हैं। पेशावर संग्रहालय में तपस्वी गौतम की एक प्रतिमा है जिसमें उनका अस्थि-पिंजर दिखाई देता है। चेहरे पर सुकड़नें पड़ गई हैं और आँखें गड्ढे में धंस गई हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कोई नर कंकाल आसन पर बिठा दिया गया है। मथुरा, सारनाथ अथवा अन्य कहीं इस प्रकार की प्रतिमा उपलब्ध नहीं होती। भारतीय शिल्पी की दृष्टि, भगवान की मानव-देह पर कभी केन्द्रित नहीं हुई। उसकी दृष्टि के आगे एक सामान्य मानव नहीं महा मानव; वरन् उससे भी श्रेष्ठ दिव्यात्मा था, जिसको वह कठोर पाषाण के माध्यम से साकार करना चाहता था। फिर क्षण-क्षण परिवर्तित होती हुई शारीरिक दशा की ओर उसका ध्यान कैसे जाता? देह की शक्ति ओर सौन्दर्य का अंकन उसे इष्ट न था। वह तो मूर्ति पर देवता की आभा उतार देना चाहता था, उसकी दिव्य-ज्योति आंक देना चाहता था। यदि उसकी कृति में यह आत्मिक सौन्दर्य निखर कर आ गया तो उसकी छैनी कृतकृत्य हो गई, यही भावना उसे कार्य की प्रेरणा देती थी। गान्धार शिल्प में भी इस भावना से प्रेरित होकर भगवान बुद्ध और बोधिसत्वों की कुछ प्रतिमाय बनी हैं, किन्तु वे संख्या में इतनी कम हैं कि उस विशाल भंडार में अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखतीं।

गान्धार शली में भगवान बुद्ध एक योगी के वेश में आंके गये। वे लम्बा वस्त्र कंधों से ओढ़े हुये दिखाई देते हैं। उस पर चुन्नटें दिखाई जाती हैं। कभी-कभी यह चुन्नटें इतनी अधिक दिखाई देती हैं कि उनका वस्त्र, शरीर से चिपटा, भींगा हुआ सा प्रतीत होता है।

इन प्रतिमाओं में भगवान के माथे पर साफ़ा या मुकुट आदि नहीं रहता जो बोधिसत्वों के मस्तक पर दिखाई देता है। इनमें उनके सिर पर बालों का जूड़ा रहता है। केश दो प्रकार के दिखाई देते हैं। किसी में वे कुछ बड़े, लहरियों दार दिखाई देते हैं किसी प्रतिमा वे छोटे-छोटे किन्तु घुमावदार रहते हैं।

मथुरा शैली

मथुरा के शिल्पी अपनी प्रतिमाओं के लिये, अत्यंत प्राचीन काल से प्रख्यात रहे हैं। ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी की कुछ कृतियाँ भी मथुरा के शिल्प में प्राप्त होती हैं। इसने अपनी पूर्व-परंपरा भारहुत के उन अर्ध चित्रों से प्राप्त की जिनमें लोक-जीवन का अंकन हुआ था। यक्ष और यक्षिणियों की भाव–मयी मुद्रायें प्रारम्भिक मथुरा शैली में भी दिखाई देती हैं। मथुरा की यक्ष–मूर्तियों की चर्चा हम कर चुके हैं। मथुरा की प्रतिमाओं की पहचान, उनका लाल चमकता हुआ पत्थर है। यह मूर्तियाँ भारत के सुदूर प्रान्तों में अब भी प्राप्त होती जा रही हैं। कला की यह अर्ध–मुकुलित कलिका गुप्त काल तक खिलकर विशाल पद्म बन जाती हैं। मथुरा और सारनाथ की बुद्ध–प्रतिमायें भारतीय कला की निधि समझी जाती है। कुषाण राजाओं के समय में इसका प्रारम्भिक रूप दिखाई देता है। इसका काल पहली शताब्दी से तीसरी शताब्दी तक माना जाता है।

इस युग की यक्ष और यक्षिणियों की प्रतिमायें वेदिकाओं के स्तम्भों पर ही दिखाई देती हैं। आध्यात्म के तत्व ने अभी इस कला के क्षेत्र में भी पदार्पण नहीं किया है। वह बुद्ध और बोधिसत्व की प्रतिमाओं के पश्चात् प्रवेश करता है। भगवान तथागत को पाषाण के माध्यम से सर्व–प्रथम साकार करने का श्रेय मथुरा की इस शिल्प–शैली को ही प्राप्त होता है।

यक्षिणियों की प्रतिमाओं में वे भारहुत की भांति ही बौने अथवा गज आदि पर खड़ी दिखाई देती हैं। उनका एक चरण बौने की पीठ पर रहता है, दूसरा तनिक झुका हुआ। उनके त्रिभंग का लालित्य देखते ही बनता हैं। ऐसा प्रतीत होता है, कुबेर की अलका की अनिंद्य रूपवती यक्षणियाँ सचमुच साकार हो गई हैं। कहीं वे अपने केशों के लटें एक हाथ से संभालतीं विविध हाव–भाव प्रदर्शित करती हुई दिखाई देती हैं तो कहीं दोहद क्रीड़ा करती हुई। ऐसा लगता है कि इनका जीवन ही श्रृंगार और विलास से ओतप्रोत है। उनके मुख से प्रसन्नता फूटी पड़ती है। नेत्रों में भी उसी की झलक हैं। इनका अंग–प्रत्यंग अत्यंत सौष्ठवमय हैं। ऐसा लगता कि मोम की ढली पुत्तलिकायें हों। इस लोक के स्वामी कुबेर हैं। वे जीवन के सुख और आनन्द के दाता हैं। कहीं वे मधु का कलश लिये दिखाई देते हैं, कहीं अपनी थैली से रत्न बिखेरते हुये।

इन दृश्यों को देख कर ऐसा लगता है कि उस युग के लोगों का जीवन एकांगी न था। वह जीवन के रस–कलश की अंतिम बूंद तक पी जाना चाहते थे।

मथुरा–शैली के यह समस्त अर्ध–चित्र जो वेदिकाओं के स्तम्भों पर आंके गये हैं, श्रृंगार–प्रधान हैं।

मथुरा–शिल्प में श्री देवी की एक अतीव सुन्दर प्रतिमा है, जिसका शिल्प–विधान कमलों की पार्श्व-भूमि से निखर उठा है। एक जल–कुम्भ में से कमलों की कलिकायें और खिले हुये पुष्प निकल रहे हैं। वे दो प्रफुल्लित कमलों पर खड़ी हुई दिखाई देती हैं। उनके एक हाथ में सनाल–कमल की कलियाँ हैं और दूसरा स्तन के निकट है। ऐसा प्रतीत होता है कि कोई जननी अपने शिशु को स्तन–पान कराना चाहती है। उनके घने केशों की राशि कंधों पर लटक आई है। बालों में रत्नों की मालायें लटक रही हैं। गले में एक पतली सी माला और हार है। बाहों में बाजूबन्द हैं। दोनों हाथ कोहनी तक चूड़ियों से भरे हैं। चूड़ियों के दोनों ओर कड़े हैं। कटि में करधनी है और पैरों में मोटे कड़े।[1]

मथुरा–शिल्प की एक प्रतिमा में एक स्त्री खड़ी है। उसके मुख पर आनन्द की झलक दिखाई दे रही है। शरीर सुडौल और सुन्दर है। एक–एक अंग सांचे में ढला हुआ सा जान पड़ता है। उनमें लोच, सुकुमार्य और लालित्य है। नारी एक हाथ में जल का पात्र लिए है और दूसरे से फूलों की पिटारी उठाये है। हाथ की यह भंगिमा देखते ही बनती है। इसके बाल गुथे हैं और उनमें लटकन गुंथा हुआ है जो माथे पर झूल रहा है। गले में दुलड़ी माला है और वक्ष पर हार। नारी का ऊपरी भाग अनावृत है। नीचे एक उमेठा हुआ सा दुपट्टा है, जो कमर में लिपटा हुआ दिखाई दे रहा है। भुजाओं में उमेठे हुए बाजूबन्द हैं। हाथों में कंगन और कुहनियों तक की चूड़ियां हैं। चूड़ियाँ सबसे पुराना गहना है। मोहे-न्जोदारो की नर्तकी के हाथ में भी दिखाई देती है। उन दिनों कुहनी तक चूड़ियाँ पहनने का रिवाज था। कमर में चार लड़ की करधनी है और पैरों में कड़े व छड़े।

इन प्रतिमाओं से कुषाण काल की स्त्रियों के पहनावे के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है। वे गहनों की बहुत शौकीन थी किन्तु वस्त्र कम पहनती थीं। ऊपर का भाग तो अनावृत ही रहता था। नीचे के शरीरांगों पर भी वे इतने कम वस्त्र पहनती थीं कि कभी-कभी नग्नता का भ्रम होने लगता है।

कुषाण सम्राटों की विशालकाय मूर्तियाँ भी इस शिल्प में दिखाई देती हैं। कनिष्क की प्रतिमा का नीचे का भाग प्राप्त हुआ है। यह खंडित है। वे यूनानी वस्त्र आदि पहने दिखाई देते हैं। कनिष्क के अतिरिक्त अन्य राजाओं की खंडित मूर्तियाँ भी मिलती हैं।

---

१. History of Indian and Indonesian Art, plate 74.

मथुरा शैली से पहले भारहुत, सांची, बोधगया आदि में कहीं भगवान बुद्ध की प्रतिमायें नहीं बनीं। विदेशी कला-समीक्षकों का मत है कि सबसे पहले गान्धार शैली में बुद्ध की प्रतिमा बनी। किन्तु वस्तुस्थिति यह नहीं है।

शुंग-युग की यक्ष-प्रतिमाओं के सम्बन्ध में चर्चा की जा चुकी है। अनेक विद्वान, जिनमें डा. कुमारस्वामी भी हैं बुद्ध-मूर्ति का प्रारंभ इन यक्ष-प्रतिमाओं से ही मानते हैं।

बौद्ध-शिल्पियों ने सब आंका किन्तु भगवान की प्रतिमा न आंकी यह एक अत्यंत विचित्र बात जान पड़ती है।

जिस समय भगवान के परिनिर्वाण का समय निकट आया, तो उनके अन्यतम शिष्य आनन्द ने भगवान से शरीर-पूजा के सम्बन्ध में पूछा। तथागत ने बुद्ध-पूजा का विरोध किया। उन्होंने कहा, 'मानव-शरीर तो नश्वर है, उसकी पूजा करने से क्या होगा ? तुम्हें उपासना करनी है तो धर्म की करो क्योंकि मुझमें और धर्म में कोई अंतर नहीं है। यदि गृहस्थ मेरी पूजा करेंगे तो उन्हें कैसे रोका जा सकता है, पर तुम लोग मेरे शरीर की पूजा न करना।" यही उन्होंने अपने एक अन्य शिष्य वक्कील से भी कहा। भगवान के जीवन-काल में लोग जब उनसे मिलने आते तो उन्हें भेंट देने के लिए पुष्प ले आते। उनकी कुटी इन फूलों की सुरभि से महका करती। इसीलिए उसे मूल गन्ध कुटी कहा जाता। भगवान के परिनिर्वाण से लेकर कनिष्क के युग तक उनकी प्रतिमा नहीं आंकी गई। उनके जन्म का प्रतीक हाथी, सम्बोधि का बोधिवृक्ष, धर्म-चक्र परिवर्तन का चक्र और महापरिनिर्वाण का प्रतीक स्तूप था। बार-बार भगवान के स्थान पर इन्हीं की आकृतियाँ बना दी जाती थीं। किन्तु महायान ग्रन्थों में बुद्ध के चित्रों का भी उल्लेख मिलता है। इस सम्बन्ध में एक मान्यता भी प्राप्त होती है। रुद्रायण अथवा उदयन के मन में जब भगवान बुद्ध की पूजा की तीव्र लालसा जग उठी तो भगवान ने उन्हें दर्शन दिये और कहा कि, 'तुम किसी वस्त्र पर मेरी अनुकृति खिचवा लो।' चित्रकार आया किन्तु उसने अपनी असमर्थता प्रकट कर दी। उसका चित्त सांसारिक विकारों से मुक्त न था। तब भगवान ने अपनी छाया को उस वस्त्र पर उतार दिया और चित्र में रंग के भरने को कहा। इस प्रकार भगवान बुद्ध की प्रथम प्रतिमा अथवा प्रतिच्छबि भू-लोक के निवासियों को मिली।[१]

ह्वेन सांग का कथन है कि रुद्रायण ने जिसे तैयार कराया वह एक चन्दन की मूर्ति है जिसे बनाने के लिए स्वयं महामोद्गलायन ने तुशित स्वर्ग से एक शिल्पी भेजा था। ह्वेन सांग लिखते हैं कि उन्होंने स्वयं अपने आँखों से इस मूर्ति को कौशाम्बी में देखा था।[२]

---

१. Elements of Buddhist Iconography by Dr. Coomarswamy, notes, Page 4.

२. Beal, Life, Page 91.

कुषाण शासक कनिष्क के काल में मथुरा मूर्ति-कला का एक बहुत बड़ा केन्द्र समझा जाता था। भारत के विभिन्न स्थानों में यहाँ की बनी मूर्तियाँ पाई गयी हैं। यह एक स्वतंत्र शैली थी जिसको भारहुत और सांची की लोक-कला का अधिक विकसित रूप कहा जा सकता है। गान्धार की कला से इसका सम्बन्ध न था। मथुरा शैली में केवल थोड़ी सी ही प्रतिमायें ऐसी हैं, जिन पर गान्धार-शैली का थोड़ा सा प्रभाव दिखाई देता है, सम्भव है कि कुछ शिल्पकार तक्षशिला और पेशावर की ओर से आकर मथुरा में रहने लगे हों और अपने साथ शैली-गत संस्कार ले आये हों। इन मूर्तियों की संख्या बहुत नगण्य है। मथुरा हिन्दू, जैन और बौद्धों का मिलन-स्थल रहा है अतः बुद्ध की प्रतिमाओं के अतिरिक्त इसी काल की तीर्थंकरों की प्रतिमायें भी प्राप्त होती हैं। यों तो मथुरा की अनेक मूर्तियाँ भारत व विदेशों के संग्रहालयों में प्रतिष्ठित हैं कि इनमें से मुख्य सारनाथ के संग्रहालय में खड़ी हुई बोधिसत्व की विशाल प्रतिमा है। यह कनिष्क के शासन के तीसरे वर्ष में भिक्षुबल ने संघ को अर्पित की थी। इस प्रकार इसका निर्माण काल १२३ ई. सिद्ध होता है। बलिष्ठ शरीर, चौड़ी छाती, गोल भरा हुआ चेहरा, बड़ी बड़ी आँखें, छोटी गर्दन और मुंडित मस्तक, ऐसा लगता है कि मथुरा का कोई मल्ल ही आकर सामने खड़ा हो गया है। बोधिसत्व की इस मूर्ति में उनका एक हाथ टूट गया है। जो सम्भवतः अभय मुद्रा में ऊपर उठा होगा। दूसरा कमर पर रक्खा है। उनका अधोवस्त्र, कमर पर एक पटके से बंधा हुआ है, जिसके दोनों छोर लटक रहे हैं। एक दुपट्टा हाथ पर पड़ा है। बायें कंधे पर उत्तरीय है और दायां अनावृत्त है। वे एक चौकी पर खड़े हैं। पैर चौड़े हैं और उनके बीच में सिंह की एक छोटी सी आकृति दिखाई देती है।[१]

बोधिसत्व की यह मूर्ति यक्षों की विशाल काय प्रतिमाओं जैसी ही है। मथुरा संग्रहालय में भगवान बुद्ध की एक बैठी हुई मूर्ति है। इस पर 'बोधिसत्व' अंकित है। मथुरा शैली के प्रारम्भिक काल में बुद्ध और बोधिसत्व की प्रतिमाओं में कोई अंतर नहीं था। यह मूर्ति मथुरा संग्रहालय में ही है। ऊँची चौकी पर बोधिसत्व बैठे हैं। चौकी पर तीन सिंहों की आकृतियाँ हैं। बोधिसत्व की मूर्ति की विशेषतायें वही हैं जो भिक्षु बल द्वारा अर्पित सारनाथ के संग्रहालय की बोधिसत्व प्रतिमा की। वैसा ही बलिष्ठ शरीर, जिसमें वह सुकुमार्य और लावण्य कहीं भी परिलक्षित नहीं होता, जो गुप्तकाल की मथुरा की मूर्तियों में दिखाई देता है। उनका एक हाथ जंघा पर रक्खा हुआ है और दूसरा अभय-मुद्रा में उठा हुआ है। सारनाथ के बोधिसत्व का मस्तक मुंडित है, वहाँ इस प्रतिमा में उनके सिर पर बालों का जूड़ा बंधा हुआ है। उनके पीछे एक पुरुष और नारी की मूर्तियाँ हैं।

१. The Age of Imperial Unity, figure 55.

मूर्ति के पीछे पीपल का पेड़; बोधि-वृक्ष आंका गया है और दो गन्धर्व भी उड़ते हुये दिखाये गये हैं।[१]

मथुरा शैली की ऐसी ही एक बुद्ध-प्रतिमा बोस्टन के संग्रहालय में है। उसमें भी भगवान बुद्ध इसी मुद्रा में बैठे हैं। उनका एक हाथ जंघा पर है और दूसरा अभय मुद्रा में उठा है। इसमें भी वे एक आसन पर बैठे हुये दिखाये गये हैं। उनका सिर मुंडित है। मूर्ति भग्न कर दी गई है।[२]

स्रावस्ती में जो प्रतिमा मिली वह जेतवन बिहार में थी। उसे किसी शिल्पी शिव-मित्र ने बनाया था। इसे भी भिक्षु बल ने ही संघ को अर्पित किया था।

मथुरा की अनेक प्रतिमायें भिन्न-भिन्न बौद्ध-केद्रों से प्राप्त हुई हैं। मथुरा शैली की प्रतिमाओं की अपनी विशेषतायें हैं, जिनसे वह पहचानी जाती हैं। इसमें बुद्ध बलिष्ठ अंकित किये जाते हैं। उनके मस्तक पर केश नहीं रहते। यदि किसी प्रतिमा में केश दिखाई भी पड़ते हैं तो छोटे-छोटे, मुड़े हुये। उनका एक हाथ अभय-मुद्रा में ऊपर उठा हुआ रहता है और दूसरा जंघा पर रक्खा रहता है, यदि वे खड़े दिखाये जाते हैं तो कमर पर टिका रहता है। गान्धार प्रतिमाओं की भांति बुद्ध के माथे पर ऊर्ण नहीं दिखाया जाता। उनके पीछे जो प्रभा मंडल आंका जाता है, वह अलंकरणों से युक्त नहीं वरन् सादा रहता है। प्रतिमा-पीठ, कमल की नहीं रहती। जब उनको खड़ा हुआ आंका जाता है तब उनके पैरों के बीच में सिंह की आकृति रहती है। जब वे बैठे होते हैं तो उनके आसन को सिंह लिये रहते हैं।

बोधिसत्वों या बुद्धों की यह प्रतिमायें भारी रहती हैं और चारों ओर से कोरकर बनाई जाती हैं।

बुद्ध-प्रतिमा का प्रारम्भ गांधार शैली में हुआ अथवा मथुरा में, इस प्रश्न पर इतिहासकारों में मत-भेद है। पाश्चात्य इतिहास कारों की राय है कि गान्धार शैली के लक्षकों ने सबसे पहले बुद्ध-प्रतिमा बनाई किन्तु मथुरा शैली की भारी भरकम बुद्ध-मूर्तियों ने अपनी पूर्व-परम्परा परखम और बरोदा की यक्ष-मूर्तियों से प्राप्त की। मथुरा-शैली पर गान्धार का जो प्रभाव पड़ा, वह बाद के समय में पड़ा। वह उससे अनुप्रणित नहीं रही। अतः यह कहना कि गान्धार-शिल्प से प्रेरित होकर मथुरा में बुद्ध की प्रतिमायें बनने लगीं; कोई अर्थ नहीं रखता।

गान्धार शैली का प्रारम्भ प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध में हुआ जब कि मथुरा-शैली उसके थोड़े से वर्षों बाद पनपी किन्तु बाद में दोनों धारायें स्वतंत्र रूप

१. Catalogue of the Archaeological Museum of Mathura, J. Vogel, plate VII

२. History of Indian and Indonesian Art, plate VIII figure 84,

से अलग-अलग बहता रहा। दोनों के आदर्श-भिन्न थे और शिल्प-विधान भी अलग था। ऐसी स्थिति में केवल यही कहा जा सकता है कि दोनों ने अलग-अलग बुद्ध मूर्तियाँ बनाईं, जिनमें एक का दूसरे पर कोई प्रभाव नहीं दिखाई देता। मथुरा और गान्धार में प्रथम शताब्दी में साथ-साथ बुद्ध-प्रतिमा की रचना हुई।

शिल्पी जिसके जीवन को अंकित करे, स्वयं उसी को छोड़ दे, यह स्वयं उसे विचित्र लगा होगा और उसके मन में एक कुंठा भर गई होगी। यह तो वैसी ही बात हुई कि राजपूत वर युद्ध करने चला गया और उसके फेंटे और कटार के साथ वधू की भांवरें पड़ीं। यह स्थिति अधिक वर्षों तक चल सकने वाली नहीं थी। गान्धार और मथुरा, दोनों स्थानों के शिल्पकार उसे साकार रूप देने के लिये लालायित होगें, जिसकी जीवन-गाथा वे अंकित कर रहे थे। वह दोनों के अन्तर से फूट कर बहने वाली लालसा थी। दोनों शैलियों में उनकी उपासना, प्रतिमा बन गयी।

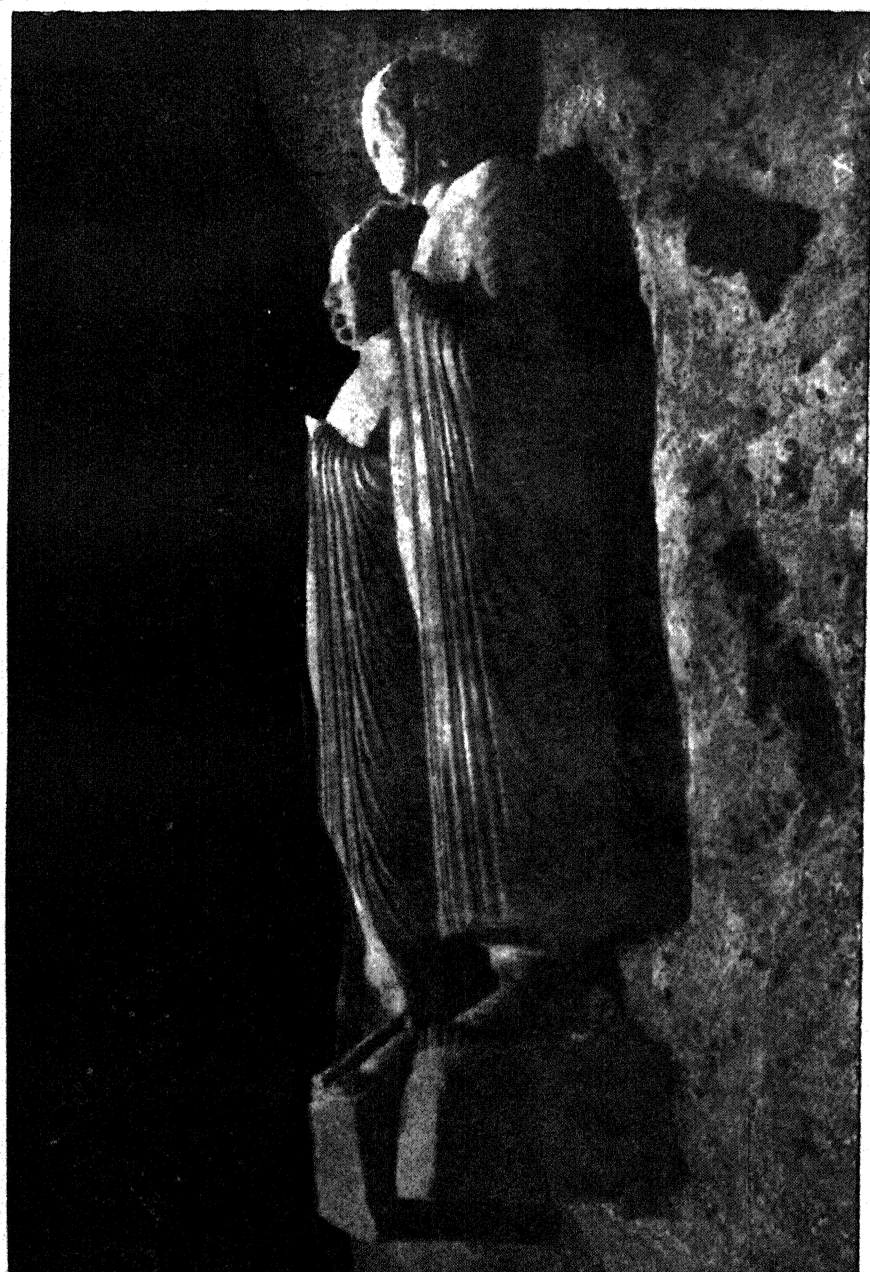
मथुरा में तीसरी शताब्दी के समय कुछ ऐसी प्रतिमायें भी बनीं, जिनपर गान्धार-शैली का प्रभाव पड़ा। यह इनी-गिनी ही हैं। एक दृश्य में एक स्त्री घुटने टेके हुये बैठी है। बालक पास ही कमर पर हाथ रखे हुए खड़ा है।[१] उसके निकट और भी दो आकृतियाँ हैं। केवल विषय ही नहीं वरन् शिल्प-विधान की दृष्टि से भी वह धारा मथुरा-शैली से भिन्न पड़ती है। हारिति और कुबेर की प्रतिमा भी ऐसी है। थोड़ी सी और भी ऐसी कृतियाँ हैं किन्तु वे अपवाद स्वरूप कहीं जा सकतीं हैं। उनके आधार पर यह सिद्ध करना कि मथुरा-कला, गान्धार शैली से प्रेरणा लेकर पनपी, सत्य को विकृत करना है।[२]

जिन यक्ष और यक्षिणियों की हम चर्चा कर चुके हैं वे समस्त स्तूपों की वेदिकाओं पर अंकित रहे होंगे। प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व से मथुरा हिन्दू, बौद्ध और जैन सभी की मिलन-भूमि रहा है। मथुरा में कटरा में पहले बौद्धों का बड़ा विहार था, जिनमें अनेकों भिक्षु रहा करते थे। फाहियान के समय में यहाँ पांच हज़ार बौद्ध-भिक्षु रहा करते थे।

---

१. The Age of Imperial Unity Plate XXIII figure 51,

२. Smith in Early History of India,



दो बुद्ध अमरावती

अमरावती

भारतीय शिल्पियों ने कठोर पाषाण में अपने आराध्य की झलक देखने के लिए कितनी तन्मयता के साथ कला–साधना की है, यह अमरावती की दूध से धुली हुई श्वेत संगमर्मर की प्रतिमायें आज भी कह रही हैं। आर्य और अनार्यों के पहले भले ही युद्ध चलते रहे हों किन्तु उनका मिलन हुआ; उनकी संस्कृतियों का समन्वय हुआ तो वे दूध-पानी की भांति घुल-मिल गये और उन्होंने अमर कृतियों का सृजन किया।

अमरावती दक्षिणापथ में, मदरास के निकट गंटूर जिले में है। ईसा पूर्व की दूसरी–तीसरी शताब्दी में आन्ध्र शासकों का प्रताप-सूर्य समस्त दक्षिण भारत में अपना आलोक फैला रहा था। वे सुयोग्य शासक ही न थे, कला के मर्मज्ञ पारखी भी थे। वे ललित कलाओं को प्रोत्साहन देना जानते थे। वे मूलतः ब्राह्मण थे। किन्तु उनकी बौद्ध मत पर भी श्रद्धा थी। उन्होंने अपने प्रदेश; गोदावरी और कृष्ण के द्वावे में अनेक स्तूप बनवाये। (उनकी शासन-सीमा यों तो उज्जैन और नासिक को छूती थी।) उन्होंने अमरावती में दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व में एक विशाल बौद्ध स्तूप की रचना कराई। फिर उनके वंशज इस स्तूप में वेदिका आदि बनवाते रहे, पुण्य–लाभ लेते रहे। उन्होंने वेष्टिनी के अतिरिक्त एक कार्य और किया। उन्होंने स्तूप के निचले हिस्से को संगमर्मर के शिला–पट्टों से ढंक दिया। इन शिला–पट्टों पर बुद्ध के जीवन और उनकी उपासना के अनेक दृश्य अंकित किये गये। इस कला का सृजन दूसरी और तीसरी शताब्दी में हुआ। आंध्र शासकों ने लगभग साढ़े चार सौ वर्ष राज्य किया और फिर राज-सूत्र पल्लवों का हाथों में चला गया। इन्हीं आंध्र राजाओं द्वारा बनवाये हुए कन्हेरी और नासिक आदि चैत्य–गृहों की चर्चा की जा चुकी है।

अमरावती का यह स्तूप बहुत बड़ा था। इसकी वेदिका छः सौ फीट की थी और उसकी ऊँचाई भी चौदह फीट से कम नहीं थी।

अमरावती के पुराने शिल्प में भगवान बुद्ध की प्रतिमा नहीं दिखाई देतीं; केवल उनके जीवन के विभिन्न दृश्य ही दिखाई देते हैं, जिनमें भगवान बुद्ध के स्थान पर उनके प्रतीक ही अंकित कर दिए जाते हैं। तीसरी शताब्दी के प्रारंभ के शिल्प में वे स्वयं दर्शन देने लगते हैं।

अमरावती का स्तूप संगमर्मर के जिन शिला-फलकों से ढका हुआ है उन में बुद्ध-जीवन के दृश्यों के अतिरिक्त तोरण और स्तूप आदि भी दिखाई देते हैं। इन आकृतियों में एक सुन्दर स्तूप का दृश्य भी है। सम्भव है कि यह अमरावती के स्तूप का ही चित्रण हो क्योंकि इसमें जो स्तूप अंकित किया है, वह भी शिला फलकों की दुहरी पंक्ति से ढका हुआ दिखाई देता है। जिस शिला-फलक पर यह स्तूप आंका गया है, वह चौकोर है। स्तूप में चक्र पूजा का दृश्य अंकित है। कुछ पुरुष चक्र के आगे झुके हुए हैं। स्तूप की दुहरी पंक्ति में कई दृश्य अंकित हैं। उनके ऊपर अलंकरण है और सबसे ऊपर हर्मिका दिखाई देती है। उसके ऊपर छत्र तने हुये हैं। आकाशचारी गन्धर्व, स्तूप के ऊपर छत्र आदि लिए हैं। कुछ हाथ जोड़े हैं। कुछ आनन्द मग्न होकर नृत्य करते जान पड़ते हैं। उनकी विविध मुद्रायें देखने ही योग्य हैं। उनके नीचे बौने हैं। इनमें से कुछ प्रसन्नता के अतिरिक से नाच रहे हैं और कुछ शंख बजा रहे हैं। स्तूप एक वेष्टिनी से घिरा हुआ है जिसके द्वारों पर सिंह की बैठी हुई मूर्तियां हैं। स्तूप के दोनों ओर स्तम्भ दिखाये गये हैं जिनमें स्तम्भ युक्त चक्र हैं। बीच में घुड़सवारों की पंक्तियों द्वारा अलंकरण कर दिया गया है। स्तूप के ऊपर एक पतली पट्टी है, जिसमें बीच में बुद्ध-प्रतिमा आसीन दिखाई देती है।[1] यदि यह अमरावती के स्तूप की ही अनुकृति है तो वह सचमुच अपने ढंग की अनूठी कला-कृति होगा। आज तो केवल अनुमान ही किया जा सकता है।

अमरावती के स्तूप में लगभग सत्तह हजार वर्ग फुट संगमर्मर पर अनेक दृश्य, मानव-आकृतियां, पशु और अलंकरण आदि बनाये गये थे। प्राप्त हुये शिला-फलकों के आधार पर विद्वानों का अनुमान है कि पहले इन मूर्तियों पर पतला पलस्तर किया गया होगा और कुछ रंगाई भी हुई होगी।[2]

अमरावती का स्तूप कला-प्रिय आंध्र और सातवाहन राजाओं की कीर्ति का मूर्तिमान प्रतीक था। कृष्णा नदी के तट पर उनकी धान्य-कटक नाम की राजधानी थी। प्रथम शताब्दी के लगभग यह दक्षिणापत्य का एक बड़ा नगर समझी जाती थी। राजधानी में पूर्व की ओर बौद्ध विहार और यह स्तूप था। आंध्रों की उस राजधानी के अवशेष चिन्ह नष्ट हो गये हैं। स्तूप भी भग्न हो चुका है और उसके शिला-फलक संग्रहालयों की शोभा बढ़ा रहे हैं। अनेक तो विदेशी संग्रहालयों में चले गये। भारतीय कला की कितनी उत्कृष्ट प्रतिमायें कहां चली गई? अध्येताओं का कितना बड़ा सहारा छिन गया, इसका लेखा-जोखा किसने रक्खा है? हम अपने अलभ्य ग्रंथों को विदेशों से वापस ले आने की बात उठाते हैं पर यह मूर्तियों

१. Indian Architecture, Percy Brown. Vol. I Plate xxviii A.

२. भारतीय मूर्तिकला पृष्ठ ८४.

तो बोलती हुई पुस्तकें हैं जो तत्कालीन युग की संस्कृति हमारे सन्मुख रखती हैं। क्या वह दिन कभी आवेगा जब हमारी यह कला-निधि अपने देश की भूमि को फिर देखेगी ? वह अनमोल कलानिधि जो विदेशी शासकों ने निर्वासित कर दी या पर्यटकों ने कौड़ी के मोल खरीद कर अपने देश में भिजवा दी। पराधीन प्रजा की दृष्टि पथरा जाती है। हम स्वयं उनका मूल्यांकन कर सकने में असमर्थ रहे। हमने भारहुत की शिल्प-कृतियों को मकानों में चिन दिया। अमरावती के शिल्प का एक बड़ा अंश अभी सौ वर्ष पहले ही चूना बनाने के लिए फूंक दिया।

अमरावती के शिल्प की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह भक्ति की भाव-व्यंजना में अत्यधिक सफल है। दक्षिणापत्य में भक्ति का प्राधान्य रहा है। कहते हैं कि 'भक्ति दक्षिणापत्य में ही उपजी और उसे रामानन्द उत्तरापथ में लाये।' भगवान बुद्ध की अर्चना में उपासकों की भाव-विभोर मुद्रायें इस लोक की नहीं मालूम होतीं। उनके चरण भक्ति-भावना के अतिरेक से थिरक उठे हैं।

जो विषय भारहुत या सांची के शिल्पकारों ने अपने अंकन के लिए उठाये हैं, लगभग वही कथा-वस्तु अमरावती में भी ली गई है किन्तु इसमें इतनी गहराई और सूक्ष्मता के साथ काम लिया है कि अर्ध-चित्र अधिक सजीव हो उठे हैं। उनके शरीर के अंग-प्रत्यंग परिमाण का ध्यान रखकर बनाये गये हैं। अमरावती की शिल्प-कृतियों में जो लालित्य और प्राणमयता है वह उससे पहले की किसी शैली में नहीं दिखाई देती। कला-समीक्षकों ने अमरावती के शिल्प पर मुग्ध होकर लिखा है—

Never so far was the delicate and voluptuous beauty of the human frame so richly and luxuriously concieved, and never were technical skill and efficiency more adequate for realisation of the conception."[1]

अमरावती के अर्ध-चित्रों में पुरुषों की जो आकृतियाँ हैं, उनमें विविध भंगिमाओं से सौष्ठव आ गया है। स्त्रियाँ तत्वंगी हैं और वे त्रिभंगी मुद्रा में खड़ी हुई दिखाई देती हैं। उनके शरीर का ऊपरी भाग अनावृत रहता था। पुरुष पेंचदार पगड़ी बांधते थे। वे धोती पहनते थे, जिसपर पटका बंधा रहता था। उसके दोनों सिरे लटकते रहते थे।

स्तूप को सांची जैसी ही वेदिका घेरे हुए थी। इसमें सीधे खम्भे थे और उनके बीच में डंडे जुड़े हुए थे। इन स्तम्भों के नीचे तथा ऊपर के भाग में आधा-आधा कमल आंक दिया जाता था। बीच में पूरा कमल रहता था, जिसमें कई गोलाकार बने रहते थे। कभी-कभी इन फूलों की जगह शिल्पी, भगवान बुद्ध के

1. The Age of Imperial Unity, Art, Shri S. R. Sarsawati Page 524.

जीवन सम्बन्धी दृश्य, गोलाकार में ही बना देता था। खम्भे में इस गोलाकार कमल या अर्ध चित्र से जो स्थान बच जाता था, उसमें भी शिल्पी मानव-आकृतियाँ बना देता था। कभी वह उस स्थान में कमलों के अलंकरण भी भर देता था।

इन गोलाकार अर्धचित्रों में वह बड़ी बारीकी के साथ गहरा कटाव देता था, जिससे आकृति उभर आती थी, और दृश्य में स्पष्टता आ जाती थी ऐसे ही एक अर्ध-चित्र में राजकुमार सिद्धार्थ को उस घोड़े पर सवार होते हुए दिखाया गया है, जो किसी को पास भी न फटकने देता था। इस दृश्य में नगर के लोग उद्विग्न होकर भागते हुए दिखाई देते हैं। उनकी घबराहट, उनकी मुद्राओं और मुखाकृतियों से साफ झलकने लगी है। कहीं मार की सेना बुद्ध को साधना-भ्रष्ट करने के लिए आती है। वे ध्यान लगाये हुए अपनी चौकी पर बैठे दिखाई देते हैं। बुद्ध-जीवन के अनेक प्रसंग अमरावती के शिल्प में दृष्टिगोचर होते हैं। 'सिद्धार्थ के जन्म पर उत्सव' अमरावती का एक उत्कृष्ट अंकन है।

भगवान बुद्ध के जीवन प्रसंग में यह भी उल्लेख आता है कि देवदत्त ने अजात शत्रु से कह कर भगवान को मारने के लिए एक पागल हाथी भिजवाया था। अमरावती में इस प्रसंग का बहुत ही सजीव अंकन है। इसमें एक ही अर्ध-चित्र में कई दृश्य आंके गये हैं। यह शैली भारहुत, सांची, और अजंता में भी दृष्टि गोचर होती है। हाथी क्रोध से उन्मत्त हो उठा है। उसने महावत को पीछे फेंक दिया है। उसके दोनों अगले चरण भूमि से उठे हुये हैं। उसकी सूंड में एक पुरुष है, जिसकी टांगें पकड़कर वह दूर फेंक रहा है। एक दूसरा व्यक्ति उसके चरणों से कुचल गया है। नागरिक भाग रहे हैं। स्त्रियाँ दीवाल से सट कर खड़ी हो गई हैं और एक पुरुष अपनी स्त्री को जो घबरा गई है, हाथ पकड़कर रास्ते से दूर खींच रहा है। मकानों के गवाक्षों से पुरुष और स्त्रियां यह दृश्य देख रहे हैं। उसी अर्ध चित्र में दूसरी ओर हाथी अत्यंत विनीत भाव से घुटने टेक कर बैठ गया है। भगवान बुद्ध की शांत, सौम्य मुद्रा को देखते ही उसका समस्त क्रोध नष्ट हो गया है। भगवान उसके निकट ही खड़े हैं। उनके पीछे हाथ जोड़े हुए कई उपासक हैं।

राजा लोगों की राज-सभाओं के दृश्य अमरावती के शिल्पियों को अत्यंत प्रिय रहे हैं। एक मनोवृत्ति उनमें यह दिखाई देती है कि वे संगमर्मर के किसी भी भाग को रिक्त नहीं छोड़ना चाहते। वे ऐसा क्षेत्र खोजते हैं जहां कम स्थान में अधिक आकृतियाँ अंकित कर सकें। उनमें से प्रत्येक मानवाकृति को शिल्पी धीरे-धीरे बनाता हुआ, उसमें पूर्णता लाने की चेष्टा करता हुआ सा प्रतीत होता है। अमरावती के राज-सभाओं वाले अर्ध-चित्रों में उसने इतने व्यक्ति इतनी सफलता से आंके हैं कि देखकर आश्चर्य होता है। इन सभाओं में कहीं राजा

लोग मंत्रणा करते दिखाई देते हैं और कहीं नर्तक-नर्तकियाँ नाचते हुए दिखाई देते हैं। कुछ दृश्यों में उनके रनिवास को अंकित किया गया है।

सांची की कला में विदेशों से आये हुये अभिप्राय दिखाई देते हैं किन्तु अमरावती का शिल्प उससे बिलकुल मुक्त है। उस पर गान्धार या अन्य किसी शैली का प्रभाव नहीं है। अमरावती का शिल्प भारहुत और सांची की भांति लोक-कला ही नहीं माना जाता। वह प्रारम्भिक बौद्ध-शिल्प और आध्यात्म-प्रधान कला के बीच की श्रृंखला है। इसमें हमें उस भक्ति-भावना की झलक दिखाई देती है, जो भारतीय कला की प्राण-रूप समझी जाती है और जिसका पूर्ण विकसित रूप गुप्त काल की मथुरा तथा सारनाथ की प्रतिमाओं में दिखाई देता है। भारहुत और सांची के शिल्पी की दृष्टि प्रकृति की ओर अधिक है। वह कमल के वर्तों, उनके भांति-भांति के अलंकरणों तथा प्रकृति के दृश्यों को बड़े चाव के साथ अंकित करता है। अमरावती के शिल्पकार का मन उससे उचट जाता है और बुद्ध प्रतिमाओं के निर्माण की ओर खिंच जाता है। मथुरा में यक्षों की मूर्तियों की परम्परा ने आगे चलकर बोधिसत्व और बुद्ध की विशाल प्रतिमाओं का सृजन कराया किन्तु शिल्पी जिस आराध्य की उपासना करता है, उसमें जो दिव्य-तत्व प्रतिष्ठित करता है, उसका दर्शन सांची और भारहुत के अर्ध-चित्रों में नहीं हो पाता। श्री ई० बी० हैवल ने भी इस अंतर को स्वीकार किया है।[१] उन्होंने लिखा है—

"In all the art of Amaravati, we see Indian sculpture passing from the naturalistic school of the Ashoka epoch into the naturalistic school in which Indian art reached its highest expression."

अमरावती की बुद्ध प्रतिमाओं पर भी आध्यात्म की झलक दिखाई देती है यहाँ नाग-पूजा, बुद्ध-पूजा का स्वरूप कैसे ले लेती है, यह भी स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

अमरावती के इस शिल्प में पहले स्तूप पर नाग दिखाई देता है, फिर धीरे-धीरे उसका स्थान बुद्ध लेते चले जाते हैं। नाग उनका आसन बन जाता है। यह हम 'समन्वय के स्रोत' में देख चुके हैं। अमरावती के शिल्प में बुद्ध की विभिन्न प्रकार की मुद्रायें दिखाई देती हैं। जहाँ बुद्ध अंकित नहीं किये गये, वहाँ उनके स्थान पर चक्र की पूजा होती हुई दिखाई देती है। बुद्ध कहीं नाग पर बैठे हुए दिखाई देते हैं और नाग राजा व अन्य लोग उनकी उपासना करते हुये। कहीं वे बिना नाग के ही आंके गये हैं। कहीं वे उपदेश देते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इन समस्त

१. Indian Sculpture and painting, E. B. Havell, Page 102.

प्रतिमाओं पर चिंतन की एक हलकी सी छाया उतरती हुई दिखाई देती है। इसीलिए अमरावती को सांची, भारहुत और बोध गया के प्रारम्भिक, बौद्ध-शिल्प और गुप्त-कला की बीच की कड़ी कहा जाता है।

सांची में भगवान बुद्ध की बड़ी–बड़ी आदमकद मूर्तियाँ भी हैं। यह स्तम्भों के गोलाकार अर्ध–चित्रों अथवा स्तूप के ऊपर के शिला–फलकों में नहीं हैं। यह मूर्तियाँ चारों ओर से कोर कर बनाई गई हैं और डा. कुमार स्वामी की राय में मथुरा की प्रतिमाओं की अपेक्षा सिंहल की प्रतिमाओं से अधिक मिलती हैं। उन्होंने इनके सम्बन्ध में लिखा है—

'The status of Buddha in the round which may date from the beginning of the third century are magnificent and powerful creatons, much more nearly of Anurudhapur (Cylon) than of the Mathura type."

श्री कुमार स्वामी के कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अमरावती की इन मूर्तियों का न तो गान्धार की कला से कोई सम्बन्ध था और न मथुरा के शिल्प से। इनमें से किसी का एक दूसरे पर प्रभाव भी नहीं पड़ा। तीनों की पूर्व–परम्परायें पृथक रही हैं। गान्धार शैली की तो किसी पूर्व–परम्परा का पता ही नहीं चलता। वह तो अचानक ही उदय होती हुई प्रतीत होती है और फिर विलीन हो जाती है। वह पूर्व और पाश्चात्य देशों की कला का बेतुका मेल बन कर रह जाती है। सच तो यह है कि वह अभिव्यक्ति में पूर्ण–रूप से बौद्ध भी नहीं कही जा सकती। मथुरा शैली के बुद्ध अथवा बोधिसत्व अपनी परम्परा परखम, व बरोदा आदि की यक्ष–प्रतिमाओं से ग्रहण करते हैं। अमरावती की धारा तीसरी है, जो इन दोनों से भी भिन्न है। इसका स्वरूप शिला–फलकों से ही विकसित हुआ है। अंतर केवल यह रहा है कि अर्ध–चित्र में आकृति में केवल गहराई देकर उसे उभारने की चेष्टा की गई है और मूर्ति में उसे चारों ओर से कोर कर बेलाग कर लिया गया है। अमरावती के शिला पट्टों में ऐसी आकृतियाँ भी प्राप्त होती हैं जो इतनी गहरी काटी गई हैं और उनके अंगों में इतनी गोलाई लाई गई है कि उन्हें केवल चारों ओर से कोर कर अलग कर देना ही शेष रह गया है। ब्रिटिश म्यूजियम में अमरावती के अनेक शिला फलक हैं, इनमें से एक में एक पुरुष घोड़े की रास पकड़ कर खड़ा है। घोड़ा अत्यंत सुन्दर और पानीदार प्रतीत होता है। वह अपनी एक टाप उठा कर चलने के लिए तैयार जान पड़ता है। घोड़े के सहारे एक पुरुष त्रिभंगी मुद्रा में कमर पर हाथ रखे हुये खड़ा है। उसकी लालित्य-मयी भंगिमा देखने की वस्तु है। वह कुछ सोचता हुआ सा दिखाई देता है। उसका शरीर लम्बा है और अंग–प्रत्यंग सुन्दर व सुडौल हैं। उसके निकट शिला–फलक के नीचे एक पट्टी पर सात बुद्ध ध्यानस्थ बैठे हैं। इससे यह निश्चय हो

जाता है कि यह भगवान बुद्ध का ही कोई जीवन–प्रसंग है। वे स्वयं राजकुमार सिद्धार्थ हैं।[१] इसी प्रकार की कृतियों से जो अर्ध–चित्र की अपेक्षा मूर्ति के निकट पड़ती है, बुद्ध की प्रतिमाओं का विकास हुआ है।

अमरावती के शिल्प में दो बुद्धों की बड़ी, आदमकद प्रतिमायें हैं। वे दीवाल के सहारे खड़े हैं। इनमें से एक प्रतिमा का मुंह भग्न कर दिया गया है। इसमें वे घुटनों से नीचे तक का लम्बा वस्त्र पहने हुये हैं, इसमें चुन्नटें पड़ रही हैं। अमरावती के शिल्प में बुद्ध इसी प्रकार का वस्त्र ओढ़े हुए दिखाई देते हैं। इसमें बायां कन्धा और शेष शरीर ढक जाता है। केवल दाहिना कंधा अनावृत्त रहता है। इन प्रतिमाओं पर विरक्ति और चिंतन की भावना परिलक्षित होती है। अमरावती की कला द्वितीय शताब्दी में ही अपने चरम उत्कर्ष पर दिखाई देती है। उससे पहले की कृतियों में वह उतनी सौष्ठवमयी नहीं है और न आकृतियाँ ही सजीव बन पाई हैं। दूसरी शताब्दी के पश्चात् उसका स्तर फिर गिरने लगता है।

मूर्ति-विधान की दृष्टि से अमरावती का शिल्प अत्यंत महत्व पूर्ण है। इसमें आर्य और अनार्य दोनों के प्रतीक दृष्टिगोचर होते हैं। अमरावती के नागपूजा के दृश्यों की चर्चा की जा चुकी है। वहां के राज-सभा के एक दृश्य में राजा बैठे हैं, और सभा में दो नर्तक नाच रहे हैं। उनकी मुद्रा नटराज की कांस्य की मूर्ति से इतनी मिलती है कि फर्गुसन के विशाल ग्रंथ 'ट्री एन्ड सर्पेन्ट वरशिप' में उसका चित्र देख कर मैं आश्चर्य से दंग रह गया। वैसा ही उठा हुआ चरण, वैसा ही अभय हस्त। मुझे जान पड़ा कि नटराज की पूर्व-परम्परा अमरावती के शिल्प से ही प्राप्त हुई है। अंतर केवल इतना है कि अमरावती के अर्ध-चित्र की नर्तक की आकृति मानव की है और नटराज देवता हैं। प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी में यह अर्ध-चित्र बनाया गया होगा, जब कि नटराज की कांस्य-मूर्तियों का काल नवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक माना जाता है। इसमें पहले चोल-शैली की प्रतिमायें मिलती हैं और फिर विजयनगर शैली की। इस युग में प्रतिमाओं पर तंत्र का भी गहरा प्रभाव पड़ा है। नटराज के चार हाथ, उनमें से एक में अग्नि-ज्वाला और दूसरे में डमरू तंत्र की ही देन है, अन्यथा अमरावती की इस नर्तक की मुद्रा और नटराज शिव की मुद्राओं में कोई अंतर नहीं है। भरत मुनि के नाट्य शास्त्र में नांदत नृत्य की इस मुद्रा को 'भुजंग-त्रासित' कहा जाता है। किसी मनुष्य के पैर के नीचे अचानक सर्प आ जाने पर जैसे वह तुरंत अपना पांव हटा लेता है, वैसी ही मुद्रा इस नृत्य में दिखाई जाती है किन्तु अभय-हस्त का उसके साथ क्या सम्बन्ध है यह स्पष्ट नहीं होता। इन सब को देखते हुए यही

---

१. Indian Sculpture and Painting, E. B. Havell, plate No. XXXII,

आस्था दृढ़ होती है कि अमरावती के शिल्प या अन्य किसी कला-मंडप से जहाँ वह मुद्रा आंकी गई होगी, नटराज के स्थपतियों को प्राप्त हुई है।

ईसा की प्रथम शताब्दी में अथवा उससे कुछ पूर्व कला की जो धारायें उत्तरापथ में बह रहीं थीं, अमरावती उनसे कुछ भिन्न पड़ जाती है। यद्यपि सांची, भारहुत अथवा बोधगया में शिल्पियों ने जिन विषयों को उठाया, उन्हीं को अमरावती के शिल्पकारों ने भी छुआ है। इसमें भक्ति की भावना का रंग उन से चटकीला था।, यह हम देख ही चुके हैं। अमरावती की एक विशेषता यह भी थी कि वह उस भू-प्रदेश में था, जहाँ वस्तुतः आर्यों और अनार्यों की संस्कृतियों का समन्वय हो रहा था। वे सभी तत्व एक विशाल इकाई में मिलते जा रहे थे। इसीलिए दक्षिण में बाद में भी कला का जो विकास हुआ, उसके अंकन, और विशेष रूप से मूर्ति-विधान पर अमरावती का कला का सीधा प्रभाव पड़ा। उसी से पूर्व परम्पराओं को ग्रहण किया गया। उत्तरापथ में नागों की प्रतिमायें अवश्य बनती थीं, उनके सिर पर नाग का प्रतीक भी रहता था किन्तु जिस जगह नाग की पूजा हो रही थी, वहां से उसे हटाकर बुद्ध की प्रतिमा का पूजन नहीं दिखाई देता मुचलिन्द नाग ने भगवान बुद्ध के ऊपर छाया की थी, बुद्ध-जीवन में यह प्रसंग प्राप्त होता है किन्तु शिल्प में कहीं वह बुद्ध के (बुद्ध की प्रतिमायें तो थीं ही नहीं, उनके प्रतीकों पर) ऊपर अपने फन फैलाये हुये नहीं दिखाई देता। अमरावती में नागपूजा का स्थान बुद्ध की उपासना ने ले लिया। नाग उनका पार्श्ववर्ती अनुचर बन गया और वे उपासना के स्थल पर प्रतिष्ठित हो गये।

नाग की पूजा का दक्षिणापत्य में इतना अधिक प्रचार था कि उसी के कारण आर्यवर्त में भी नाग देवता की पूजा होने लगी। अमरावती के स्तूप पर संगमर्मर के जो शिला–फलक हैं, उनमें स्तूपों की आकृतियाँ बनी हुई हैं। इनमें अलंकृत स्तूप भी है, जिसे अमरावती के मूल स्तूप की अनुकृति माना जाता है। सम्भवतः यह दूसरी ईसवी का है। इसके पहले के स्तूप भी दिखाई देते हैं, जो अपेक्षा कृत अधिक पुराने हैं। उन पर उपासना के स्थान पर नाग ही मिलते हैं। नाग अपने मूल सर्प रूप में आंके गए हैं। वे पांच फन के हैं और कुंडली मार कर बैठे दिखाई देते हैं। फिर इन स्तूपों पर ज्यों–ज्यों अलंकार बढ़ता जाता है, नाग–देवता, वहाँ से बिदा लेते हैं और उनके स्थान पर बुद्ध की प्रतिमा दिखाई देने लगती है। इतना ही नहीं, धीरे–धीरे सर्प बुद्ध का आसन बन जाता है। वे उसकी कुंडली पर बैठ जाते हैं, और वह उनके मस्तक पर अपना फन छत्र की भांति तान देता है। भारतीय कला में इस कल्पना का प्रारम्भ अमरावती के बौद्ध शिल्प से ही होता है। फिर विष्णु, तीर्थंकर, व लोकपालों आदि की इसी प्रकार की प्रतिमायें बनती चली जाती हैं।

संक्षेप में अमरावती की कला की विशेषतायें यह हैं, वह सांची व भारहुत की परम्परा की अगली कड़ी होते हुए भी उक्त शैलियों की भांति प्रकृति के दृश्यों व अलंकरणों को अधिक महत्व नहीं देती, जितनी कि मनुष्याकृति को देती है। इसके अर्थ यह नहीं हैं कि वह उन अलंकरणों को स्थान ही नहीं देती अथवा उनकी उपेक्षा करती है। अमरावती के कमलों से पूर्ण घट का अलंकरण कला की एक उत्कृष्ट कृति मानी जाती है। इस सुन्दर घट की शोभा अनूठी है। उसे बेलों से सजाया गया है। घट में से चार पूर्ण विकसित कमल निकलते दिखाई देते हैं। कुछ अर्ध–स्फुटित हैं और शेष कलिकायें हैं। शिल्पकार ने जातक–कथाओं की अपेक्षा भगवान बुद्ध के जीवन, तथा राज–सभाओं के अर्ध–चित्र अधिक बनाये। उसका केन्द्र मनुष्य था और वह बड़े चाव से उसके जीवन के समस्त व्यापार व भाव–मुद्रायें अंकित करता था। मनुष्याकृतियाँ अत्यंत सुन्दर और सुडौल होती थीं। उनके शरीर में लावण्य की झलक दिखाई देती है। उनमें मथुरा की प्रारम्भिक यक्ष–मूर्तियों जैसा भारीपन नहीं है।

अमरावती की कला को यह श्रेय प्राप्त है कि उसने बिना किसी बाहरी शैली का प्रभाव पड़े ही बुद्ध की प्रतिमा को, अपनी स्वतः की कला-परम्पराओं के आधार पर बनाया। डा. कुमारस्वामी ने लिखा है—'In the southern India and Cylon the same energy working in greater isolation found a more direct expression and though the earliest master-piees may be lost they are still preserved at Anurudhpur and Amaravati, magnificent works which we may fairly speak of a Buddhist primitives.[१]'

अमरावती के निकट ही और भी स्तूप बने थे जो अब नष्ट हो गये हैं और उनकी खुदाई आदि में केवल उनके शिला-फलक ही पुरातत्व विभाग को प्राप्त हो सके हैं। इनमें नागार्जुनकोन्डा, जग्या पेटा, घंटशाल आदि थे। इनके शिला–पट्टों से केवल इनकी कला का अनुमान लगाया जा सकता है। इनमें नागार्जुन कोन्डा का भारतीय कला में एक विशिष्ट स्थान है, यद्यपि वहाँ के शिला–फलक अमरावती की तुलना में नहीं ठहर पाते। इनमें बुद्ध-जीवन के दृश्य हैं। एक दृश्य में भगवान बुद्ध की माता लुंबिनी के शाल वन में वृक्ष की टहनी पकड़े हुये खड़ी हैं। भारतीय कला में इस मुद्रा को शालभंजिका कहा गया है। भारहुत व सांची की यक्षिणियाँ भी इसी मुद्रा में दिखाई देती हैं। यह भगवान के जन्म का प्रसंग है। बौद्धों की यह मान्यता है कि जिस समय भगवान उत्पन्न हुए, उस समय महा-ब्रह्मा ने उन्हें अपने स्वर्णिम वस्त्र में उठा लिया। उनसे शिशु सिद्धार्थ को देवगण

१. **Dance of Shiva--Buddhist primitives, Page 81.**

ने लिया और देवों से मनुष्यों ने । यही दृश्य इस अर्ध-चित्र में अंकित है। भगवान बुद्ध तपस्या कर रहे हैं और मार की सेना उनको पराजित करने आई है ।

एक दृश्य में जो बुद्ध-जन्म का ही प्रतीत होता है रानी महामाया वृक्ष की टहनी पकड़े खड़ी हैं । वृक्षों पर एक पुरुष और नारी है, जो सम्भवतः वृक्ष देवता अथवा वृक्ष की आत्मा हैं। दो दासियाँ वृक्ष के नीचे बैठी हैं। वायु-पथ से बुद्ध दौड़ते हुए आ रहे हैं। उनके पीछे एक आकृति और है ।

नागार्जुन कोन्डा का शिल्प ऐसे ही अनेक अर्ध-चित्रों से भरा हुआ है। नागार्जुन कोन्डा की कृतियों में अमरावती जैसी सजीवता नहीं दिखाई देती। इन पर विदेशी तत्वों का प्रभाव है । आकृतियाँ कुछ भारीपन लिए हुए हैं और भाव-व्यंजना में भी अधिक सफल नहीं कही जा सकतीं। यह कृतियाँ अमरावती की प्रथम शताब्दी के अर्ध-चित्रों के समान जान पड़ती हैं ।

जग्यापेटा, अमरावती से लगभग ३० मील दूर है। यहाँ भी एक पुराना स्तूप था। इसकी वेदिका के स्तम्भ पाये गये हैं। इन पर यक्षिणियाँ व यक्ष खड़े हैं। इसकी कला भी अमरावती के प्रारम्भिक अर्ध-चित्रों की कला के सदृश्य ही है।

द्वितीय खंड

अजंता

गुप्त-काल भारत के इतिहास का स्वर्ण-युग कहा जाता है। सुख, समृद्धि और वैभव के इस काल में सभी कलाओं का समान-रूप से उन्नयन हुआ। कवि-कुल-गुरु कालिदास और भवभूति नें अपनी कला-कुशल उंगलियों से भगवती वीणापाणि के चरणों में जो भाव-सुमन चढ़ाये, उनकी सुरभि आज भी लोक को सुवासित कर रही है। इसी युग में पुराण साहित्य का भी सृजन हुआ। शिल्प में नये-नये रूपों और अभिप्रायों ने प्रवेश किया और उसमें नव प्राणों का संचार सा कर दिया। इस युग की सबसे बड़ी देन हैं, अजंता के भित्ति-चित्र। चित्रकारों ने गहन अंधकारमयी गुफाओं में बैठ कर जिन अपार्थिव कृतियों का सृजन किया वे सामान्य मानव की रचना नहीं जान पड़तीं। इन कला-योगियों ने कथावस्तु और विषय तो भगवान तथागत के जीवन और जातक कथाओं से ही लिए किन्तु उन्हें किसी धर्म-विशेष की सीमा में बांध कर नहीं रक्खा। उनका चित्रण और भावाभिव्यक्ति सभी देशों के कला-मर्मज्ञों के अंतस्तल को समान रूप से स्पर्श करने में समर्थ है। उनमें सैकड़ों वर्षों का लोक-जीवन दर्पण की भाँति प्रतिबिम्बित होता है।

अजंता में पर्वतों को काटकर जो चैत्य और विहार बने, उनमें से अनेक किसी समय भित्ति-चित्रों से अलंकृत रहे होंगे किन्तु सहस्रों वर्ष की उपेक्षा ने उन्हें नष्ट कर दिया है। अब वह केवल पांच-छः गुफाओं में शेष रह गये हैं, जो शेष बच गये हैं, उनमें उस युग की संस्कृति मानो मुखरित हो उठी है। भित्ति-चित्रों की परम्परा का प्रारम्भ अजंता से ही नहीं होता, यह तो उसका विकसित काल है। उसके पीछे भी शताब्दियों की पूर्व-परम्परा रही होगी, यद्यपि वह अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी है। प्रारम्भिक बौद्ध-साहित्य में भित्ति-चित्रों के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उन दिनों दीवारों को समतल करके उन पर चित्र आंकने का प्रचलन था। चुल्लवग्ग में, जो ईसा पूर्व दूसरी अथवा तीसरी शताब्दी का माना जाता है, भित्ति-चित्रों के सम्बन्ध में उल्लेख ही नहीं मिलता वरन् उन वस्तुओं की चर्चा भी की गई है

जिनके मिश्रण से यह रंग तैयार किये जाते थे। अजंता की दसवीं और नवीं गुफायें, यहाँ के उन्तीस गुहा-मन्दिरों में से सबसे प्राचीन समझी जाती हैं। इन में चित्रों के जो अवशेष बचे हैं, उन में मनुष्याकृतियाँ भी हैं। वह वहीं के इधर-उधर रहनेवाली जातियों के लोगों की जान पड़ती हैं। नवीं और दसवीं गुहाओं का निर्माण-काल दूसरी या तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व का माना जाता है, यद्यपि चित्र उतने पुराने नहीं कहे जा सकते। दसवीं गुफा में ब्राह्मी के अभिलेख हैं, जिनके आधार पर कुछ इतिहासकार इनके बनने का समय ईसा की दूसरी सदी मानते हैं; इसी प्रकार नवीं गुफा के अभिलेख के आधार पर उसे ईसा की तीसरी सदी का।

अजंता के यह कला मंडप, हैदराबाद की सीमा के अन्तर्गत ताप्ती के ऊपरी कांठे में बने हैं। एक चन्द्राकार पर्वत को काट कर उसके भीतर चैत्य और भिक्षुओं के रहने के लिए विहार बनाये गये हैं। यहाँ पहले एक बौद्ध विश्व-विद्यालय भी था। निकट ही वाघोरा का जल-प्रपात है। स्थान के चुनाव में यह बात का पूर्ण ध्यान रक्खा गया है कि प्रकृति का रम्य सुहावना वातावरण मिल सके। हरी-भरी पर्वत-श्रेणी की गोद में अजंता की गुफायें आज भी बड़ी सुन्दर जान पड़ती हैं। उन दिनों का कल्पना-चित्र आज भी मानस-चक्षुओं के आगे साकार हो उठता है, जब वह सुगत के श्रद्धावान उपासकों से भरी रहती होगीं।

आश्चर्य तो यह है कि यह गुफायें सहस्रों वर्ष तक विस्मृति की गोद में सोई रहीं। किसी को यह आभास भी न था कि ताप्ती के कांठे में इतनी विशाल कला-निधि छिपी हुई पड़ी है। इन्हें केवल वे चमगादड़, कीट व भूले-भटके साधु ही जानते होंगे जिन्होंने यहाँ के अमूल्य भित्ति-चित्रों नष्ट कर देने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी। अजंता की कुछ गुफायें धुयें से काली पड़ गई हैं। यह सन् १९२४ ई. से प्रकाश में आ सकी हैं। अजंता की खोज का इतिहास भी बहुत मनोरंजक है। मद्रास की अंग्रेजी फौज के एक अफसर ने, जो शिकार करने उधर जा भटका था, सबसे पहले इन गुहाओं को देखा। उससे सूचना पाकर एक अन्य अफसर जेम्स ई. अलक्जैन्डर वहाँ गये और उन्होंने इसकी पूरी जानकारी रायल एशियाटिक सोसायटी के अधिकारियों को दी। उनके पश्चात् कैप्टेन ग्रेसले, मि. रेल्फ और डा. जे. बर्ड ने इन पर लेख लिखे। वह विदेशी पत्रों में प्रकाशित भी हुये। डा. बर्ड का लेख सन १८४७ में हिस्टोरिकल रिसर्च में प्रकाशित हुआ। उसके बाद कला-समीक्षक जे. फर्गुसन ने रॉयल एशियाटिक सोसायटी में प्राचीन भारतीय गुहा-मन्दिरों के सम्बन्ध में अपना एक लेख पढ़ा।

इसमें अजंता की गुफाओं के स्थापत्य पर, जिसके वे अधिकारी विद्वान थे, चर्चा की गई थी। इससे कला के मर्मज्ञों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। रॉयल एशियाटिक सोसायटी के अधिकारियों ने ईस्ट इंडिया कम्पनी के डायरेक्टरों को लिखा कि वह इन गुफाओं की सुरक्षा की तुरन्त व्यवस्था करें।

कम्पनी के आदेश से मद्रास की फौज के एक अफसर कैप्टेन आर. गिल, जो स्वयं कलाकार थे, यहाँ आये और चित्रों की अनुकृतियाँ तैयार करने में लग गए। गदर के समय तक यह चित्र तैयार होते रहे। गिल साहब चित्रों को इंगलैन्ड भेजते रहे। वहाँ 'क्रिस्टल पैलेस' के 'इंडियन कोर्ट' में उनकी प्रदर्शनी का आयोजन हुआ। सन १८६६ में वहाँ एक अग्नि-दुर्घटना हुई, जिसमें यह समस्त चित्र भस्म हो गये। उन चित्रों में कौन सी अनुकृतियाँ थीं, यह आज कोई नहीं जानता। अजंता के चित्र बड़ी शीघ्रता से नष्ट होते जा रहे थे। ग्रिफिथ साहब ने अपने ग्रंथ 'अजंता' में जिन चित्रों का उल्लेख किया और चित्र दिये हैं, उनमें से भी अनेक अब नष्ट हो चुके हैं। ऐसी स्थिति में वे चित्र कौन से होंगे, इसका तो अब कोई अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। इस दुर्घटना से अत्यंत क्षुब्ध होकर डा. जे. बर्जेस ने लिखा है—

"They were, of course, the labour of years, and it was hoped, they would perpetuate the most interesting portions of the painting that for a long while past had been rapidly decaying. Alas for offiicial wisdom and forethought! no copy, tracing, or photograph, was taken from them before sending them to be exhibited and finally burnt." [1]

सन् १८७२ में बम्बई की सरकार का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ और उसने पाँच हजार वार्षिक की निधि इन गुफाओं की सुरक्षा के लिए स्वीकृत की। साथ ही 'बम्बई स्कूल ऑफ आर्ट' के एक अधिकारी ग्रिफिथ साहब को भी इन भित्ति-चित्रों की प्रतिलिपियाँ तैयार करने के लिए भेजा गया। ग्रिफिथ को कला से अनुराग था और उन्होंने इस कार्य को बड़े मनोयोग से सम्पन्न किया। उनके साथ उनके छात्रों की टोली भी थी। चित्रों की अनुकृतियां इंगलैड भेजी जाने लगीं। वे वहाँ के 'इंडियन म्यूजियम' में प्रदर्शन के लिए रक्खी गईं। ग्रिफिथ साहब ने 'अजंता' पर जो ग्रंथ प्रस्तुत किया है, उसमें इन सबका संकलन है। उनके पश्चात् जे. बर्जेस और लेडी हेरिंघम ने भी ग्रंथों का प्रणयन किया। जे. बर्जेस के ग्रंथ में गुफाओं के चित्रों का वर्णन है, जबकि लेडी हेरिंघम की पुस्तक

[1] Banddha Rock-Temples of Ajanta– J. Bargess, Page 2.

में चित्रों की अनुकृतियाँ अधिक हैं। भारतीय कलाकारों में बंगाल चित्र-शैली के कई चित्रकारों ने इनकी अनुकृतियाँ तैयार कीं। उनके पश्चात् गुजरात के प्रख्यात कला-गुरु श्री रविशंकर रावल और श्री मुकुल दे ने भी कार्य किया और अपने ग्रंथ प्रकाशित कराये। श्री असितकुमार हलदार ने बंगला में 'अजंता और बाघ' शीर्षक ग्रंथ का प्रणयन किया और उसे अपने चित्रों से अलंकृत भी किया। निजाम राज्य ने याजदानी साहब लिखित विशाल ग्रंथ 'अजंता' प्रकाशित करा कर एक बहुत बड़ा कार्य सम्पन्न किया है। और भी कई ग्रंथ अजंता पर निकले हैं। अजंता ने समस्त विश्व के कला-पारखियों का ध्यान अपनी ओर खींच लिया है, अतः नये-नये ग्रंथों के प्रकाशन की परम्परा आगे बढ़ती जा रही है। कुछ वर्षों पूर्व 'यूनस्को' ने भी 'अजंता' पर सुंदर ग्रंथ प्रकाशित किया है और भारत सरकार की 'ललित कला एकादमी' भी एक चित्रावली निकालने जा रही है। यह अत्यंत हर्ष की बात है कि कला के प्रति हमारी घोर उपेक्षा का अंत होता जा रहा है और हम अपने देश की 'कला-निधि' की कीमत जानने लगे हैं। विश्व में कला के क्षेत्र में नये-नये प्रयोग होते रहते हैं और उन शैलियों का प्रभाव भारत के अनेक कलाकारों की कृतियों पर भी पड़ता है किन्तु इससे भारत की प्राचीन कला का गौरव किसी प्रकार भी कम नहीं होता वरन् उसका मूल्य और भी अधिक बढ़ जाता है। आज तो इस बात की बहुत बड़ी आवश्यकता है कि 'अजंता की कला' के उच्चतम अध्ययन के लिए वहाँ विद्यार्थी जावें और उस पर 'संशोधन-ग्रंथ' लिखे जावें।

भारतीय स्वाधीनता ने हमें एक बहुत बड़ी देन दी है। उसने हमारे देश के जकड़े हुए द्वारों को खोल दिया है। अजंता के पूर्ण अध्ययन के लिए केवल अजंता को देख लेना ही यथेष्ट नहीं है। अध्येता को इस देश के अन्य कला-मंडप; बाघ, सित्तन्नवासल तो देखना अनिवार्य है ही, उसे सिगरिया (सिलोन) और अफगानिस्तान, तुर्किस्तान, स्याम, ब्रह्मा व चीन आदि के भित्ति-चित्रों को भी देखकर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना होगा।

यही बात मूर्ति-कला के साथ भी है। भारतीय कला का विद्यार्थी केवल एलोरा, एलीफैन्टा, बादामी या महाबलीपुरम् की कला-कृतियाँ देखकर ही कला का पूर्ण-चित्र उतार सकने में उतना सफल नहीं होगा जितना कि बोरोबुदूर, अंकोरवाट के विशाल मंदिरों तथा चीन की गुफाओं के शिल्प को देखकर हो सकेगा। कला की जो शृंखला, समस्त एशिया में फैली है, भारतीय कला उसका एक अंग है। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि उसकी अपनी कोई विशेषता

नहीं है, वरन् उसका जो बाहर प्रभाव पड़ा है, अथवा उस पर जो बाहर का थोड़ा-बहुत प्रभाव पड़ा है, उसे जाने बिना भारतीय कला का पूर्ण अध्ययन सम्भव नहीं है। एशिया भर में फैली हुई कला का अध्ययन करके ही भारतीय कला के सम्बन्ध में निश्चित मत दिए जा सकते हैं। कला का तुलनात्मक अध्ययन आज की एक बड़ी आवश्यकता है।

अजंता में अर्ध-चन्द्राकार पर्वत को काटकर उन्तीस गुफायें बनाई बई हैं। यह समूहों में बंटी हुई हैं। इनमें से दसवीं और नवीं गुफायें बीच के समूह में हैं। यही सबसे अधिक प्राचीन है। यह दोनों चैत्य हैं। वास्तु-कला की दृष्टि से दोनों एक से हैं। दसवीं गुहा अथवा लेण आकार में नवीं की अपेक्षा कुछ बड़ी है। नवीं गुहा में प्रवेश-द्वार पर एक बड़ी खिड़की है, जिसमें से प्रकाश भीतर जा सकता है। दसवीं में वह नहीं है। दसवीं गुफा पच्चानवे फुट लम्बी और इकतालीस फुट चौड़ी है। ऊँचाई में यह छत्तीस फुट है। उपासना के समय इसमें बौद्ध भिक्षु एकत्रित हो जाते होंगे। इसमें भीतर एक स्तूप है, जैसा कि इसकी समकालीन भाजा, कार्ले, व अन्य गुफाओं में दिखाई देता है; बुद्ध की प्रतिमा तो उन दिनों बनती ही न थी। प्रारम्भिक बौद्ध गुहा-मन्दिरों में ऊपर की धरनें लकड़ी की रहती थीं और इस प्रकार इस वास्तु में लकड़ी और पत्थर दोनों का उपयोग दिखाई देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कारीगर लकड़ी का माध्यम छोड़कर पत्थर को अपनाता जा रहा है। यह धरनें अब नष्ट हो चुकी हैं। इतिहासकार इस गुफा को दूसरी या तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व का मानते हैं। इस पर एक अभिलेख भी है जिससे पता चलता है कि इसका द्वार किसी 'वसथि पुत्र' ने बनवाया था। यह कोई आंध्र राजा था अथवा धनी वणिक, इसका पता नहीं चलता।[१]

इस गुफा के अधिकांश चित्र मिट चुके हैं। दाहिनी ओर की दीवाल पर छंदत जातक है। छंदत जातक भारतीय शिल्पियों का एक प्रिय विषय रहा है और भारहुत व सांची सभी में प्रस्तरांकित हुआ है। अजंता में एक शिकारी, जो सम्भवतः सोनत्तर है, तरकश पर तीर चढ़ा रहा है। दूसरा भूमि पर पड़े छे दांत बटोर रहा है। एक विशाल हाथी भूमि पर लेटा हुआ है। यह छंदत है। एक अन्य दृश्य में हाथियों की टोली दिखाई देती है। इनमें छदंत अपने श्वेतवर्ण, विशाल आकार और छः दांतों के कारण सहज ही पहचाना जा सकता है। इसी कथा की शृंखला अन्य दृश्यों में बढ़ती हुई दिखाई देती है। एक राजा अपनी रानी के साथ आसन पर बैठे हुये हैं। उनके सेवक और अहेरी

१ "वासिठिपुतस कट हा दिनो घरमुख दान"

जो छदंत के दांत लेकर आये हैं, वहीं खड़े हुए हैं। रानी के मुख पर शोक की भावना दिखाई दे रही है।

दसवीं गुहा में शिकारियों की टोली से उन दिनों के देहाती लोगों के रहन-सहन का पता चलता है। वे सिर पर वैसी ही पगड़ियाँ बांधे हुये हैं, जैसी कि शुंग कालीन अर्ध-चित्रों में दिखाई देती हैं। शिकारियों के हाथों में फरसे है। स्त्रियों के चित्रों से भी ऐसा प्रतीत होता है कि यह चित्र शुंग और गुप्त कला की बीच की कड़ी हैं। उनके सिर पर वैसी ही ओढ़नी दिखाई देती है, जैसी सांची या भारहुत के शिल्प में स्त्रियों के सिर पर आंकी गई है। हाथों में कुहनी तक चूड़ियाँ, गले में कई लड़ों की करधनी जैसा कंठा, जिसमें बीच-बीच में ठप्पे दिखाई देते है, इनके गहने हैं। इनके शरीर के ऊपर का भाग अनावृत है।

एक राजा अपनी रानी व परिचारिकाओं के साथ बोधि-वृक्ष की ओर जाता हुआ दिखाई देता है। राजा युवक है और आकृति से दक्षिण की ही किसी जाति का मालूम होता है। उसके सिर पर पगड़ी नहीं है। बालों को ही लपेट कर उनका जूड़ा एक ओर बांध दिया गया है। उसके ऊपर रत्नहार लिपटा हुआ है। पुरुषों की यह केश-सज्जा पहिली बार ही दिखाई देती है। राजा के गले में कई लड़ों की मोटी सी माला है जिसमें बीच-बीच में चौकोर ठप्पे हैं। राजा उसी प्रकार के आभूषण पहने है जैसे कि सांची के शुंग-कालीन शिल्प में दिखाई देते हैं। उसके एक हाथ में कमल कलिका है। एक दासी उसके सिर पर छत्र लगाये है।

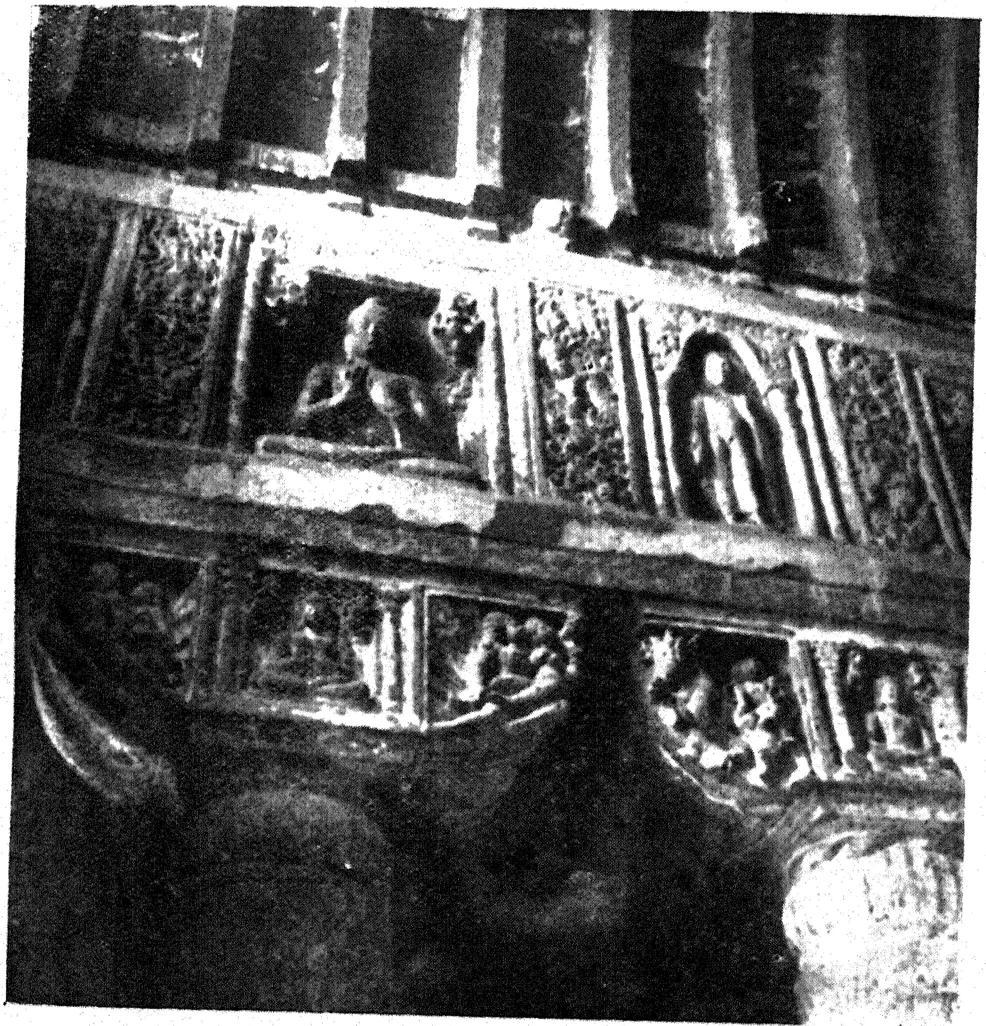
स्त्रियों के गले में बड़े-बड़े मोतियों की मालायें हैं। इस दृश्य से तीसरी शताब्दी की, दक्षिणापथ्य की स्त्रियों की केश-सज्जा पर भी प्रकाश पड़ता है। कुछ स्त्रियों के सिर पर ओढ़नी दिखाई देती है। ऊपर का अधोभाग अनावृत्त और सिर पर ओढ़नी शुंग काल की स्त्रियों की वेष-भूषा है, जो भारहुत की यक्षिणी चन्दा व अन्य नारी-मूर्तियों में दिखाई देती है। कुछ स्त्रियों के सिर खुले हुए हैं। उनके बाल एक फीते से बंधे हैं और एक स्त्री ने उनमें मोर के पंख खुरस लिए हैं। कुछ स्त्रियों के बालों में टेढी मांग निकाली गई है और उसमें मोतियों की मालायें लटकाई गई हैं।[1]

अजंता की दसवीं गुहा का निर्माण काल ईसा पूर्व तीसरी या दूसरी शताब्दी का भले ही हो किन्तु यह भित्ति-चित्र उतने प्राचीन नहीं जान पड़ते। उनका समय दूसरी अथवा तीसरी ईसवी का होना चाहिए। इन चित्रों पर शुंग कला का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

[1] Ajanta, Burgess, Plate X



गन्धर्व और अप्सरायें
अजंता



अजंता के स्तम्भ और छत

इस गुहा के निकट ही एक अन्य चैत्य है, जिसे नवीं लेण या गुफा कहा जाता है। इन गुहा-मन्दिरों का क्रमांक इनके निर्माण काल पर आधारित नहीं है वरन् अध्येयताओं की सुविधा की दृष्टि से रक्खा गया है। नवीं गुफा भी एक अत्यंत प्राचीन चैत्य अथवा स्तूप भवन है। इसके मुख्य द्वार के ऊपर प्रकाश के लिए एक बड़ी खिड़की है, जिसका आकार कमल के दल जैसा है। बौद्ध विहारों के प्रकरण में इस खिड़की की चर्चा की जा चुकी है। प्राचीन गुहा-मंदिरों की स्थापत्य-शैली की यह एक विशेषता है। विदेशियों ने इसे 'हॉर्स शू टाइप' कहा है। गुफा के प्रवेश द्वार व खिड़की आदि में लकड़ी का प्रयोग किया गया था। उसके चिन्ह् भी मिलते हैं। तोरण का पर्दा भी काठ का रहा होगा।

गुफा की बाहरी दीवार पर बाईं ओर भगवान बुद्ध की प्रतिमा है, जिसमें वे एक आसन पर बैठे हुए दिखाई देते हैं। उनके निकट अन्य प्रतिमायें भी हैं। दाहिनी ओर बुद्ध की एक खड़ी हुई मूर्ति है। यह मूर्तियाँ भी गुहा के निर्माण-काल के कई शताब्दियों बाद बनी होगीं। दूसरी या तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व में तो बुद्ध-प्रतिमाओं का बनना प्रारम्भ ही न हुआ था, यह हम पिछले प्रकरणों में देख चुके हैं।

नवीं गुहा का भीतरी भवन वर्गाकार है। मंडप और बरामदों के बीच में खम्भे हैं। छत महराबदार है और उनमें किसी समय लकड़ी की धरनें लगी होगीं, इसका आभास भी मिलता है। मुख्य भवन पैंतालीस फुट लम्बा और बाईस फुट नौ इंच चौड़ा है। इसकी ऊँचाई तेईस फुट दो इंच की है।

भीतर का स्तूप अलंकरण रहित है और वह कार्ले, बेदसा या अन्य प्राचीन गुहा-मन्दिरों जैसा ही है। उसमें किसी प्रकार की कोई विशेषता नहीं है। उसके ऊपर हर्मिका है।

नवीं गुफा किसी समय भित्ति-चित्रों से परिपूर्ण रही होगी किन्तु अब उसका कला-वैभव लुट गया है। अधिकांश चित्र मिट चुके हैं। चित्र गुफा के निर्माण-काल के नहीं हैं। सब चित्र एक काल के भी नहीं हैं। इनमें से सबसे पुराने चित्रों पर शुंग-कालीन कला का प्रभाव है। वेशभूषा और आभूषण सांची और भारहुत के अर्ध-चित्रों का स्मरण दिलाते हैं। एक दृश्य में जो मिट सा गया है, भगवान तथागत बैठे हैं। राजा, रानी, अमात्यगण और उपासक भिक्षु उन्हें घेरे हुए हैं। अमात्यों के सिरों पर लट्टूदार पगड़ियाँ हैं और वे हाथों व गले में भारी-भारी आभूषण पहने हैं। आकृतियों से वे दक्षिण की ही किसी आदिम जाति के लोग लगते हैं।

बैठा है। उसके निकट ही एक स्त्री नृत्य कर रही है। उसके पास वादक लोग हैं। दूसरी ओर एक जुलूस जाता हुआ दिखाई देता है, जिसमें एक हाथी भी है। कहीं कोई बालक वृक्ष पर चढ़ा हुआ दिखाई देता है। कहीं एक पुरुष नग्नावस्था में बैठा है और तीन पुरुष जो वस्त्र पहने हुए हैं, उसके पास ही खड़े हैं।

प्राचीन वाङ्मय में चित्रकला के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। चुल्लवग्ग में रेखांकन की विधि है। बौद्ध साहित्य के कई ग्रंथों में मगध और कोशल के राजाओं की चित्र-शालाओं के वर्णन मिलते हैं। रामायण में भी राम के राजभवन में एक अत्यंत सुन्दर चित्रशाला है, जिसमें उनके जीवन की घटनाओं को चित्रित किया गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जिन दिनों महर्षि वाल्मीकि ने रामायण की रचना की, उन दिनों चित्रों का प्रचलन था। भास ने कुषाण राजाओं के प्रतिमा-गृहों की चर्चा की है, जिनमें मूर्तियां रक्खी रहती थीं। बाण ने राजभवनों के उन चित्रों का उल्लेख किया है, जिनमें प्रकृति आदि का चित्रण किया जाता था। भवभूति के उत्तर राम चरित्र में राम और सीता के जीवन-प्रसंगों का चित्रों में अंकन है, जिन्हें देखकर सीता को अपने वनवास की स्मृति जगती है। विष्णु धर्मोत्तरम् में जो गुप्त काल की ही रचना है, चित्रकला के समस्त अंगों का विशद् वर्णन किया गया है।

भित्ति-चित्रों के अतिरिक्त गुप्त काल में 'यमपट्ट' भी बनते थे। चित्रकार एक कपड़े पर स्वर्ग और नरक के दृश्य आंक देता था और भिक्षुक उन्हें लोगों को दिखाकर उनसे दान लिया करते थे। वैशाखदत्त ने अपने 'मुद्रा राक्षस' नाटक में इन यमपट्टों का उल्लेख किया है।

जिन ग्रंथों में रेखांकन के लिए भित्ति तैयार करने, रंग बनाने और उन्हें आंकने की विधि दी गई है, उनमें से कोई भी अजंता के समय का नहीं है। चुल्लवग्ग तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व का है किन्तु उसका वर्णन इतना पर्याप्त नहीं है कि अजंता के भित्ति-चित्रों की विधि पर पूरा प्रकाश पड़ सके। वाराह मिहिर की वृहत् संहिता छठी शताब्दी की कृति मानी जाती है और विष्णु पुराण का विष्णु धर्मोत्तरम् सातवीं सदी की रचना है। गुप्त सम्राटों का समय ३२० ईसवी से ६०० ईसवी तक का माना जाता है। विष्णु धर्मोत्तरम् के पश्चात् इस विषय पर और भी ग्रंथ लिखे गये किन्तु वे बहुत बाद के हैं। कल्याणी के चालुक्य वंश के राजा सोमदेव के समय (११२७ से ११३८ ई.) अभिलषितार्थ चिंतामणि की रचना हुई और सोलहवीं सदी में श्री कुमार द्वारा 'शिल्परत्न' की। इस प्रकार अजंता की रेखांकन की विधि के सम्बन्ध में विष्णु धर्मोत्तरम् से ही सबसे अधिक जानकारी प्राप्त हो सकती है। नवीं और

दसवीं लेणों के चित्रों में जो अधिक प्राचीन हैं, गेरू, रामराज, स्याही व चूने आदि का उपयोग किया गया है।

अजंता में अब केवल पहिली, दूसरी, सोलहवीं और सत्तहवीं गुफाओं में ही चित्र-समृद्धि शेष है। यह समस्त गुफायें पांचवीं सदी में बनी हैं। इनके भित्ति-चित्र ही भारत की प्राचीन राष्ट्रीय कला का प्रतिनिधित्व करते हैं। डा. मोतीचन्द जी ने लिखा है—'इन भित्ति-चित्रों से भारतीय कला का एक नवीन आदर्श स्थापित होता है, जिसमें सादृश्यता, भाव गाम्भीर्य, लावण्य और भावाभिव्यक्ति का अपूर्व सामंजस्य है।"

पहिली गुफा या लेण में शिवि जातक, शंखपाल जातक, महाजनक जातक व चाम्पेय जातक आदि अंकित किये गये हैं। उनके अतिरिक्त बोधिसत्व पद्मपाणि, अवलोकितेश्वर और वज्रपाणि के भी विशाल भित्ति-चित्र है। इनमें बोधिसत्व पद्मपाणि का चित्र भारतीय कला की एक अत्यंत उत्कृष्ट कृति माना जाता है। एक स्थान पर भगवान बुद्ध की तपश्चर्या का दृश्य है। इसमें मार की सेना उन पर आक्रमण करने आई है। अजंता की विशेषता विषयों का चयन नहीं है। विषय तो वही हैं जिन्हें मूर्तिकार भारहुत, सांची व अमरावती आदि में आंक चुके थे। अजंता की विशेषता उन चित्रों की सजीवता और प्राणमयता है। चित्रकार भिन्न-भिन्न स्थितियों में भिन्न-भिन्न पात्रों के मुखों पर जो भाव आंक देता है अथवा हाथों की मुद्राओं आदि से जो भावाभिव्यक्ति करता है, वही अजंता की कला का प्राण है। पहली गुफा एक विहार है जिसमें सामने एक बरामदा है, फिर एक विशाल मंडप है। यह सातवीं शताब्दी की रचना है। बरामदा चौंसठ फुट लम्बा और लगभग नौ फुट चौड़ा है। इसके भीतर मंडप है। यह गुफा एक सौ बीस फुट तक अन्दर काटकर बनाई गई है। बिना श्रद्धा के इतना महान कार्य कभी सम्भव नहीं होता। गुफा के बाहर भी गुप्त काल की अत्यंत उत्कृष्ट प्रतिमायें हैं। कहीं शिला-फलकों में भगवान बुद्ध के जीवन की घटनायें आंकी गई हैं और कहीं हाथियों की टोलियाँ दिखाई दे रही हैं। स्तम्भों पर शार्दूल व मकर आदि का अलंकरण है। अजंता की समस्त गुफाओं में पहिली गुफा सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है। इसमें वास्तु-शिल्प, मूर्ति कला और चित्रकला का अद्भुत सामंजस्य हुआ है। इस गुफा में शिवि जातक अंकित हुआ है। इसका कथानक वही है, जो महाभारत में है। इन्द्र तथा अग्नि, बाज और कबूतर का रूप धारण करके राजा शिवि के सत्य की परीक्षा लेने आते हैं। राजा बाज को अपना मांस देकर भी शरणागत कबूतर के प्राणों की रक्षा करते हैं। बौद्ध वाङ्मय में यह कथा बोधिसत्वावदान कल्प लता तथा सूत्रालंकार में प्राप्त होती है।

शिवि जातक तीन दृश्यों में आंका गया है। एक ही अर्ध चित्र में कई दृश्यों को आंकने की शैली भारहुत और सांची में भी मिलती है। अजंता के भित्ति-चित्रों में भी उसी को अपनाया गया है किन्तु कहीं कहीं एक दृश्य को केवल एक चित्र द्वारा दिखाया गया है। एक घटना आंक चुकने के पश्चात् चित्रकार ने दूसरे चित्र में दूसरी घटना को उठाया है। इस प्रकार एक ही कथा कई चित्रों में सम्पूर्ण हुई है। शिवि जातक के बाईं ओर के कोने में राज भवन के अंतः पुर का दृश्य है। श्यामवर्ण का द्वारपाल काले और सफेद चारखाने का लम्बा अंगरखा पहने द्वार पर खड़ा है। उसकी कमर में पट्टा बंधा है। भीतर दो स्त्रियां, जो रत्नों के अलंकार, रेशमी झीने वस्त्रों और गौर वर्ण से राज महिषियाँ प्रतीत होती हैं, अत्यंत दुःखपूर्ण मुद्रा में खड़ी हैं। उनकी मनोव्यथा उनके मुख और नेत्रों से छलकी पड़ती है। एक स्त्री ओठ पर उंगली रक्खे हुए वेदना और चिन्ता में डूबी सी प्रतीत होती है। दूसरे दृश्य में राजा शिवि अपने रत्नजड़ित स्वर्ण सिंहासन के नीचे की पीठिका पर खड़े हैं। उनका उज्ज्वल गौर वर्ण है। सिर पर सोने का मुकुट है, जिसमें जवाहरात जड़े हुए दिखाई देते हैं। उनके गले में बड़े बड़े मोतियों की माला है। हाथों में कंकण और बाहों में भुजबन्द हैं। उनके मुख का अंश मिट सा गया है। हाथों की मुद्राओं से प्रतीत होता है कि राजा किसी चिंता के भंवर में फंस गए हैं। सिंहासन के निकट ही दो बौने खड़े हैं। इस दृश्य में चित्रकार ने राजा की आकृति अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा बड़ी दिखाई है। अजंता की चित्रशैली में कलाकार जिस व्यक्ति को प्रधानता देना चाहता है, उसकी आकृति अपेक्षाकृत बड़ी बनाता है। सत्तरहवीं गुफा में भगवान बुद्ध के गृहागमन का दृश्य है जिसमें वे राहुल-जननी के भवन के द्वार पर खड़े हैं। इस चित्र में भी राहुल और यशोधरा की अपेक्षा भगवान बुद्ध को बड़े आकार में अंकित किया गया है। शिवि जातक में तीसरा दृश्य वन अथवा वध स्थल का है। एक ओर पीपल का पेड़ खड़ा है। राजा मानो अपनी बलि देने के लिए, कपोत के बदले में अपने शरीर को अर्पण करने के लिए, तैयार दिखाई देते हैं। पहले दृश्य में उनके हाथ पर कबूतर बैठा हुआ भी दिखाई देता है। राजा के पीछे एक ओर पाँच स्त्रियां वेदनामग्न खड़ी हैं। एक स्त्री अपनी छाती पीटती दिखाई देती है। वह मुड़कर अपने बालक की ओर देख रही है। पति के देह परित्याग के समय स्त्री का अपने पुत्र की ओर दुःखपूर्ण दृष्टि से देखना अत्यंत स्वाभाविक जान पड़ता है। मानो वह कहना चाहती है कि, 'अब इसका आश्रय कौन है ?' राजा के आगे एक व्यक्ति खड़ा है। वह अपनी भुजा उठाकर आदेश दे रहा है कि, 'अपनी प्रतिज्ञा शीघ्र पूरी करो।' एक ओर के कोने में दो योगी बैठे हुए तपस्या कर रहे हैं और आकाश में देवगण बड़ी उत्सुकता के साथ इस दृश्य को देख रहे हैं।

पहिली गुफा में महाजनक जातक कई चित्रों में आंका गया है। इसमें बोधिसत्व महाजनक संसार के भोग-विलास को त्याग देना चाहते हैं और अतीव सौन्दर्यशालिनी शिवली उन्हें विरक्ति पंथ पर जाने नहीं देना चाहती। महाजनक की कथा से भगवान तथागत के महाभिनिष्क्रमण की याद आ जाती है। राजा शिवली के भवन में एक आसन पर बैठे हैं। उनके चारो ओर शृंगार और विलास की सामग्री रक्खी है। महाजनक अत्यंत रूपवान हैं। उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है, मानो देवराज इन्द्र ही भूमि पर उतर आया हो। रानी शिवली उन्हें आकृष्ट करने की चेष्टा कर रही है। उसके शरीर के अंग झीने वस्त्रों से ढंके हैं। वह एक हाथ राजा की जंघा पर रक्खे है और दूसरे हाथ से उनका एक पैर पकड़े हुए प्रणय-निवेदन कर रही है।

आगे के चित्र में नृत्य का समारोह चल रहा है। नर्तकी को बड़े कलात्मक ढंग से चित्रित किया गया है। उसकी वेष-भूषा राज महिषियों से भिन्न है। अजंता के चित्रों में नर्तकियों, सेविकाओं, सभ्रान्त परिवारों की गृहिणियों व राजाओं की रानियों का अंकन अपने-अपने ढंग से किया गया है। उनकी वेश-भूषा व भाव-मुद्रायें भी उन्हीं के अनुरूप आंकी गई हैं। महाजनक जातक के इस दृश्य में नर्तकी घाघरा पहने है। उसके हाथों में कंगन हैं और बाहों में बाजूबन्द। उसके कानों में कर्णफूल हैं। चोटी में फूल गुंथे हुए हैं। हाथों और पांवों में मेहंदी की लालिमा है और मुख में पान की। उसकी नृत्य-भंगिमा अत्यंत स्वाभाविक है। अजंता का कलाकार जिसे छूता है, उसमें मानो प्राण फूंक देता है; जिस दृश्य का आंकता है, उसका वातावरण खड़ा कर देता है। भारतीय कला की यह विशेषता है कि उसमें किसी व्यक्ति या दृश्य विशेष को सामने रखकर चित्रण नहीं किया गया। नेत्र जो देखते हैं, वही ज्यों का त्यों अंकित नहीं किया गया। रूप-तत्व, रंग अथवा प्रकार भी वही नहीं रहता वरन् कलाकार के हाथ उसमें जिस भाव की अभिव्यंजना करते हैं उसी के अनुरूप चित्र बनता चला जाता है। उसके अंकन के लिए विषयों की भी कोई निर्धारित सीमा नहीं है। उसके आगे समस्त जीवन पुस्तक के खुले पन्ने की भांति बिखरा पड़ा है। जातक-कथाओं के माध्यम से; मानो उस उंगली से, वह उसे स्पर्श करता है। कलाकार की सफलता इसमें निहित नहीं है कि वह क्या आंकता है वरन् इसमें है कि वह जिस रस का अंकन करता है, उसका पूर्ण परिपाक कर सकता है अथवा नहीं। उसने महायोगी और विलासी दोनों का चित्रण किया है और उसमें पूरी तरह सफल हुआ है।

महाजनक जातक की कथा अनेक दृश्यों में आंकी गई है। बोधिसत्व महाजनक जल-पोत लेकर यात्रायें करते हैं और उनके पोत के भग्न हो जाने पर देवि मणि मेखला उन्हें विपत्तियों में से उबारती हैं। महाजनक जातक में त्याग और राग का संघर्ष है और विरक्ति की विजय है। अजंता के कलाकार ने जो वस्तुतः कथाकार है, दोनों वृत्तियों, और उनके तदनुरूप वातावरण का बड़ी सफलता के साथ चित्रण किया है।

पहिली गुफा के चाम्पेथ जातक और शंखपाल जातक नागों की कथायें हैं। शंखपाल सर्पों के लोक का राजा है किन्तु वह बोधिसत्व है। लोक-कल्याण की भावना से उसका हृदय परिपूर्ण है। वह दूसरों के लिए अपने शरीर को दे डालना चाहता है। नागलोक से आकर वह भूमि पर लेट जाता है और शिकारियों की टोली उसे रस्सियों में बाँधकर चल देती है। एक किसान, जिसका नाम अलार है, अहेरियों को कुछ स्वर्ण-मुद्रायें देकर शंखपाल को मुक्त करा देता है। यही घटना इस गुफा के तीन दृश्यों में आंकी गई है। वह एक ओर अलग खड़ा शिकारियों को मुद्रायें देता हुआ भी दिखाई देता है। उसके साथ ही उसके बैल हैं। बैलों की आकृतियाँ बनाने और उनकी विविध मुद्रायें अंकित करने में चित्रकार नें बड़ी कुशलता दिखाई है। कोई बैल आँखें तरेर कर देख रहा है मानो अहेरियों को उनके इस दुष्कृत्य के लिए फटकार रहा हो। कोई पूंछ उठाकर भागने की तैयारी कर रहा है, मानो वह सर्प को देखकर भयभीत हो गया हो। कुछ तेजी से दौड़ रहे हैं। चित्रकार के लिए पशुओं की मुद्रायें अत्यंत कठिन होती हैं। उनका आकार तो आंका जा सकता है किन्तु उनकी खुशी या दुःख को आंकना, सचमुच बहुत कठिन कार्य है किन्तु अजंता के कलाकार को इसमें असाधारण दक्षता प्राप्त है, यह एक अन्य गुफा में अंकित गज-जातक और इस दृश्य से स्पष्ट हो जाता है। इसी गुफा में बैलों की लड़ाई का चित्र भी है। बैलों का युद्ध कलाकारों का एक प्रिय विषय था, जिसे उन्होंने भाजा के प्राचीन गुहा-मन्दिर में भी प्रस्तांकित किया है।

अजंता के इन बैलों के पुष्ट शरीर, तनी हुई पेशियां, उठी हुई पूछें और झुकी हुई गर्दनें कलाकार के पशु-जीवन के निकट से अध्ययन की साक्षी हैं।

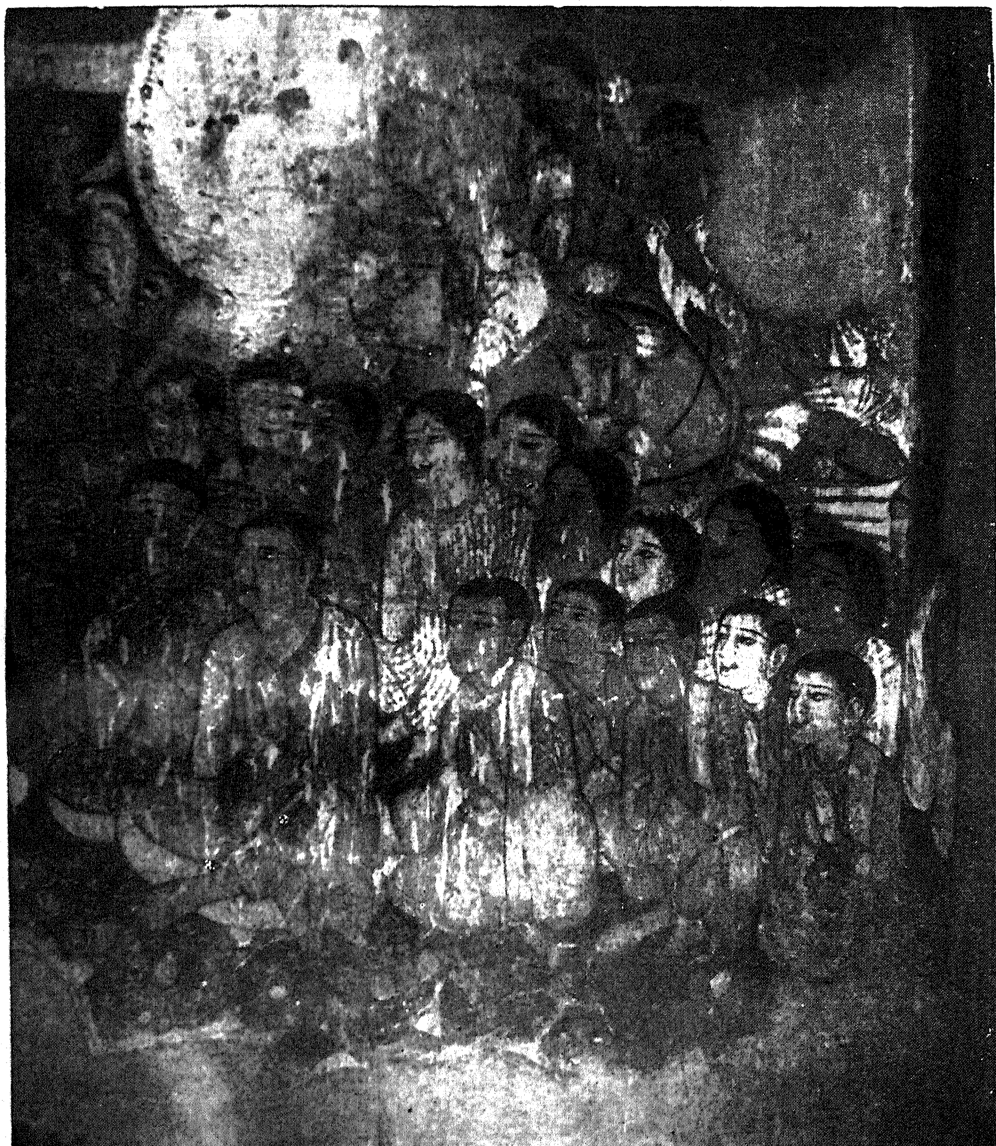
पहिली गुफा में बोधिसत्व पद्मपाणि का विशाल चित्र, न केवल अजंता वरन् समस्त भारतीय कला की एक अत्यंत श्रेष्ठ कृति माना जाता है। इस चित्र के रूप में मानों विश्व-करुणा और चिंतन साकार हो गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि राजकुमार सिद्धार्थ ही सामने आकर खड़े हो गये हैं। आत्मा का सौन्दर्य और दिव्य रूप दोनों के समन्वय ने उनके मुख पर एक ऐसा अलौकिक तत्व ला

दिया है, जिसे केवल अनिमेष नेत्रों से देखा ही जा सकता है। इस चित्र की विशेषता यही है कि इससे नेत्र हटा लेने पर सूना-सूना सा लगने लगता है। भरा हुआ मुख, उज्ज्वल गौर वर्ण, कमल-दल सी आँखें, आर्यों सी उठी हुई नासिका, चौड़ा भाल और प्रशस्त वक्षस्थल देखने की ही वस्तु हैं। उनके सिर जो मुकुट है, उसे देखने से लगता है कि कलाकार की कुशल उंगलियों ने विश्व भर से श्रेष्ठ रत्न खोज-खोज कर उसमें टाँक दिये हैं। किसी अलंकार में इतनी शोभा लायी जा सकती है, इसकी इस मुकुट को देखे बिना कल्पना नहीं होती। उन्मुक्त केश कंधों पर लहरा रहे हैं। आभूषण सांची और भारहुत में भी दिखाई देते हैं किन्तु अजंता के अलंकारों में वैसा भारीपन नहीं है। वे अधिक कलात्मक हैं और उनमें इतनी अधिक डिजायनें दिखाई देती हैं कि उस युग के स्वर्णकारों के लाघव पर आश्चर्य होने लगता है। चित्रकार उन वस्तुओं को अंकित करता है, जिन्हें वह लोक में प्रचलित देखता है। गुप्त युग में आभूषण बनाने की कला कितनी अधिक उन्नत थी इसकी कल्पना बोधिसत्व पद्मपाणि के इस मुकुट से की जा सकती है। उनके कानों में अत्यंत कला-पूर्ण रत्न-जड़ित कुण्डल है और गले में छोटे-बड़े मोतियों की माला, सोने की लड़ और कई लड़ों का उमठा हुआ कंठा है जिसके बीच में कमल का फूल है। उनके कंधे पर यज्ञोपवीत शोभित है। बोधिसत्व के एक हाथ में कमल है।

अजंता के इस चित्र में रंग और रूप के साथ भावों का जो मिलन हुआ है, उसकी शोभा दिव्य है। सबसे बड़ी चीज यह है कि इस चित्र में एक वातावरण को सृजन करने की सामर्थ्य है। इसके सन्मुख जाते ही पर्यटक इस पार्थिव लोक को भूल सा जाता है।

पद्मपाणि के अतिरिक्त इसी गुफा में वज्रपाणि और अवलोकितेश्वर को भी आंका गया है। अवलोकितेश्वर के मुख का भाग नष्ट हो गया है। इसी गुफा का एक चित्र 'मार-विजय' भी एक अत्यंत उत्कृष्ट कला-कृति है। यह विषय भी चित्रकार और शिल्पियों को अत्यंत प्रिय रहा है। अजंता की छब्बीसवीं गुफा में भी 'मार-विजय' का दृश्य आंका गया है किन्तु अभिव्यक्ति और वातावरण दोनों ही दृष्टियों से पहिली गुफा की कृति अधिक सफल कही जा सकती है।

पहिली गुफा में भगवान बुद्ध तप में लीन हैं। मार अपनी सेना के साथ आक्रमण करने आया है। ललित विस्तर में मार भौतिक वासनाओं के स्वामी के रूप में आंका गया है। इच्छा, भय, लोभ, कुसंस्कार, मिथ्या यश, अभिमान और ईर्ष्या आदि उसकी सेना है, जिसे लेकर वह तप पर विजय प्राप्त करने के



उपासक–अजन्ता



बुद्धों का लोक
अजंता

लिए आता है। इस एक ही रूपक के द्वारा मानो वह संघर्ष चित्रित कर दिया गया है जो दिव्य और पाशविक शक्तियों के बीच चला करता है।

इसी को पुण्य और पाप की संज्ञा भी दी जाती है। यह विश्व में सदैव चलता रहता है। हमारे मनों में भी प्रति क्षण चलता रहता है। पाशविक वृत्ति तप पर विजय प्राप्त करना चाहती है, इसीलिए वह शिव, बुद्ध अथवा तीर्थंकर पर सेना सजाकर आक्रमण करती है किन्तु पराजित होकर लौट जाती है। इस दृश्य में भगवान बुद्ध के चारो ओर अत्यंत भयंकर प्राणी दिखाई दे रहे हैं। भगवान बुद्ध उन पाशविक वृत्तियों के बीच में ऐसे जान पड़ते हैं मानो गहन अंधकार में दीपक जल रहा हो। भगवान पीत चीवर धारण किये वज्र आसन पर बैठे हैं। उनके पीछे बोधिवृक्ष भी आंका गया था किन्तु वह मिट गया है और अब पीपल की कुछ पत्तियाँ ही दिखाई दे रही हैं। भगवान का एक कंधा चीवर से ढंका हुआ है और दूसरा अनावृत है। उनका एक हाथ गोद में रक्खा है और दूसरे हाथ की दो उंगलियों से वे भूमि को स्पर्श कर रहे हैं। बलिष्ठ आकृति का एक पुरुष हाथ में तलवार लिये भगवान बुद्ध की ओर झपट रहा है। उसकी भृकुटियाँ चढ़ी हुई हैं। बाल कंधों पर बिखरे हैं। उसकी सेना अथवा वृत्तियाँ राक्षसों के रूप में आंकी गई हैं। वे अत्यंत भयावह हैं। किसी के मुख में से सर्प निकल रहा है तो कोई अपना विकराल मुख फाड़े हुए, भगवान को निगल लेने के लिए ही आकुल जान पड़ता है। उनके हाथों में तीक्ष्ण शस्त्र हैं। आसन से नीचे के भाग में अर्धनग्ना स्त्रियाँ है, जो विविध हाव-भाव प्रदर्शित कर रही हैं। एक स्त्री मधु-कलश लिए खड़ी है। यह सब मार की कन्यायें मानी गई हैं। अजंता के चित्रकार ने इस एक ही चित्र में क्रोध, शृंगार, शांत और भयानक रसों का चित्रण किया है; मार का क्रोध, अर्ध-नग्ना नारियों का शृंगार, मार की सेना की भयावहता और भगवान तथागत का शांत रूप। समस्त रसों के चित्रण में वह पूर्ण-रूप से सफल हुआ है।

पहिली गुफा का समय सातवीं शताब्दी माना जाता है। इसमें एक ऐसा दृश्य भी है, जिसमें फारस के लोग दिखाये गये हैं। ईरान का एक राजा मदिरा पान कर रहा है। उसकी आकृति भारतीयों से भिन्न है और वेश-भूषा भी। उसके सिर पर बड़े-बड़े बाल हैं जिन्हें वह लम्बे टोप से ढके हुए है। मुंह पर दाढ़ी भी है। उसके आसन के नीचे दो दाढ़ी वाले सेवक गोल टोपियाँ अथवा टोप लगाये बैठे हैं। राजा के निकट ही उसकी रानी बैठी

है। दो सेविकायें मदिरा की सुराहियाँ लिए दोनों ओर खड़ी हैं। स्त्रियों के सिर पर भी टोप हैं। वे लम्बी फ्रॉक जैसा वस्त्र पहने हैं जो नीचे तक लटकता दिखाई देता है।

एक अन्य दृश्य में कुछ विदेशी एक राजा की सभा में उसे मोतियों का जड़ाऊ गहना भेंट कर रहे हैं। विदेशी लोग गौर वर्ण के हैं। उनके सिर पर नुकीली टोपियाँ लगी हैं। वेष-भूषा से यह लोग तुर्किस्तान के प्रतीत होते हैं। इन चित्रों के सम्बन्ध में इतिहासकारों में मतभेद चलता आ रहा है। कुछ विद्वानों की राय में इस चित्र में चालुक्य राजा पुलकेशिन के साथ ईरान के शाह खुसरो की भेंट आंकी गई है। वे सातवीं शताब्दी में भारत आये थे।[1] अन्य कला-समीक्षकों की राय में यह समस्त चित्र किसी जातक कथा के ही अंश है। अजंता के भित्ति-चित्रों में किसी ऐतिहासिक घटना का अंकन नहीं किया गया है। भारत में विदेशी लोगों का आगमन तो बहुत पहले से ही आरम्भ हो गया था। उसमें व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध भी स्थापित हो चुके थे।

अजंता की पहिली गुफा के इन चित्रों के अतिरिक्त उसका एक बड़ा आकर्षण उसकी छतों पर आंके गये बेल-बूटे आदि हैं। अजंता में कमल का तो इतने प्रकार का अंकन दिखाई देता है कि आश्चर्य से दंग रह जाना पड़ता है।

दूसरी गुफा इसके निकट ही है। यह भी एक विहार है और वास्तु-शिल्प की दृष्टि से अजंता की पहिली गुफा के सदृश्य ही है। सामने के बरामदे के खम्भों में अन्तर है। पहिली की अपेक्षा क्षेत्र में भी यह गुफा छोटी है। सामने के खम्भों में से चार गोल है और दो चौखूटे। इनको विविध प्रकार के अलंकरणों से भर दिया गया है। इनके ऊपर का शीर्ष-भाग पुष्प के आकार का है। बरामदे से सटे हुये कमरे हैं, जिनमें मूर्ति-शिल्प दिखाई देता है। दाहिनी ओर के कमरे में अपने सेवकों से घिरे हुए नाग राजा बैठे हैं और बाईं ओर के कमरे में धर्म चक्र मुद्रा में भगवान बुद्ध की प्रतिमा है। अजंता अपनी चित्रावलियों के लिए प्रख्यात है किन्तु उसकी प्रतिमायें भी अत्यंत भावमयी हैं। गुफा में दो खिड़कियाँ हैं और एक द्वार। द्वारों के नीचे के भाग में द्वारपालों की विशाल प्रतिमायें हैं। वे नाग हैं और उनके सिर पर भी नागों के पाँच फन दिखाई देते है। नाग और यक्ष, अनार्य अथवा निषादों की देन है किन्तु वे धीरे-धीरे शिल्प-लोक में प्रविष्ट होते गये और फिर इतने घुल-मिल गये कि अब वे बाहर से आये हुये नहीं जान पड़ते।

[1] Ajanta—G. Yazdani, Plate XXXIX & XXXVIII

गुफा के बरामदे की लम्बाई छयालीस फुट है। भीतर का मंडप लगभग सैंतालीस फुट चौड़ा और अड़तालीस फुट लम्बा है इसलिए वर्गाकार सा प्रतीत होता है। भीतर बारह खम्भे हैं। इनमें कुछ चौकोर हैं और कुछ गोल। खम्भों पर अनेक मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। इनमें कहीं विद्याधर और अप्सरायें आंकी गई हैं और कहीं राजा अपने सेवकों के साथ बैठे दिखाई देते हैं। कहीं मकरों के मुख से बेलें निकलती दिखाई देती हैं। दूसरी गुफा के खम्भों का अलंकरण बहुत उत्कृष्ट कोटि का है। प्राचीन युग की कला में एक विशेषता दिखाई देती है। शिल्पी अथवा चित्रकार मूर्ति या चित्र के छोटे छोटे अंश को भी बड़ी तन्मयता और मनोयोग के साथ बनाता था। वह कलाकार था, व्यवसायी न था। कला और व्यवसाय में अन्तर होता है। एक वकील एक मुकदमे की पैरवी में अधिक मेहनताना भी ले सकता है और कम भी। मुवक्किल को देखकर वह निश्चित होता है कि वह क्या दे सकता है और उसके मुकदमे में कितना श्रम करना चाहिए? उसका चक्र पैसे की धुरी पर घूमता है। वह उसके लिए एक पेशा है। यही बात मिल की मशीन पर खड़े होकर कपड़ा बुननेवाले के लिए भी कही जा सकती है। जो कुछ कार्य वह करता है, वह आत्मा की नहीं किन्तु शरीर की भूख से प्रेरित होकर करता है। कलाकार किसी ऐसे लोक का प्राणी हो जहाँ के निवासी सांसारिक आवश्यकताओं से परे हों, ऐसी बात तो है नहीं। वह भी इसी धरती का प्राणी है। उसे भी जीवन-यापन के लिए धन की आवश्यकता होती ही है किन्तु जब वह चित्र बनाने बैठता है या कविता करने बैठता है तो अपने आप को ही भूल जाता है। उस समय उसके सामने चित्र का मूल्य नहीं रहता; प्रकाशक से मिलने वाला पारिश्रमिक भी नहीं रहता, न उसके आधार पर वह कृति की रचना करता है। वह तो उसे अपनी सर्वोत्तम रचना बनाना चाहता है। पिछली सीढ़ियों से कुछ ऊपर चढ़ना चाहता है। भावनाओं के भार से उसकी कृति गरिमामयी बनी तो उसकी लेखनी, तूलिका अथवा छैनी कृतकृत्य हो गयी। वह अपनी अनुभूति को कृति में उतार देना चाहता है, कभी-कभी सारा अस्तित्व ही उस अनुभूति की तुलना में हलका दिखाई देता है—

"झेल लें अनुभूति की संचित कनक का जो इकट्ठा भार,
ऐसे कहाँ हैं?
अस्तित्व की इस जीर्ण चादर की इकहरी बाट के यह तार!"—अज्ञेय

प्राचीन भारत का शिल्पी, पेशेवर न था, व्यववासी न था, मजदूर न था वह केवल कलाकार था। वह अपनी कृति में ही आनन्द पाता था। आज के

श्रमिक के लिए कार्य करने के घंटे, पेट भरने का साधन हैं और उसका आनन्द सस्ती, छिछली फिल्म में केन्द्रित है। प्राचीन युग के कलाकार का आनन्द भी उसी वस्तु में केन्द्रित हो जाता था, जिसे वह बनाता था। बूढ़ा बढ़ई खाट के पायों को तराश कर उनको तरह-तरह की पच्चीकारी से भर देना चाहता है। नया उसे सपाट छीलकर, पैसे सीधे कर बाजार की ओर चल देता है। दोनों के आनन्द का केन्द्र पृथक् है। मशीन युग का यही अभिशाप है कि कार्य में से जीवन का रस निकल गया है। आज के भवनों में विशालता तो दिखाई देती है किन्तु वह निर्जीव, निष्प्राण से लगते हैं। प्राचीन भवनों में एक वातावरण रहता है। उस वातावरण को वास्तु, शिल्प और चित्र सभी मिलकर बनाते हैं। वह वातावरण पर्यटक के प्राणों में उतरता है और उसे नयी प्रेरणा देता है। आज के भवन दर्शक को प्रेरणा देने में असमर्थ रहते हैं।

अजंता अथवा एलोरा के शिल्पकार या चित्रकार यदि अपनी कृति की रचना करते समय योगियों सा मनोयोग न साधते तो क्या कभी इस प्रकार की कला के सृजन में समर्थ हो सकते? आज शिल्पी के हाथों में प्रस्तर-खंड रहता है और वह मूर्ति कोरता है। उसे इतनी सुविधा है कि यदि उसके मन के अनुकूल भाव मूर्ति में न आ पावें तो वह नया पाषाण उठाकर उस पर प्रयोग करे। प्राचीन युग का शिल्पी, एक पर्वत-शृंखला को छेनी से काट काटकर उसमें बरामदे, मंडप और खम्भे बनाता है। उसे जो कुछ बनाना है, उन भित्तियों पर ही बनाना है। वह किसी खंड को तोड़ नहीं सकता, बदल भी नहीं सकता। उसे एक भित्ति-चित्र तैयार करना है। वह बार-बार कूँची फेर कर रंग और आकृतियाँ बदलना तो न चाहेगा क्योंकि उसका चिकना पट नष्ट होता है। न वह कागज पर चित्र बना रहा है कि जब चाहे रेखाओं को मिटाकर नई खींच ले या कागज को ही फाड़कर दूसरे पर चित्र बनाने लगे।

शिल्पी को एक पाषाण-चित्र, गुहा की दीवार पर ही उत्कीर्ण करना है। उसमें कई आकृतियाँ हैं। उन सब के मुख पर अलग-अलग भावनायें हैं। यदि उन्हें बनाते समय किसी एक आकृति के मुख पर ही दृश्य के अनुकूल भाव न उतर सका तो समस्त दृश्य का सामंजस्य बिगड़ जाना सहज है। ऐसी स्थिति में वह किस मनोयोग के साथ काम करता होगा, कृति के निर्माण के समय वह अपने आप को कितना भूल जाता होगा? क्या कोई पेशेवर व्यवसायी या पैसे से कुकमाया हुआ मजदूर इस प्रकार के कार्य में सफल हो सकेगा?

ये अज्ञात-कुलनाम कलाकार कौन थे? इतिहास तो उनका नाम भी नहीं [illegible]। उनकी कृतियों में कहीं उनका नाम नहीं है। शिला-लेखों में

इस बात का जिक्र आता है कि किस राजा ने कला-मंडप की रचना कराई? किसने कार्य के लिए द्रव्य दिया? किन्तु उनका उल्लेख कहीं नहीं मिलता जिनके हाथों ने स्वर्ग की श्री भू पर उतार दी। दुःख की बात तो यह है कि यह परम्परा आज भी चलती जा रही है। समस्त उत्तरापथ घूमने के पश्चात् जब काशी के भारत-माता-मन्दिर में मुझे एक प्रस्तर-खंड पर उन कारीगरों के नामों की सूची दिखाई दी, जिन्होंने उस विशाल मानचित्र को बनाया था तो मेरे मानस–चक्षुओं के आगे बाबू शिवप्रसाद जी गुप्त खड़े हो गये और मेरा सिर उस महान् आत्मा के आगे श्रद्धा से नत हो गया। आखिर किसी ने तो कला और श्रम को गौरव दिया।

अजंता की दूसरी गुफा के एक कमरे में एक विशाल प्रतिमा प्रतिष्ठित है। एक विशाल आसन पर महाराज शुद्धोदन और देवि महामाया बैठी हैं। उनके सिर पर रत्नों के अत्यंत कलापूर्ण मुकुट हैं। उनकी गोद में एक छोटा सा शिशु एक खिलौने से खेल रहा है। उनके पीछे चंवर धारिणी परिचारिकायें खड़ी हैं। उनमें से एक के हाथ में तोता और एक फल है। पीछे भी कई दासियाँ खड़ी हैं। ऊपरी भाग में एक अन्य छोटा सा पाषाण-चित्र है। इसमें ऋषि असित शिशु सिद्धार्थ को लिए बैठे हैं। दूसरी ओर की कोठरी में दो प्रतिमायें खड़ी हैं। अलंकार, वेष-भूषा व आकृति से वे सम्भ्रांत वर्ग के व्यक्ति जान पड़ते हैं। उनके हाथ में कोई गोलाकार वस्तु है।

इस गुफा के बरामदे में भी चित्र बने हैं। वे बाहर रहने पर भी मिटे नहीं हैं। कला-समीक्षक ग्रिफिथ साहब ने इनके सम्बन्ध में लिखा है—

"The little that remains of the painting in the verandah of this cave is enough to show that it was of a very high order as regards design, drawing and colour. Taking in to consideration the fact that whole of the verandah is exposed to all changes of weather, from the extreme moisture of the monsoon to the intense dry heat of the hot season with its accompanying hot winds, it is remarkable how well the colours have stood this trying ordeal. The blues are as vivid now as they were the day they were put on."

दूसरी गुफा का बरामदा चित्रों से भरा हुआ है। इनमें कहीं कोई अर्हत आकाश-पथ पर विचरण करता हुआ दिखाई देता है तो कहीं कोई किन्नर जिसका आधा शरीर मनुष्य का तथा आधा पक्षी का है, वंशी के स्वर फूंकता दिखाई

देता है। आकाशचारी गन्धर्व और उनकी अप्सराओं को भी आंका गया है। गन्धर्व और अप्सराओं का वर्णन प्राचीन वाङ्मय में प्राप्त होता है और कला में भी उन्हें अनेक स्थानों पर आंका गया है। गन्धर्व और अप्सराओं का वर्णन ऋग्वेद से ही प्राप्त होने लगता है। ऋग्वेद में पंच जनाः अथवा पाँच जातियों का उल्लेख आता है। श्री यास्काचार्य ने अपने निरुक्त में इस शब्द को स्पष्ट कर दिया है। इन पांच जातियों में देवगण, पितृगण, असुरगण आदि के साथ गन्धर्व भी आते हैं। अप्सराओं को गन्धर्वों की पत्नियाँ माना गया है। पुरूरवा के साथ उर्वशी का प्रेम-सम्बन्ध ऋग्वेद में आता ही है। अप्सरायें नृत्य में बड़ी प्रवीण होती थीं। वैदिक ऋषि उनसे प्रार्थना करता था कि वे उसके पांसे के चारो ओर नृत्य करती रहें और विपक्षी हार जाय। पुराण-साहित्य में अप्सराओं को इन्द्र की सभा में नृत्य करने वाली कहा गया है।

भारहुत के शिल्प में अप्सराओं और उनके नृत्य दृश्य का वर्णन किया जा चुका है। सांची के अर्धचित्रों में भी इन्द्र की सभा में नृत्य करती हुई अप्सरा दिखाई देती है। अजंता में गन्धर्व और अप्सरा दोनों का चित्रांकन अनेक स्थानों पर हुआ है।

विषय-वस्तु और कथा की दृष्टि से अजंता के चित्रों को कई प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है। इनमें सबसे पहिली श्रेणी में भगवान तथागत की जीवन-गाथा के अंशों का समावेश हो सकता है। भगवान का जन्म, महाभिनिष्क्रमण, मार विजय, सम्बोधि, धर्मचक्र-प्रवर्तन के साथ वरद, अभय और भूमि-स्पर्श मुद्रा में उनका अंकन भी इसी श्रेणी में आ जाता है। इस श्रेणी को भी दो प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है। एक वह जिसमें वर्णनात्मकता ही प्राधान्य ले लेती है जैसे जन्म अथवा महाभिनिष्क्रमण के दृश्य और दूसरे वह जिनमें कलाकार का ध्यान एक व्यक्ति अथवा भगवान बुद्ध पर केन्द्रित हो जाता है। कलाकार की दृष्टि बहिर्मुखी न रहकर अन्तर्मुखी हो जाती है और वह विश्व-करुणा, चिंतन व तप की गरिमा को प्रतिमा अथवा चित्र के माध्यम से उतार देना चाहता है। विभिन्न मुद्राओं में भगवान के चित्र तथा पद्मपाणि बोधिसत्व और वज्रपाणि भी इसी के अन्तर्गत आ जाते हैं।

दूसरे प्रकार में भगवान बुद्ध की पूर्व-जन्म की जातक कथाओं को लिया जा सकता है। इनके अंकन के समय कलाकार की दृष्टि समकालीन समाज, राज सभाओं, नगर तथा उद्यान के दृश्य आदि की ओर घूम जाती है। यों तो जातक-कथायें बौद्धों के धार्मिक साहित्य का ही एक प्रमुख अंग है किन्तु इनके

रेखांकन के समय चित्रकार का दृष्टिकोण धार्मिक नहीं रह पाता। वह एक ही जातक की कई घटनाओं को इस प्रकार आंक देता है कि दो-तीन अथवा चार दृश्यों में ही पूरी कथावस्तु का समावेश भी हो जाय और कथा का चरम-विन्दु 'क्लामैक्स' भी दिखाई दे। उस समय वह एक नाटककार की भांति रहता है, जो तीन अंकों में ही सम्पूर्ण जीवन गाथा को चरित्र-चित्रण के साथ दिखा देता है। इस प्रकार के जातकों में महा जनक, शिवि, वैसन्तर, हंस, शंखपाल, चाम्पेय आदि अजंता के भित्तिचित्रों में अंकित हुए हैं। जैसा कि हम कह चुके हैं, इन्हें आंकते समय चित्रकार इनकी कथावस्तु की ओर ध्यान तो देता ही है किन्तु उसकी कला की कसौटी वे भाव रहते हैं, जिन्हें वह विभिन्न स्थितियों में भिन्न-भिन्न पात्रों के मुख पर अथवा मुद्राओं द्वारा उतारता है। रंगमंच पर वातावरण की सृष्टि करने के लिए पर्दे व पात्रों की वेशभूषा आदि का महत्व तो है, किन्तु नाटक की सफलता पात्र के अभिनय पर निर्भर रहती है। यही बात इस कलाकार और उसकी कला पर भी लागू होती है। अजंता का चित्रकार इसमें अत्यंत कुशल है। दूसरी गुफा में ही एक अंकन है जिसमें एक वृद्ध दूत किसी राजा के पास कोई अमंगलकारी समाचार लेकर आता है, सम्भवतः उसके जल-पोत सागर में डूब गये हैं। चित्रकार ने जिन भावों को केवल कुछ रेखाओं के माध्यम से उतार दिया है, मेरा विश्वास है कि उन्हें किसी भाषा के कोई शब्द उतनी सफलता के साथ व्यक्त कर सकने में असमर्थ होंगे। एक वृद्ध पुरुष खम्भे के सहारे टिका खड़ा है। उसके मुख पर एक गहरी चिंता, वैसे ही उतर आई है जैसे अंधकारमयी रजनी भू पर उतर आती है। उसकी आँखों में निराशा भर गई है। ओंठ विकृत हो गये हैं। वह एक छड़ी का सहारा लिए खड़ा है। छड़ी पर हथेली है और उस पर ठोढ़ी टिकी है। दूसरे हाथ की उंगलियाँ और उसकी मुद्रा देखने ही योग्य हैं। हाथ की यह मुद्रा ही कह देती है कि 'अब क्या शेष बचा है। सब कुछ तो समाप्त हो गया।' मैं नहीं समझता कि निराशा की भावना को व्यक्त करनेवाला ऐसा चित्रण विश्व की कला में कहीं अन्यत्र प्राप्त हो सकेगा। श्री मुकुल दे ने इसे देखकर लिखा है।

"The messenger is an old man, calm and self-possessed, but expressing, through his troubled eyes, the hopelessness of the situation and through the outspread palm, the abandonment of all hope. The line drawing and painting of this figure is simply marvellous."

अजंता की दूसरी गुफा में ही किसी अन्य जातक का एक दृश्य है। चित्र में मानो करुणा मूर्तिमती है। एक राजा नंगी तलवार लिए हुए आसन पर बैठा है।

राजा क्रोध के आवेश में है। वह अपना एक हाथ जंघा पर रक्खे है और दूसरे हाथ में तलवार उठाये है, मानो प्रहार करना चाहता हो। उसके चरणों पर नारी-मूर्ति झुकी हुई है। उसका मुख मिट गया है किन्तु उसकी मुद्राओं से जान पड़ता है कि अत्यंत भयभीत होकर राजा के चरणों पर गिर पड़ी है। राजा के पैरों की उंगलियाँ सिकुड़ सी गई हैं, मानो वह उन्हें हटा लेना चाहता है। वेश-भूषा आदि से यह नारी कोई दासी अथवा नर्तकी जान पड़ती है। उसने अधीरता से राजा का एक चरण पकड़ लिया है। राजा के बाईं ओर उसकी रानी बैठी है। उसके निकट ही उसकी दासी है। रानी की कमर में मेखला, हाथों में कंकण और गले में मालायें हैं। रानी अवाक् होकर यह दृश्य देख रही है। उसके निकट बैठी हुई दासी हथेली पर मुँह टिकाये हुये किसी गहरी चिंता में डूबी हुई जान पड़ती है। राजा का अंग-प्रत्यंग क्रोध में फड़कता हुआ सा जान पड़ता है। दुर्भाग्यवश इस चित्र में राजा के मुख का भाग नष्ट हो गया है। उसके दाहिनी ओर एक अन्य नर्तकी अथवा दासी दोनों हाथ जोड़े हुए क्षमा-याचना करती हुई दिखाई देती है। यह किस जातक का अंश है, इसका पता नहीं चला किन्तु भावाभिव्यक्ति के दृष्टि से यह चित्र अजंता की सर्वोत्कृष्ट कला-कृतियों में से एक है। जातक-कथाओं का उद्देश्य लोक-जीवन का चित्रण है और उसकी पार्श्व-भूमि पर कलाकार प्रकृति के दृश्यों को भी अंकित करता है। वह भाँति-भाँति के वृक्ष, बल्लरियाँ, पशु और पक्षी सब कुछ आंकता है। जातकों में पशुओं और पक्षियों में भी बोधिसत्व अवतीर्ण हुये हैं और उन्होंने लोक-कल्याण के लिए अपने शरीर तक को निछावर किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान बुद्ध अपनी करुणा, मैत्री, अहिंसा और दया को केवल मानव-समाज तक सीमित नहीं रखना चाहते थे। जिसने भी गुणों को वरण किया, वही बोधिसत्व बन गया। जातकों में पशु, पक्षी और नाग आदि की कथायें हैं। वे सब कला के लोक में भी आईं। चित्रकार को उससे एक बड़ी चीज मिली। उसे एक ऐसा माध्यम मिला जिसके द्वारा वह पशु और पक्षियों आदि के जीवन का अध्ययन प्रस्तुत कर सकता था। उसने इस माध्यम को अपनाया और उनकी विभिन्न भाव-भावमयी मुद्रायें अंकित कीं।

अजंता के चित्रों के तीसरे प्रकार में नाग, यक्ष, गन्धर्व, विद्याधर, किन्नर, राक्षस और देवगण रक्खे जा सकते हैं। इनमें से कुछ की आकृतियाँ मनुष्यों जैसी ही आंकी जाती हैं और कुछ उनसे भिन्न रहती हैं। धार्मिक [illegible] में इनका जो स्वरूप दिखाई देता है उसी के आधार पर इनका चित्रांकन [illegible] के किसे चित्र [illegible] से [illegible], यह भी शिल्प के ग्रंथों में,



नागराज–अजंता



भगवान बुद्ध की एक मुद्रा-अजंता

विशेषतः विष्णु धर्मोत्तरम् में बतला दिया गया है। देवताओं का रंग उज्ज्वल गौर होता है। उसमें एक चमक रहती है। नागराज वासुकि का रंग गहरा श्याम आंका जाता है और द्वापर युग में नाग का वर्ण श्वेत अंकित होता है। दैत्य, दानव, राक्षस, गुहृचक और पिशाच का रंग पानी के रंग जैसा किन्तु निष्प्रभ रहता है। मनुष्यों में उत्तरापथ के निवासियों का रंग गोरा और दक्षिणापत्य के लोगों का श्याम आंकना चाहिए।

विष्णु धर्मोत्तरम् बौद्ध ग्रंथ नहीं है, वह विष्णु पुराण का एक खंड है किन्तु इस प्रकार के नियमों को बौद्ध और हिन्दू दोनों ही कलाकार मानते होंगे। उसमें विभिन्न वर्णों के लोगों के लिए भी विभिन्न रंगों का निर्देश किया गया है। द्विजों का वर्ण शुभ्र चन्द्र की भाँति हो। क्षत्रिय श्वेत पद्म के वर्ण के हों। वैश्य गेहुंआ रंग में आंके जावें और शूद्र काले रंग में। दुष्कृत्य करनेवाले व्यक्तियों को भी श्याम रंग में ही अंकित करना चाहिए। गन्धर्व और अप्सरायें विभिन्न रंगों में आंकी जावें और राजा तथा सभ्रान्त वर्ग के लोग पद्म के से श्वेत रंग में।

अजंता के चित्रों में मनुष्यों, देवगण, गन्धर्व व यक्ष आदि को विभिन्न रंगों में अंकित देखकर दर्शक को और विशेषतः विदेशियों को विचित्रता और अस्वाभाविकता लगती है किन्तु यह समस्त शिल्प-शास्त्र के नियमों पर आधारित हैं। किस भावना या व्यक्तित्व की किस रंग के द्वारा अधिक सफल अभिव्यक्ति हो सकती है, इसका ध्यान रखकर ही प्राचीन भारत के शिल्पाचार्यों ने इन ग्रंथों का प्रणयन किया था। वर्ण के अतिरिक्त पात्र की वेश-भूषा भी उसके सामाजिक स्तर के अनुरूप रहती है।

चौथे प्रकार में अलंकरणों को लिया जा सकता है। यह केवल शोभा के लिए रिक्त स्थान में बनाये जाते हैं। अजंता में इन अलंकरणों की बहुतायत दिखाई देती है। जातक-कथायें और भगवान बुद्ध की जीवन-गाथा भित्तियों पर अंकित की गई है और अलंकरण विशेषतया छत पर है। पहिली गुफा की छत पर बीच में एक विशाल कमल है। वह एक गोल आकार में है और उसके बाहर एक-दूसरे से बड़े कई गोलाकार बनते चले गये हैं। खिले हुये कमल पुष्पों, कलियों और दलों के अलंकरण से बेलों को भर दिया गया है। इनमें बीच-बीच में हंस भी दिखाई देते हैं। कमल भारतीय कलाकार का प्रिय पुष्प है और वह अत्यंत प्राचीन काल से भारतीय कला को अपने विविध रूपों से भरता चला आ रहा है। छत पर ही स्वस्तिक की बेलों के बीच में चौखूटे कटाव हैं। इनमें भी कमलों के विविध प्रकार के अलंकरण हैं। इनमें कमलों के वनों में हाथी विहार करते हुये दिखाये गये हैं। भारत सरकार ने अपने एक टिकट में इसी अलंकरण को स्थान दिया है। कहीं हंसों के जोड़े चोंच मिलाये दिखाई देते हैं

तो कहीं दो बौने अथवा मिथुन। डा. वासुदेव शरण जी अग्रवाल ने अलंकरणों के सम्बन्ध में लिखा है—

"गुप्तकालीन शिल्प और चित्र अलंकरणों के भण्डार हैं। भाँति-भाँति की उकेरी और सजावट शिल्प-कृतियों को अनूठी शोभा प्रदान करती है। देव-मन्दिरों की द्वारों पर सुहावने अंकन की प्रधानता पाई जाती है। खम्भों में प्रतिहारियों के रूप में सुन्दर नर-नारी अंकित किये गये हैं। पूर्ण कुम्भ, मिथुन, प्रमथ, गंगा-यमुना की मूर्तियाँ, श्री वृक्ष, मांगल्य-विहग द्वार के शाखा-स्तम्भों की शोभा है। कमल की नाल चोंच में पकड़े हुए हंसों के जोड़े गुप्त-कला का प्रिय अलंकरण हैं। इसी प्रकार शंख और पद्म के सुन्दर अभिप्राय गुप्तकालीन मन्दिरों और घरों पर उत्कीर्ण किये जाते थे।"

दूसरी गुफा के भित्ति-चित्रों में कुछ और भी अत्यंत उत्कृष्ट चित्र हैं। इनमें से एक में सहस्र बुद्ध अंकित किये हैं मानों बुद्धों का लोक ही आंक दिया गया हो। कहीं भगवान बुद्ध के भूमि पर अवतीर्ण होने का दृश्य है। इसमें भी माता महामाया शाल वृक्ष की टहनी पकड़ने के लिए एक हाथ उठाये हैं। शिशु को एक देव पुरुष अपनी गोद में लिए हुये खड़ा है। महामाया के निकट ही दासियाँ खड़ी हैं। एक परिचारिका शिशु के निकट चंवर लिए खड़ी दिखाई देती है। उनके ऊपर छत्र भी तना है।

एक अन्य दृश्य में कमलों से भरे हुए सरोवर में कुछ शिकारी घुसे हैं। दो हंस उनके निकट आ गये हैं और उनसे वार्तालाप करते हुए जान पड़ते हैं।

हम कह चुके हैं कि चौदहवीं, पन्द्रहवीं, सोलहवीं, सत्रहवीं, अठारहवीं और उन्नीसवीं गुफायें एक-दूसरे से मिली हुई, पास-पास काटी गई हैं। इनमें से तेरह, चौदह और पन्द्रहवीं गुफा विहार हैं। इनमें से किसी में भी अब चित्र नहीं हैं। सोलहवीं गुफा भी एक विहार है किन्तु इसमें कुछ चित्र अभी तक शेष हैं। यों इसके अधिकांश चित्र मिट चुके हैं। बाहर के बरामदे की छत पर भी थोड़ा बहुत अलंकरण शेष रह गया है। बरामदे के खम्भों के ऊपर के भाग में एक भिक्षु सोता हुआ दिखाई देता है। एक वन्य पशु उसके पैरों के निकट बैठा हुआ उसके तलुये चाट रहा है। उसके दाहिनी ओर के एक चित्र में भिक्षु बैठा हुआ दिखाई देता है। दो पुरुष उसके निकट खड़े हैं। वन्य पशु एक ओर से आता हुआ दिखाई देता है। सम्भव है कि यह किसी जातक का ही अंश हो। एक ओर भगवान बुद्ध वज्रासन पर बैठे हुए दिखाई देते हैं।

सोलहवीं गुफा का सबसे सुन्दर चित्र 'राजकुमारी के अंतिम क्षण' है। इस चित्र की विश्व के कला-समीक्षकों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है और इसकी गणना

विश्व की सर्वोत्तम कला-कृतियों में की जाती है। वी. ए. स्मिथ जैसे इतिहासकारों को भी अपने कला के इतिहास, 'हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्टस इन इंडिया एन्ड सिलोन' में इसकी मुक्त कंठ से सराहना करनी पड़ी है। ग्रिफिथ साहब ने इसके लिए लिखा है—

"For pathos and sentiment and the unmistakeable way of telling its story in picture, I consider, cannot be surpassed in the history of art. The Florentine could have put better drawing, and the Venetion better colour, but neither could have thrown greater expression into it."

इस चित्र में एक राजकुमारी बेसुध होकर तकिये के सहारे टिकी है। उसकी आँखें अधमुंदी हैं। सिर एक ओर झुका सा पड़ता है। ओंठ पीले पड़ गए हैं। मुख की कांति निष्प्रभ है। वह जिस मसनद का सहारा लिए है, उसके पीछे एक दासी शोकाकुल खड़ी है। वह उसे पकड़े हुए है कि कहीं गिर न जाये। एक दूसरी स्त्री उसका हाथ पकड़े हुए नाड़ी देख रही है। रानी पर एक दासी पंखा कर रही है। शय्या के निकट ही कुछ स्त्रियाँ बैठी हुई रो रही हैं। राजकुमारी की शैया के निकट दो सेवक हैं। उनके मुख पर भी गहरे दुःख की भावना दिखाई देती हैं। उनके नेत्र भर आये हैं। इसके साथ के दृश्य में दो दासियाँ दिखाई दे रही हैं। उनमें से एक जल-पात्र लिए है और दूसरी उससे कुछ कह रही है। उनकी मुद्रा शोकपूर्ण है। ऐसा लगता है कि एक दूसरी से कह रही है, 'अब क्या बचा है?' बाहर की ओर एक पुरुष औषधि तैयार करता हुआ दिखाई देता है। एक सेवक उसके निकट खड़ा है।

कुछ समीक्षकों की राय में यह चित्र छदंत जातक का है। चित्र के रंग, भाव-व्यजंना और वातावरण से एक गहरा विषाद झलक रहा है। इस विहार में और भी ऐसे अनेक चित्र हैं जिन्हें अत्यंत उत्कृष्ट कला-कृतियाँ माना जाता है। उनमें तीन बुद्ध, सोती हुई रमणी आदि की गणना की जाती है। बोस्टन संग्रहालय में एक भित्ति-चित्र का टुकड़ा है। जब इन चित्रों की सुरक्षा का कोई कड़ा प्रबन्ध न था तब यहाँ रहने वाले मुंशी विदेशियों से नजराने लिया करते थे और चित्रों के अंश काटकर उन्हें दे देते थे। ललित-कला की चिर-उपेक्षा से जनता की सौन्दर्य-दृष्टि धूमिल पड़ जाना स्वाभाविक है। वह उनका मूल्यांकन करने में असमर्थ हो जाती है। आज भी जब किसी आदमी को कहीं पुराने सिक्के मिल जाते हैं और किसी को उनकी जानकारी नहीं हो पाती तो वह उन्हें गलाकर सोना अथवा चांदी बना लेना ही पसन्द करता है।

उसे न इसका ज्ञान है और न आभास ही कि इस प्रकार वह अपने राष्ट्र का कितना घोर अहित कर रहा है? उसके इस कुकृत्य से इतिहास की कितनी हानि होती है? जन-सामान्य में एक चेतना जाग्रत हुये बिना यह संस्कार-दारिद्र मिट नहीं सकेगा। यह चेतना बड़े-बड़े अंगरेजी ग्रंथों से जाग्रत नहीं होगी इसके लिए तो हमें जनता की भाषा में पुस्तकें तैयार करनी होगीं और उनका प्रचार व प्रसार करना पड़ेगा। शिक्षा में कला और संस्कृति को एक आवश्यक स्थान देना होगा।

अजंता की सत्रहवीं गुफा वास्तु-शैली में सोलहवीं गुफा जैसी ही है। यह दोनों गुफायें एक ही काल अर्थात् ५०० ईसवी में बनी हैं। इस के बरामदे में एक प्राचीन शिला लेख भी है जिससे पता लगता है कि यह किसी धृतराष्ट्र और उसके वंशज हरि शाम्ब, क्षितिपाल व उपेन्द्र गुप्त आदि के शासन-काल में पूर्ण हुईं। सम्भव है कि यह इसी जनपद के छोटे-छोटे राजा लोग हों। वस्तुतः यह गुफायें चन्द्र गुप्त द्वितीय के समय में बनी हैं।

चित्रों का जितना भंडार सत्रहवीं गुफा में है, उतना अजंता की किसी गुफा में नहीं है। इस कला-मंडप में लगभग साठ चित्र हैं। सभी अपने ढंग की अनूठी कृतियाँ हैं और चित्रकारों की प्रतिभा और कल्पना का परिचय देती हैं। इस चित्र-लोक का पूरा वर्णन सम्भव नहीं है। 'भगवान का कपिलवस्तु में प्रत्यागमन, सात बुद्ध, भगवान बुद्ध का राज-सभा में उपदेश, राजकुमार विजय की सेना का जल-पोतों पर से भूमि पर उतरना, अभिषेक का दृश्य और गन्धर्व तथा अप्सरायें,' चित्रों की देश और विदेश के सभी कला-समीक्षकों ने सराहना की है और चित्र-विधान की दृष्टि से उन्हें अत्यंत सफल अंकन कहा है। इसके अतिरिक्त महा हंस, रुरु, छदन्त, वैसंतर आदि जातकों के दृश्य भी अंकित हुए हैं।

सामने के बरामदे में छे अठपहलू खम्भे हैं, जिन पर अलंकरण नहीं दिखाई देता। बरामदा भी अनेक चित्रों से भरा हुआ था किन्तु नीचे के चित्र नष्ट अथवा विकृत कर दिये गए हैं। मुख्य द्वार के ऊपर एक भित्ति-चित्र में आठ बुद्ध तपश्चर्या करते हुए दिखाई देते हैं। उनकी मुद्रायें अभय, भूमि-स्पर्श और धर्म-चक्र प्रवंतन आदि हैं। उनके पीछे अश्वस्थ, उदुम्बर आदि के वे वृक्ष हैं, जिनके नीचे उन्होंने सम्बोधि प्राप्त की थी। इनमें से सात बुद्ध हैं और आठवां चित्र मैत्रेय का है, जिन्हें आठवां बुद्ध माना जाता है। बरामदे के द्वार के ऊपर और इन बुद्धों के नीचे सहज सुन्दरता से पूर्ण एक परिवारिक चित्र है। एक युवक अपनी पत्नी को बड़े स्नेह के साथ तश्तरी में पुष्प रखकर दे रहा है। दोनों के मुखों पर प्रेम की स्निग्धता दिखाई देती है, जिसमें वासना की गन्ध भी

नहीं है। अजंता में केवल आध्यात्मिकता ही नहीं सांसारिकता का भी चित्रण किया गया है किन्तु उसे पवित्रता के एक ऊँचे आसन पर प्रतिष्ठित कर दिया गया है। अजंता की यह एक विशेषता है। यहाँ की स्त्रियों के शरीर के ऊपर का भाग वस्त्र-विहीन आंका गया है। सम्भव है कि दक्षिणापत्य में उन दिनों यही वेश-भूषा प्रचलित हो, किन्तु उन्हें देखकर मन में किसी प्रकार की वासना नहीं जगती। इसका कारण वह चिंतन और दिव्याभा है जो उनके मुख पर दिखाई देती है। इन कृतियों में सांसारिकता के साथ परमार्थ का अनुपम समन्वय हुआ है और उससे इनमें एक प्रकार का संतुलन आ गया है। यह तत्व, पुरी के मध्यकालीन मन्दिर पर उत्कीर्ण शिल्प-कृतियों में नहीं दिखाई देता और इसी कारण वह हमें अश्लील और कामुक प्रतीत होती हैं।

बरामदे में लगभग ग्यारह, बारह चित्र हैं जिनमें कहीं जल-देवियाँ मकरों पर खड़ी हुई दिखाई देती हैं। गुप्त युग के ब्राह्मण-शिल्प में द्वार के दोनों ओर गंगा और यमुना मकरों पर खड़ी हुई दिखाई जाती थीं। चित्र की शैली एक ही रहती है और उसके अभिप्रायों में भी कहीं कहीं समानता की झलक दिखाई दे जाती है।

गुफा के समस्त चित्रों में सबसे उत्कृष्ट कृति है 'भगवान बुद्ध का प्रत्यागमन'। भगवान एक प्रफुल्लित पद्म पर खड़े हैं। चित्र के नीचे का भाग मिट सा गया है। भगवान बुद्ध की आकृति बहुत विशाल आंकी गई है। पीले चीवर में सारा शरीर ढंका है, केवल दो हाथ बाहर निकले हैं, जिनमें से एक में भिक्षा-पात्र है और दूसरे में वे अपने वस्त्र का एक छोर पकड़े हैं। वे देवि यशोधरा के द्वार पर खड़े हैं। गोपा के नेत्रों में करुणा का अपार सागर लहरा रहा है। उनके निकट ही शिशु राहुल खड़ा है। वह भोला शिशु सहमा हुआ सा है। राहुल के दोनों हाथ फैले हैं. मानो वह अपने पिता से अपना दाय मांग रहा हो। राहुल-जननी के नेत्रों से अश्रुधारा बहना ही चाहती है किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि वे उसे रोक रही हैं। वे अपने स्वामी के विराट-रूप को देख रही हैं। कलाकार की मनोविज्ञान की गहरी पैठ कर हम दंग रह जाते हैं। घर छोड़कर दूर देश जाने वाला जब फिर अपने घर लौट कर आता है, तब लोगों में यह उत्सुकता जगती है कि वह क्या लेकर आया है, समृद्धि, यश? भगवान बुद्ध आपने व्यक्तित्व को महानता प्रदान कर घर लौटे हैं। धन और ऐश्वर्य को तिलांजलि देकर तो वे गये ही थे। उसका विशाल आकार उनकी इसी महानता का द्योतक है। देवि यशोधरा की सहज करुणा का स्रोत बहना चाहता है किन्तु भगवान की गरिमा को देखकर वह रुक जाता है और

उनकी दृष्टि उसी पर केन्द्रित हो जाती है। भगवान के ऊपर एक विद्याधर छत्र ताने हुए है। छत्र में फूलों की मालायें लटक रही हैं।

देश के सुपरिचित कलाकार श्री मुकुल दे ने इस चित्र की एक सुन्दर अनुकृति तैयार की थी जो ब्रिटिश म्यूजियम लन्दन में सुरक्षित है। उन्होंने इस चित्र के सम्बन्ध में लिखा है—

"This magnificent, colossal, original painting at Ajanta must be one of the most majestic and tender paintings in the world, showing intense love and spiritual devotion, and to many it will be a revelation of the heights which Indian art has attained."

इस चित्र के सम्बन्ध में महा योगी अरविन्द ने भी लिखा है—

"If we look long at the adoration group of the mother and child before the Buddha, one of the most profound, tender and noble of the Ajanta masterpieces, we shall find that the impression of intense religious feeling of adoration there is only the most outward general touch in the ensemble of the emotion. That which it deepens to is the turning of the soul of humanity in love to the benignant and calm Ineffable which has made itself sensible and human to us in the universal compassion of the Buddha, and the motive of the soul moment the painting interprets is the dedication of the awakening mind of the child, the coming younger humanity, to that in which already the the soul of the mother has learned to find and fix its spiritual joy. The eyes, brows, lips, face, poise of the head of the woman are filled with this spiritual emotion which is a continued memory and possession of the psychical release, the steady settled calm of the heart's experience filled with an ineffable tenderness, the familiar depths which are yet moved with the wonder and always farther appeal of something that is infinite, the body and other limbs are grave masses of this emotion and in their poise a basic embodiment of it, while the hands prolong it in the dedicative putting forward of her child to meet the Eternal."

एक अन्य दृश्य में राजकुमार विजय के लंका-प्रवेश की घटना आंकी गई है। यह चित्र बहुत विशाल है और इसमें अनेक मनुष्यों और पशुओं की आकृतियों का समावेश हुआ है। सम्पूर्ण घटना को चार दृश्यों में बांट दिया

गया है। पहले दृश्य में राजकुमार के जल-पोत सागर के तट पर आकर रुक गये हैं। उनमें से एक में सजे हुये हाथी और दूसरे में घोड़े दिखाई दे रहे हैं। पशुओं की आकृतियाँ अत्यंत सजीव हैं। वे भूमि पर उतरने के लिए आकुल जान पड़ते हैं। घोड़े मुड़-मुड़ कर एक दूसरे को देख रहे हैं। उनके ऊपर आरोही हैं। उनके हाथों में ध्वजायें हैं। जिस समय सेना प्रयाण करती थी, उस समय अश्वारोही उसके आगे ध्वजा व पताकायें लिये चला करते थे। राजा के जुलूसों के दृश्यों में भी अश्वारोही सबसे आगे दिखाई देते थे। हाथियों में से एक पर झूल है और दो पर हौदे रक्खे हुए हैं। सबसे बड़े हाथी पर स्वयं राजकुमार विजय बैठे हुये, तट पर खड़ी हुई शत्रुओं की सेना पर वाण-वर्षा कर रहे हैं। राजकुमार के सिर पर स्वर्ण-मुकुट है और छत्र तना हुआ है। पीछे सेवक बैठे हैं। वे ध्वजायें लिये हैं, जो फहर रही हैं। दूसरे हाथी पर उनके सेना-नायक बैठे हुए हैं। हाथियों के पीछे सागर के तट पर ही सैनिकों की टोली है। सैनिक घुटनों तक का वस्त्र पहने दिखाई देते हैं। उनके हाथों में ढाल और भाले हैं। उन दिनों युद्धों में भालों का ही अधिक प्रचलन था क्योंकि दसवीं गुफा में भी सैनिक भालों से ही सज्जित दिखाई देते हैं।

सामने तट पर, लंका के आदिम निवासियों और विजय की सेना के पैदल सिपाहियों में घोर युद्ध हो रहा है। मुगल चित्र शैली में तो युद्ध और शिकार के अनेक चित्र उपलब्ध होते हैं किन्तु प्राचीन भित्ति-चित्रों में इन दृश्यों का बहुत कम ही अंकन हुआ है। आदिम निवासी, जिनमें स्त्रियाँ भी हैं, बड़े वेग से भाले लिए हुये दौड़ रहे हैं। उनके बाल बिखरे हैं और आकृति से वे अत्यंत भयावह जान पड़ते हैं। पीछे के दृश्य में पर्वत-श्रेणियाँ दिखाई दे रही हैं। ऊपर की ओर के एक दृश्य में हाथियों पर बैठे हुए विजय व उनके सेनानी मुख्य तोरण से होकर लंका में प्रवेश कर रहे हैं। युद्ध के समय उसके मुख आवेश से तमतमा रहे थे। इस समय वे अत्यंत प्रसन्न जान पड़ते हैं। यद्यपि तोरण बहुत ऊँचा है फिर भी हाथी उसमें प्रवेश नहीं कर पा रहे इसलिये वे तनिक झुक गये हैं। राजा, उनके छत्र व ध्वजायें भी कुछ तिरछी हो गयी हैं। दृश्य में इससे बड़ी स्वाभाविकता आ गई है।

इसके ऊपर की ओर भी दो दृश्य आंके गये हैं। वे इस घटना से ही सम्बन्धित हैं। एक में अभिषेक का अश्व दिखाई दे रहा है। घोड़ा खाली है। उसके आगे-आगे एक पुरुष हाथ उठाकर घोषणा करता हुआ चल रहा है। उसके पीछे शस्त्रों से सज्जित सैनिकों की टोली चलती जा रही है। प्राचीन काल में राज्याभिषेक से पूर्व राजा का अश्व समस्त देश में घूमता था। घोड़े को

आगे जाने देने का अर्थ राजा का आधिपत्य स्वीकार कर लेना था। इस दृश्य में लोग घोड़े के हाथ जोड़ रहे हैं। उसके निकट ही एक दृश्य में राजकुमार विजय एक ऊँचे आसन पर बैठे हैं। दो पुरुष जल-कुम्भ लिए उनका अभिषेक करते हुए दिखाई दे रहे हैं। उनके सामने स्त्री और पुरुषों की दो टोलियाँ हैं जो गा-बजा रही हैं। इनमें से किसी के हाथ में ढोलक और किसी के पास मृदंग है। एक टोली की स्त्रियाँ मंजीरा बजा रही हैं। उनके साथ एक ढोलक बजानेवाला पुरुष भी है। ऐसा लगता है कि वह तन्मय हो उठा है। उसके हाथ की उंगलियाँ जिस ढंग से ढोलक पर पड़ती जा रही हैं, वह देखने ही योग्य है।

एक ही चित्र में इतनी अधिक आकृतियाँ आंकना और उन सबमें चित्र के कथानक के अनुरूप भावों का अंकन करना सरल कार्य नहीं है। सत्रहवीं गुफा में ऐसे ही और भी कई चित्र हैं। एक विशाल भित्ति-पट में एक आसन पर भगवान बुद्ध बैठे हुए उपदेश दे रहे हैं। दो स्त्रियाँ उन पर चंवर डुला रही हैं। उनके दोनों ओर उपासक गण घिरे हुए हैं; एक ओर राजा, उनकी रानियाँ व शेष परिवार के लोग हैं और दूसरी ओर नागरिक। राजाओं के पीछे उनके अमात्य गण हैं। उनके भी पीछे कुछ व्यक्ति घोड़ों पर बैठे हुए दिखाई देते हैं मानो कहीं जाते हुए अश्वारोही भगवान की अमृत-वाणी सुनने के लिए ठिठक गए हों। सब लोग बड़े एकाग्र चित्त से उनका प्रवचन सुन रहे हैं। वे हाथ जोड़े हुए हैं। दूसरी ओर नगर के लोग बैठे हैं। इनमें सभी जातियों के लोग हैं। यह उनकी वेश-भूषा आदि से जान पड़ता है। उनके पीछे भी अश्वारोही खड़े हैं। घोड़ों के पीछे हाथियों के समूह हैं। उन पर भी उपासक गण बैठे हुए हैं। वे श्रद्धावश भगवान बुद्ध के हाथ जोड़े हुए हैं। इस चित्र में बहुत सी आकृतियाँ हैं। उन सबके मुख पर शांति और एकाग्रता दिखाई दे रही है। किसी महापुरुष के आ जाने पर एक वातावरण बन जाता है। सब एकचित्त हो उसी की वाणी सुनने लगते हैं। एक ऐसा ही वातावरण इस चित्र को भी समेटे हुए है।

शायद ही ऐसा कोई विषय हो जिसे अजंता के चित्रकार की कल्पना न छू पाई हो। एक दृश्य में कई भिक्षुक राज-पुरुषों के पास गिड़गिड़ाते और दान माँगते दिखाई देते हैं। उनके दुर्बल शरीर, फटे हुए वस्त्र, बढ़े हुए बाल, और [illegible] उनकी दयनीयता आंकने में चित्रकारों ने कमाल किया है। ऐसा लगता है कि दारिद्र्य ही मूर्तिमान होकर सामने आ खड़ा हुआ है।

[illegible] कह चुके हैं कि अजंता की गुफा चित्रों का विशाल भंडार है।

इसमें से अनेक चित्र भारतीय कला रूपी मंजूषा की उज्ज्वल मणियाँ हैं जिनकी आभा पर उसे गर्व होना स्वाभाविक है। इन्हीं चित्रों में से एक 'आकाशचारी गन्धर्व और अप्सरायें' भी है। संगीत की धारा में बहता हुआ गन्धर्व आकाश-पथ से जा रहा है। वह हाथ उठाकर किसी गीत को अलाप रहा है और अपने स्वर में वह स्वयं भी डूब गया है। उसके शरीर का भंग अत्यंत मोहक है। गन्धर्व के सिर पर अलंकरणों से युक्त मुकुट है। उसके पीछे मेघ उड़ते हुए दिखाई देते हैं। उनकी पार्श्वभूमि से उसका स्वरूप और भी निखर उठा है। चित्र के रंग भी बोल से उठे हैं। उसके साथ अप्सरायें हैं। वे भी गगन में विचरण कर रही हैं।

सत्रहवीं गुफा में अनेक जातक भी आंके गए हैं। इनमें वैसन्तर जातक, छदंत जातक, व शिवि जातक आदि हैं। गज जातक में हाथी के मनोभाव का जैसा चित्रण किया गया है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं दिखाई देता। इस जातक में एक बार बोधिसत्व ने हाथी के यहाँ जन्म लिया। वे अत्यंत सुन्दर थे और उनका आकार भी विशाल था। उनके माता-पिता अत्यंत वृद्ध थे। बोधिसत्व उनकी सेवा किया करते थे। एक बार बोधिसत्व को एक राजा ने पकड़वा लिया किन्तु जब उसे उनके गुणों का परिचय मिला तो तुरंत ही छोड़ दिया।

गज जातक को तीन दृश्यों में आंका गया है। एक में राजा के सेवक एक हाथी को रस्सियों से जकड़ कर लिए जा रहे हैं। शिकारियों ने उसे घेर लिया है। एक शिकारी उसके भाला चुभो रहा है। बेचारा हाथी सिर झुकाये हुए चलता जा रहा है। वह अत्यंत दुःखी जान पड़ता है। उसकी दशा उस निरपराधी जैसी हो रही है जिस पर मिथ्या आरोप लगाकर हाथ-पांवों में हथकड़ियाँ-बेड़ियाँ डालकर बाजार के बीच में से ले जाया जाय। दूसरे दृश्य में राजा ने उसे मुक्त कर दिया है और वह अपने घर वापस लौट रहा है। वह अत्यधिक प्रसन्न जान पड़ता है। वह उन माता-पिता के पास फिर जा रहा है जो उसके वियोग में रो रोकर अंधे हो गये हैं। हाथी अनेक आभूषणों से सजा हुआ है, जो उसे राजा ने उपहार में दिए हैं। उसके आगे-आगे अश्वारोही चल रहे हैं और पीछे सेवक हैं, मानो कोई राजा जा रहा हो। तीसरे दृश्य में वह अपने वृद्ध माता-पिता की जो अत्यंत दुर्बल जान पड़ते हैं, फूल चढ़ाकर पूजा कर रहा है। चित्र में एक ऐसी करुण लय है, जो हृदय को द्रवित कर देती है। पशुओं की मनोभावना का जैसा सफल अंकन अजंता के चित्रकारों ने किया है वैसा विश्व की कला में कहीं नहीं दिखाई देता। सत्रहवीं गुफा के ही एक अन्य दृश्य में आखेट की घटना आंकी गई है। इसमें हिरण भयभीत होकर

भाग रहे हैं। वे मुड़-मुड़ कर पीछे देख रहे हैं। सशंकित हिरनों पर शिकारी कुत्ते लपक रहे हैं। एक हिरण को पकड़ कर गाड़ी में जकड़ दिया गया है। वह छटपटा रहा है।

सत्रहवीं गुफा के अधिकांश चित्र वर्णनात्मक हैं। यदि अजंता की सभी गुफायें की चित्र-समृद्धि आज ज्यों की त्यों होती तो चित्रकला के क्रमिक विकास का अध्ययन प्रस्तुत कर सकना अपेक्षाकृत सरल हो जाता किन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा नहीं है। बचे हुए भित्ति-चित्रों से आभास-मात्र सम्भव है। नवीं और दसवीं गुफा के चित्र ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों के हैं और उन पर शुंग-कला का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। सोलहवीं और सत्रहवीं गुफाओं के चित्र सन् ५०० ईसवी के लगभग के हैं। पहिली और दूसरी गुफा इसके लगभग सौ वर्ष पश्चात् की हैं। फर्गुसन साहब ने इनका काल सातवीं अथवा आठवीं शताब्दी माना है। उनके मत के अनुसार यह चालुक्यों के शासन के प्रारम्भिक काल में आंके गए हैं। वस्तुतः यह चित्र सातवीं के प्रारम्भ अथवा छठी शताब्दी के अंतिम काल के हैं। इन में गुप्त कला का प्रभाव ही नहीं, उसका चरम-बिन्दु दिखाई देता है। सोलहवीं और सत्रहवीं गुफा के चित्र वर्णनात्मक हैं। उनमें अधिक आकृतियों का समावेश हुआ है। चित्रकार का ध्यान कथा के दृश्यों के चित्रण पर जितना अधिक है उतना प्रत्येक पात्र के मुख के भावों के अंकन की ओर नहीं है। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि उन पर दृश्य के अनुकूल भावों का अंकन नहीं है। मेरे कथन का अर्थ केवल यही है कि उसका यह पक्ष उतना सबल नहीं है जितना पहिली या दूसरी गुफाओं के चित्रकार का है। इसका भी एक कारण है। भारत का शिल्पी प्रारम्भ से कथाकार रहा है और उसने भारहुत, सांची, अमरावती आदि में जीवन-गाथाओं को ही अंकित किया है। यह एक जल-धारा है जो बहती चली जा रही है। केवल उसके बहाव में अन्तर हो जाता है। अजंता के चित्रकार ने भी उसी धारा को ग्रहण किया। कला की यह अजस्र धारा उसकी एक विशेषता है, कोई दोष नहीं। गुप्त युग में कला पर आध्यात्मिकता का रंग गहरा दिखाई देने लगा। चित्रकार या मूर्तिकार की दृष्टि जहाँ अपनी कथा के अंकन के लिए फैलकर विशाल विश्व देख रही थी वहाँ अब वह एक बिन्दु पर ही केन्द्रित हो गई। कलाकार, कथाकार न रह कर योगी बन गया। उसकी दृष्टि भगवान बुद्ध पर ही जम गई। अब वह जन-समारोह आदि का अंकन नहीं करना चाहता। वह बहुतों को नहीं देखना चाहता एक की करुणा, विश्व-मैत्री के रूप ही देखना चाहता है। फल यह हुआ कि उसके चित्रों में वर्णना-[illegible] थी जो पात्रों की संख्या कम हो गई। जो भी रहे उनमें से प्रत्येक

के हृदय में बैठ कर कलाकार उनकी भावनाओं के मोती खोजने और उनके चेहरों पर टांकने लगा। अन्तर की दिव्य आभा से वह चित्र अथवा मूर्तियाँ दीप्तिमान हो उठीं। सत्रहवीं गुफा के 'राजकुमार विजय के अभिषेक' और पहिली गुफा के बोधिसत्व पद्मपाणि के चित्रों को देखने से यह बात भली प्रकार समझ में आ जाती है। सत्रहवीं गुफा में जहाँ उसने थोड़े से पात्रों को ही लिया है और उसका झुकाव वर्णनात्मकता की ओर न होकर रूप-भेदिक की ओर हुआ है, वहाँ उसकी कला अपेक्षाकृत अधिक ऊँचे स्तर को स्पर्श कर सकी है। इसका उदाहरण उक्त गुफा का ही एक चित्र 'भगवान बुद्ध का प्रत्यागमन' है।

वात्सायन ने अपने कामसूत्र में चौसठ कलाओं का उल्लेख किया है। वह सब उस युग में प्रचलित थीं। राज परिवारों और सम्भ्रांत वर्ग में चित्रकला अत्यंत लोक-प्रिय होती जा रही थी। प्राचीन ग्रंथों के अनुसार मन्दिरों और भवनों की दीवारों पर चित्र बनने लगे थे। दुर्भाग्य की बात है कि अब उन भवनों के से कोई शेष नहीं हैं। उनकी झलक हमें केवल साहित्य में; भास, भवभूति और कालिदास आदि के काव्य-ग्रंथों में दिखाई देती है। भित्ति-चित्रों और चित्रपट्टों की चर्चा की जा चुकी है। उन दिनों सादृश्यवाद के आधार पर व्यक्तियों के चित्र बन रहे थे, इसका उल्लेख भी प्राचीन काव्य-ग्रंथों से प्राप्त होता है। हिन्दू शिल्प-शास्त्र ने इस प्रकार की शैली को कभी प्रोत्साहन नहीं दिया। सम्भवतः इस प्रकार के चित्रों को धार्मिक स्थानों में आंकने की अनुमति नहीं दी गई थी। रुचि-विशेष के रूप में नागरिक अपने घरों की चित्रशालाओं में उन्हें रख सकते थे अथवा अंकित करा सकते थे। महाकवि कालिदास के मालविकाग्निमित्र में अग्निमित्र की चित्रशाला में मालविका का एक अत्यंत सुन्दर चित्र है। इसी प्रकार कवि-कुल गुरु ने अपने अभिज्ञान शाकुंतल में भी दुष्यंत द्वारा शकुन्तला का चित्र अंकित कराया था। शकुंतला की चित्रकला में रुचि थी। उन्होंने जो चित्र आँककर राजा दुष्यंत के पास भेजा था उसमें उन्होंने कुछ नई रेखायें भी आंक दी थीं। उन्होंने उसमें मालिनी नदी बना दी थी। शकुंतला के कानों में शिरीष के फूलों का गुच्छा लगा दिया था। शरद् ज्योत्स्ना की उज्ज्वल किरण की आभा वाले श्वेत कमलों की माला उसके गले में डाल दी थी। पुराण साहित्य में भी चित्रकला का उल्लेख मिलता है। वाणासुर की पुत्री उषा की सखी चित्रलेखा थी। उषा ने स्वप्न में अनुरुद्ध का रूप-दर्शन किया और चित्रलेखा ने उसी के आधार पर अनुरुद्ध के चित्र को आंका।

चीनी यात्री हुएन सांग सातवीं शताब्दी में भारत आये थे। उन्होंने लिखा है कि अब से पांच छै सौ वर्ष पूर्व राजा कनिष्क के समय में भारतीय चित्रकार

बैक्टीरिया गये थे और वहाँ उन्होंने बौद्ध विषयों को भित्तियों पर आंका था। इन सब के आधार पर यह कहा जा सकता है कि तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर सातवीं ईसवी तक इस कला का पारिजात समस्त विश्व में अपनी सुरभि फैलाता रहा।

चित्र-विधान की दृष्टि से प्रत्येक चित्र में छै गुण होना चाहिए, तभी वह सफल कृति कही जा सकती है। इनका उल्लेख वात्सायन ने अपने काम-सूत्र में ही किया है। यह षठांग, रूप-भेद, परिमाण, भाव, लावण्य, सादृश्य और वर्णिकाभंग हैं। रूपों के विभिन्न प्रकार और उनमें परस्पर अंतर रूप-भेद के अन्तर्गत आता है। चित्रकार स्रष्टा होता है। नियंता की सृष्टि में हम देखते हैं कि उसने असंख्य प्राणियों का निर्माण किया है किन्तु कैसी विचित्रता है कि किन्हीं दो व्यक्तियों में कुछ न कुछ अन्तर होता ही है। यदि वह न हो एक आदमी दूसरे को पहचान ही न सके और लोक-व्यवहार जहाँ का तहाँ थम जाय। इसी प्रकार चित्रकार भी अनेक रूप आंकता है। वह उनमें आकार-प्रकार का भेद रखता है। चित्रकार को जिस वस्तु का ध्यान रखना अत्यंत आवश्यक है वह 'परिमाण' है। मानव-शरीर को आंकते समय कौन सा अंग कितना बड़ा आंकना चाहिए जिससे चित्र में विकृति न आवे और परिमाण आदर्श रहे। विष्णु धर्मोत्तरम् के एक अध्याय में केवल इसी की चर्चा की गई है कि शरीर के अंगों का पारस्परिक अनुपात क्या हो, जिससे कि चित्र में स्वाभाविकता और सौष्ठव आ सके?

भाव का चित्र में वही स्थान है जो शरीर में आत्मा का। पाश्चात्य कलाकार सादृश्यवादी है। वह जो देखता है, अंकित करता है किन्तु भारतीय कलाकार उस पात्र के व्यक्तित्व का अध्ययन करता है, जिसे वह आंकता है और फिर उसके अनुरूप चित्रांकन करता है। व्यक्ति की परिस्थिति, मनोदशा और विचार, सब कुछ उसकी दृष्टि के आगे रहते हैं। उसकी बाह्य दृष्टि उस व्यक्ति को नहीं देखती, जो उसके आगे खड़ा है। उसकी अन्तर्दृष्टि आत्मा को देखती है और उसे पटल पर उतार देती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि सादृश्य की उपेक्षा कर दी जावे। वह भी इन छे अंगों में से एक है। भारतीय कला में इन दोनों तत्वों का समावेश होता है। किन्तु उनमें भाव-पक्ष सबल रहता है; पाश्चात्य कृतियों में सादृश्य। चित्र में लावण्य-योजना भी आवश्यक है। यदि उसमें सौन्दर्य और लालित्य न रहा तो फिर आकर्षण ही क्या [illegible]? चित्र में कुनाई भरने के लिए कभी मुद्राओं और अंगों का भी [illegible] जाता है। लावण्य से [illegible] का सृजन होता है, साथ ही चित्र में

एक आभा भर जाती है। वर्णिका-भंग से रंगों की योजना का अभिप्राय है। प्रत्येक रंग मन पर पृथक्-पृथक् प्रभाव डालता है। रंगों से ही वातावरण बनता है। किस स्थान पर, किस वातावरण की सृष्टि के लिए कौन से रंग का प्रयोग करना चाहिए, चित्रकार को इसका पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। सच तो यह है कि इस कला का रंग ही देवता है। जो स्वभाव से परिचित होकर उसे प्रसन्न कर लेता है, वही उसका वरदान प्राप्त कर पाता है। रंग के मनोविज्ञान से परिचित होकर ही चित्रकार किसी चित्र का सफल अंकन करने में समर्थ हो सकता है। अजंता के चित्र इन सब कसौटियों पर खरे उतरते हैं। अजंता के चित्रों की ख्याति विश्व-व्यापिनी है। संसार के प्रत्येक भाग से अनेक पर्यटक इन भित्ति-चित्रों को देखने के लिए आया करते हैं। इनके अतिरिक्त अजंता का आकर्षण उसकी प्रतिमायें भी हैं। उन्नीसवीं और छब्बीसवीं गुफाओं की मूर्ति-कला देखने की ही वस्तु है।

अजंता की उन्नीसवीं गुफा एक चैत्य-गृह है जिसका निर्माण सन् ५५० ईसवी के लगभग हुआ है। यह छयालीस फुट लम्बी, चौबीस फुट चौड़ी और लगभग चौबीस फुट ही ऊँची है। यह गुफा मूर्तियों का अक्षय भंडार है। इसका प्रवेश द्वार और भीतरी भाग भगवान बुद्ध की विविध प्रतिमाओं से अलंकृत किया गया है। गुहा का वाह्य रूप नवीं गुफा से मिलता जुलता है। गुफा में सामने की ओर 'उसारा' है जिसे अंगरेजी में 'पोर्च' कहा जाता है। यह दो खम्भों पर जो अलंकरण से युक्त हैं, टिका हुआ है। गुफा के ऊपर भाग में कमल-दल जैसा एक बड़ा झरोका है। यह भी नवीं गुफा जैसा ही है। इससे गुफा में पर्याप्त प्रकाश बना रहता है। प्रवेशद्वार पर जो प्रतिमायें दिखाई देती हैं, उनमें गुप्त कला की सभी विशेषताओं का समावेश हुआ है। इनमें कहीं भगवान खड़े दिखाई देते हैं और कहीं वज्रासन अथवा पद्म पर बैठे हुए। गुफा में एक ही प्रवेशद्वार है। उसके दोनों ओर द्वारपाल खड़े हुए हैं। एक विशाल पाषाण-चित्र में भगवान बुद्ध का गृहागमन आंका गया है। राहुल जननी उसे उसी प्रकार आगे किए हुए खड़ी हैं, जैसी कि हम सत्रहवीं गुफा के चित्रों में देखते हैं। ऐसा जान पड़ता है इस दृश्य-विशेष ने मूर्तिकार के हृदय को छू लिया और इसी लिए वह उसे मूर्ति-शिल्प में अंकित कर रहा है। बरामदे के खम्भे कमलों के अलंकरणों से भरे हुए हैं। इनके ऊपरी भाग में अर्ध-चित्र हैं जिनमें कहीं राजा अपनी रानियों के साथ बैठे हुए दिखाई देते हैं और कहीं गन्धर्वगण अप्सराओं के साथ उड़ते हुए। बाहर की मूर्तियों में से एक में स्तूप के आकार के बीच में भगवान बुद्ध एक कमल दल पर खड़े हुए दिखाई देते हैं। उनका

एक हाथ वरदमुद्रा में उठा हुआ है। इसकी विशेषता यह है कि स्तूप का आकार मंदिर के सदृश्य आंका गया है। दोनों ओर खम्भे हैं और उनके ऊपर स्तूप है। उसके ऊपर हर्मिका है और हर्मिका के ऊपर तीन छत्र। स्तूप, मन्दिर के गुम्बद जैसा प्रतीत होता है और यह छत्र शिखर के आकार के जान पड़ते हैं। छत्रों के दोनों ओर गन्धर्व उड़ते हुए दिखाई देते हैं। वास्तु-कला की दृष्टि से स्तूप के स्वरूप का मन्दिर के आकार में परिवर्तित होना एक महत्वपूर्ण बात है। भीतर के मुख्य स्तूप के विशाल आकार में यही शैली अपनाई गई है। स्तूप का उठाव मन्दिर जैसा है। उसके ऊपर खम्भे हैं। उनके बीच में भगवान की खड़ी हुई प्रतिमा है। स्तूप को भी गुम्बद के आकार का बनाया गया है। उस पर हर्मिका है, और उस पर छत्र। गुहा के भीतर में जो खम्भे हैं उनके शीर्षभाग में भगवान बुद्ध की बैठी हुई मूर्तियाँ हैं। उनके दोनों ओर आकाश में उड़ती हुई अप्सरायें अलंकरण के लिए आंकी गई हैं। खम्भों से ऊपर के भाग में भगवान बुद्ध की अनेक मूर्तियाँ पंक्तिबद्ध हैं। आकार और आकृति में यह एक दूसरे से मिलती-जुलती हैं, केवल हाथ की मुद्रायें भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं।

उन्नीसवीं गुफा के अन्तर्गत ही नागराज की एक अतीव सौन्दर्य-शालिनी प्रतिमा है। उनके निकट ही उनकी रानी बैठी हैं। वे एक शिला पर आसीन हैं। वे एक चरण ऊपर रक्खे हैं और दूसरा नीचे लटकाये हैं। एक भुजा के सहारे वे तनिक तिरछे बैठे हैं। शरीर के अंग-प्रत्यंग से सौष्ठव और लावण्य झरता हुआ सा लगता है। वे मोतियों के अलंकार धारण किये हैं। यज्ञोपवीत भी मोतियों का है। उनके मस्तक पर अत्यंत कला-पूर्ण मुकुट है। उसके ऊपर सर्प के सात फन तने हुए हैं। नागराज के नेत्र अर्द्ध उन्मीलित हैं, मानो चिंतन में लीन हों। उनके निकट ही राज-महिषी बैठी हैं। उनके हाथ में प्रफुल्लित पद्म है। उनके मस्तक पर भी नाग फन है। नागराज के एक ओर एक दासी चंवर लिए खड़ी है। यह पाषाण-चित्र भारतीय कला की एक उज्ज्वल मणि माना जाता है।

मूर्ति-कला की दृष्टि से दूसरी महत्वपूर्ण गुफा छब्बीसवीं है। इसके बाहरी और भीतरी भागों को देखने से ऐसा जान पड़ता है कि यह और उन्नीसवीं गुफा एक ही काल में, सम्भवतः उन्हीं शिल्पियों द्वारा बनाई गई। दोनों का प्रवेश-द्वार एक सा ही है। इस पर भगवान बुद्ध की अनेक मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। ऊपरी भाग में भी प्रकाश के लिए वैसी ही बड़ी, कटावदार खिड़की है। नीचे का भाग भग्न हो चुका है, अतः उसका अब कोई अनुमान नहीं लगता। भीतर के [illegible] इसमें भी वैसे ही अलंकृत हैं। स्तम्भ और उनके ऊपर भगवान बुद्ध की अनेक [illegible] दिखाई देती हैं जैसी कि उन्नीसवीं गुफा में। यह आकार में उसकी [illegible] बड़ी है और इसमें स्तम्भ भी अधिक हैं। इसकी लम्बाई अड़सठ

फुट और चौड़ाई छत्तीस फुट है। इसमें छब्बीस खम्भे हैं। इस गुफा का स्तूप भी मन्दिर के आकार का है, जिसमें भगवान बुद्ध बैठे हुए दिखाये गये हैं।

छब्बीसवीं गुफा की विशेषता उसके विशाल पाषाण चित्र हैं। इनमें से दो अत्यंत प्रसिद्ध हैं, एक 'मार पराजय' और दूसरा 'भगवान बुद्ध का परिनिर्वाण'। 'मार-पराजय' में कई दृश्यों का समावेश है। भगवान, बोधिवृक्ष के नीचे वज्रासन पर बैठे हैं और उन्हें राक्षस घेरे हैं। नीचे की ओर मार अपनी अप्सराओं के साथ खड़ा है। मार के वस्त्र और आभूषण राजाओं जैसे हैं। अप्सरायें भी अनेक अलंकार पहने हैं। उनके मस्तक पर मुकुट हैं। वे विविध भंगिमाओं में खड़ी हैं।

परिनिर्वाण के दृश्य में भगवान शैया पर लेटे हैं। उनके निकट उनके उपासक अत्यंत दुःखपूर्ण मुद्रा में बैठे हुए हैं।

अजंता भारत का एक कला-केन्द्र ही नहीं है, वह राष्ट्र की महान् चित्रशाला है। उसमें लगभग एक सहस्र वर्ष की भारतीय संस्कृति चित्रों के रूप में उतरी है, इसीलिए वह एक जीता-जागता इतिहास है। इस इतिहास के निर्माता वे कला-योगी हैं, जिन्होंने पर्वत-श्रेणियों को काटकर विशाल चैत्यों और विहारों को खड़ा किया और गहन अंधकार में भावमयी सूक्ष्म रेखायें अंकित कीं। अंधेरे में यह चित्र कैसे आंके गये होंगे? नैसर्गिक प्रकाश में ही आंके गये हों तब तो इनमें सूर्य की किरणें बहुत थोड़े समय के लिए प्रवेश करती हैं। क्या चित्रकार ने केवल उन्हीं क्षणों को पकड़ लिया? कुछ लोगों का अनुमान है कि पीतल के चिकने पतरों से सूर्य किरणें भीतर फेंकी गई होगीं किन्तु यह बात समझ में नहीं आती। अजंता के चित्रों में केशों की अलकें तक इतनी स्पष्ट और स्वाभाविक हैं कि बिना पर्याप्त प्रकाश के उनका अंकन सम्भव प्रतीत नहीं होता।

ग्रिफिथ साहब ने इनकी रेखाओं के सम्बन्ध में लिखा है—

"The artists who painted them were giants in execution. Even on the vertical sides of the walls some of the lines which were drawn with one sweep of the brush struck me as being very wonderful, but when I saw long, delicate curves drawn without faltering, with equal precision, upon the horizontal surfece of a ceiling, where the difficulty of execution is increased a thousand-fold, it appeared to me nothing less than miraculous."

बाग की गुफायें

भारत के कलाकार ने जन-समुदाय से दूर, वन-प्रान्तर की पर्वत-श्रेणियों में जिन कला-मंडपों का निर्माण किया वे दूर देश के कला-पारखियों को ही नहीं इस देश के यात्रियों को भी विस्मय में डाल देते हैं। एलोरा, एलीफैन्टा, अजंता और बाग का शिल्प और चित्र-वैभव तुमुल कोलाहलमय नगरों से बहुत दूर प्रकृति की शांतिमयी गोद में बैठकर अंकित हुआ। क्या उस युग में :वहाँ कोई समृद्धिशाली नगर विद्यमान थे, जिन्हें काल के निष्ठुर हाथों ने सुनसान स्थलों में बदल दिया? अथवा जैसे कोई योगी तपस्या के लिए वन की ओर चल देता है, वैसे ही यह कला-योगी भी भगवान तथागत की गाथाओं को अनन्त काल तक मुखरित करने के लिए इन पर्वतों के तले आ बैठे और फिर उनकी छेनियाँ कठोर पाषाण को प्राणमयी कृतियों में बदलने लगीं? इतिहास नगरों की साक्षी नहीं देता। ऐसा जान पड़ता है कि कलाकार ही अपनी कृतियों को अमरत्व देने के लिए पाषाण के माध्यम की खोज में चल पड़ा है।

बाग की गुफायें मालवा में हैं। यहाँ महू से धार होकर मोटर अथवा गाड़ी द्वारा आ सकता है। पथ अत्यंत दुर्गम्य है और वर्षा काल में बागमती नदी के चढ़ आने पर तो कठिनता और भी बढ़ जाती है। बाग नदी के तल से लगभग १५० फीट की ऊँचाई पर एक पर्वत-श्रेणी में नौ गुफायें काटी गई हैं। यह समस्त विहार हैं। गुफाओं तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बना दी गई हैं। यह गुफायें किस काल की हैं, इस सम्बन्ध में इतिहासकार अबतक केवल अनुमानों का सहारा ले रहे थे। किसी गुफा में ऐसा कोई शिला लेख प्राप्त नहीं हुआ जिसके आधार पर इनका काल-निर्णय हो पाता। अजंता के भित्ति-चित्रों से प्राचीन तो यह निश्चित-रूप से नहीं हैं। चित्रों में अंकित मनुष्यों की वेश-भूषा व अलंकार आदि से इनका समय वही निश्चित होता है, जो अजंता की पहिली और दूसरी गुफाओं का है। गुफायें अधिक पुरानी हैं। माहिष्मती के राजा सुबन्धु ने बाग गुफा के बौद्ध-भिक्षुओं को एक प्रशस्ति प्रदान की थी। उन्होंने इसकी रक्षा



बोधिसत्व पद्मपाणि
बाग

व उपासकों की जीविका के लिए इसके साथ कुछ गांवों की जागीर बांध दी थी।[1] इससे इन गुफाओं का समय पांचवीं शताब्दी सिद्ध होता है। यह भी सम्भव है कि गुफाओं में भित्ति-चित्रों का अंकन बाद में हुआ हो। श्री कुमार स्वामी ने भी इन्हें पांचवीं शताब्दी का माना है।[2]

जिस पर्वत को काटकर इन गुफाओं की रचना की गई है, वह गुहा-मन्दिरों के अनुकूल नहीं कहा जा सकता। इसमें ऊपर के भाग में लाल रंग का मज़बूत पत्थर है किन्तु नीचे के स्तर का पत्थर बहुत भुरभुरा है, जिस पर कटाई का काम नहीं किया जा सकता, इसीलिए कारीगरों को बहुत कठिनाई का सामना करना पड़ा होगा। पत्थर की जाँच के लिए, उन्होंने कई जगह दीवार पर छैनी से परीक्षण भी किये, जिसके चिन्ह् अब भी मिलते हैं। जिस स्थल से उनके मन को संतोष मिला, वहीं से गुफाओं का सिलसिला चला।

कहने को यह कुल मिलाकर नौ गुफायें हैं किन्तु बहुत दूर तक फैली हुई हैं। गुफायें अनेक शताब्दियों तक उपेक्षित दशा में पड़ी रहीं। इनके सामने के बरामदे गिर गये और भीतरी भाग को भी साधू लोगों ने आग जला-जलाकर धुवें से काला कर डाला। गुफाओं के चारों ओर जंगल है अत: यह कला-मंडप वन्य पशुओं के आवास भी रहे होंगे। परिणाम यह हुआ कि निकटवर्ती गांवों के लोगों को इन गुफाओं में जाने में भी भय प्रतीत होने लगा। सौभाग्य से इस पर कला-पारखियों की दृष्टि पड़ गई। इसके चित्रों को अजंता के समकक्ष माना जाने लगा।[3] लेंफ्टीनैन्ट डेंगर फील्ड, डा० इम्पी और कर्नल लुआर्ड द्वारा यह गुफायें प्रकाश में लाई गईं। इन चित्रों की कीर्ति धीरे-धीरे चारों ओर फैलने लगी। अनेक भारतीय और विदेशी चित्रकारों ने इनकी अनुकृतियाँ तैयार कीं। इनमें आर्मीनियन चित्रकार कचरोडीन, आचार्य श्री नन्दलाल वसु, श्री असित कुमार हालदार व श्री मुकुल दे के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सर्व श्री दे, हालदार व लुयार्ड ने बाग पर ग्रंथों का सृजन भी किया। श्री जे. बर्जेस ने भी इस पर काफी लिखा।[4] उन्होंने गुफाओं के चित्रों का अत्यंत सुन्दर विवरण भी दिया। बाग के सम्बन्ध में इंडिया सोसाइटी से प्रकाशित ग्रंथ सर्वश्रेष्ठ है। यह ग्वालियर के महाराज माधवराव जी सिंधिया की कृपा

---

१. बाघ गुहा मंडप का चित्र-वैभव (विक्रम अभिनन्दन ग्रन्थ) श्री श्याम सुन्दर द्विवेदी

२. History of Indian and Indonesian Art, Page 77.

३. The Early School of Indian Painting (A History of Fine Arts in India and Ceylon)– V. A. Smith.

४. The Bauddha rock temples of Ajanta and Bagh.

देखे बिना समझा नहीं जा सकता। छत के वे अलंकरण; जिनमें हाथी और हंस, कमलों से पूरित सरोवरों में विहार करते दिखाये गये थे, अब मिट चले हैं। इस गुफा में कुछ प्रतिमायें भी हैं। अजंता और बाग के कला-मंडपों में चित्र और मूर्तिकला अभिन्न हृदया सहेलियों की भांति एक-दूसरे के गले में बाहें डाले हुये विहार करती दिखाई देती हैं। भीतर भगवान बुद्ध की मानव-आकार की दो विशाल प्रतिमायें एक द्वार के दोनों ओर खड़ी दिखाई देती हैं। वे पद्म पर खड़े हैं। मूर्तियाँ अत्यंत भावमयी हैं और शैली से गुप्त काल की ही लगती हैं। भगवान तथागत का एक हाथ वरद मुद्रा में उठा हुआ है, मानो शांति का मंगल वरदान दे रहे हों। दूसरे हाथ में चीवर का एक छोर है। मूर्तियों के दोनों ओर दो-दो श्रद्धालु उपासक चंवर लिये हुये खड़े हैं। उनके अतिरिक्त गुफा में लगभग आठ-आठ फुट ऊँची दो प्रतिमायें और हैं। व्यक्तित्व, वेश-भूषा और अलंकारों से वे उन राजाओं अथवा नगर-श्रेष्ठियों की जान पड़ती हैं, जिन्होंने इन गुफाओं की रचना कराई होगी। दोनों राजा आपस में मंत्रणा करते हुये प्रतीत होते हैं। प्राचीन काल में प्रतिमाओं को रंगने का प्रचलन था। दक्षिणापत्य में अनेक देवी-देवताओं की रंगी हुई मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं। श्री टी. ए. गोपीनाथ राव ने अपने विशाल ग्रंथ 'एलीमेंन्ट्स ऑफ हिन्दू आइकनोग्राफी' में इसका विशद् रूप से वर्णन किया है। गुप्त-काल में प्रतिमाओं को रंगा जाता था अथवा नहीं, यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता किन्तु 'पान्डव गुफा' की इन प्रतिमाओं पर रंगों के चिन्ह शेष हैं।

बाग की तीसरी गुफा 'हाथी खाना' कहलाती है। यह भी एक विहार है। गुफा को देखने से लगता है कि यह किसी समय अनेक सुन्दरतम चित्रावलियों से सुशोभित रही होगी। इसकी भित्तिओं के चित्र तथा छत का अलंकरण मिट सा गया है। फिर भी उनकी भावपूर्णता तथा उत्कृष्ट रेखांकन का आभास मिलता है। भगवान बुद्ध के आगे विनत भाव से झुके हुये उपासकों की भक्ति-भावना अमरावती के अर्ध-चित्रों का स्मरण दिलाती है। इसी गुहा-मन्दिर में भगवान बुद्ध और बोधिसत्वों के कई अत्यंत भावमय चित्र हैं। बोधिसत्व एक हाथ में सनाल कमल-पुष्प लिए खड़े हैं। उनके हाथ की मुद्रा और उंगलियों का लोच देखते ही बनता है। बोधिसत्व पद्मपाणि अतीव सौन्दर्यशाली हैं। उनके नेत्र अर्ध-उन्मीलित हैं मानो प्रत्यूषा की बेला में अर्ध-स्फुटित श्वेत पद्म ही हो। चिंतन की छाया मुख-मंडल पर उतर आई है। मस्तक पर मुकुट है, जिसमें खिले हुये कमल भी दिखाये गये हैं। मुक्त केश कंधों पर लहराते हुए दिखाई दे रहे हैं। वे अपना एक हाथ कमर पर रक्खे हुए सहज भंगिमा में खड़े हैं। इस

चित्र में अजंता के बोधिसत्व पद्मपाणि जैसी दिव्यता भले ही न हो, एक मोहकता अवश्य है।

आर्मीनियन चित्रकार श्री कचरोडीन ने बाग गुहा के अनेक भित्ति-चित्रों की अनुकृतियां तैयार की थीं। वह चित्र भी उन्हीं में से एक है।

बाग की चौथी गुहा 'रंग महल', चित्रशाला है। चौथी और पांचवीं गुफा के आगे लगभग दो सौ बीस फुट का एक बरामदा था। इसे बीस खम्भे साधे हुए थे। बरामदे का अधिकांश भाग भग्न हो चुका है। केवल चालीस-पैंतालीस फुट का एक अंश शेष रह गया है। बहुत से चित्र भी नष्ट हो चुके हैं, जो शेष रह गये हैं, वे मानो इस कला-मंडप की श्रेष्ठ कला की साक्षी देने के लिए ही बच गये हैं। लावण्य-योजना और भाव-मयता में यह चित्र अजंता से किसी प्रकार भी कम नहीं ठहरते।

बाग के कलाकार की दृष्टि अपने युग के हंसते-खेलते समाज पर केन्द्रित है इसीलिए उसने नृत्यों और राजाओं की शोभा-यात्राओं के दृश्य अंकित किए हैं। विदेशियों को किसी बौद्ध विहार में इस प्रकार का अंकन विचित्र जान पड़ता है। बौद्ध-धर्म में संगीत और नृत्य आदि तो ऐसी कलायें मानी गई हैं जिनमें लिप्त होने से संसार के प्रति आसक्ति बढ़ती है, फिर बौद्ध गुहा-मन्दिरों में इनका चित्रण क्यों किया गया? बाग के नृत्य-दृश्यों को देखकर श्री वी. ए. स्मिथ ने लिखा है—

"Our surprise at finding such gay scenes depicted on the walls of a Buddhist monastery may be lessened when we consider the nature of many of the sculptures at Mathura and in the Aurangabad caves, but we do not know quite enough about the real nature of the later popular Buddhism in India to understand fully the significance of such frivolous sculptures and paintings."

किसी भी देश की कला की समीक्षा करते समय उसके प्रति एक रसानुभूति का होना आवश्यक है। भारतीय कला के सम्बन्ध में स्मिथ साहब की कुछ पूर्व-धारणायें बन गई थीं। उन्हीं कसौटियों पर उन्होंने इसे कसा। यही कारण है कि उन्होंने इन चित्रों या मूर्तियों को ओछा, तुच्छ या स्तर से गिरा हुआ माना। विदेशियों को एक बड़ा भ्रम हुआ है। उन्होंने इस देश की कला को 'धार्मिक कला' के रूप में देखा है, जोकि वह कभी नहीं रही। भारतीय कला धर्म से अनुप्रेरित रही किन्तु उसने धार्मिक कला का स्वरूप कभी नहीं लिया।

दोनों में अन्तर है। भारत में हिन्दू कला, बौद्ध कला या जैन कला जैसी कोई चीज नहीं रही। भारतीय कला तो समन्वयवती गंगा है जिसे इन टुकड़ों में नहीं बांटा जा सकता। काल के आधार पर उसके खंड किये जा सकते हैं। मेरे कई मित्रों ने इस ग्रंथ का नाम 'बौद्ध कला' सुझाया था, जो मेरे मन को इसी कारण स्वीकार न हुआ। यह बात दूसरी है कि कला पर दिव्यता की एक आभा उतरी। यह आभा शिव, बुद्ध और तीर्थंकर पर समान रूप से उतरी। यह तप की आभा है जो भारतीय दर्शन का प्राण-रूप है। कला तत्कालीन समाज का का प्रतिबिम्ब होती है। उसे मनुष्य से अलग कैसे किया जा सकता है? जब समाज का चित्रण हुआ तब चिंतन से लेकर उत्सव तक सब का उसमें समावेश हुआ। मेरे आदरणीय मित्र श्री 'विद्रोही' की कविता की एक अमर पंक्ति है—

'घर की दहली से मरघट तक जीवन में सब कुछ गेय हुआ।'

बाग में कुछ नृत्य-दृश्य बड़े अनूठे हैं। प्राचीन युग के लोकोत्सवों में 'हल्लीसक' नृत्य अधिक लोक-प्रिय था। इसमें तरुणियाँ एक घेरा बनाकर नाचती थीं। बीच में गांव का एक युवक भी उनके साथ ही नृत्य किया करता था। कभी-कभी स्त्रियाँ वाद्य बजाती थीं और तरुण नृत्य किया करता था। समाज के उत्सवों में नृत्य का अपना एक विशिष्ठ स्थान था। आनन्द के अतिरेक से जब तरुणों के चरण चंचल हो उठते थे; रमणियों की पखावज, मंजीर और मृदंग की ध्वनि जब उनमें और भी गति भरने लगती थी तब थके हुये प्राणों में भी एक नया उन्मेष भर जाता था। बाग के इस 'रंग महल' में हल्लीसक नृत्य के दो दृश्य हैं। एक चित्र में गायकों की टोली भी दिखाई देती है।

एक नर्तक सात स्त्रियों के बीच में खड़ा है। उसके सिर पर नीली धारियों का कपड़ा बंधा है, जिसमें से बाल छूटकर कंधों पर लहराने लगे हैं। वह एक लम्बा हरे रंग का कुरता पहने हुये है। उसके नीचे धारियोंदार पाजामा है। कत्थक आदि नृत्यों में आजकल भी तंग पाजाया पहना जाता है किन्तु इन भित्ति-चित्रों से ज्ञात होता है कि उन दिनों भी नर्तक तंग पाजामा पहिन कर नृत्य किया करते थे। नर्तक के कानों में कुंडल, हाथों में कड़े और गले में मोतियों की माला है। वह एक पैर तनिक तिरछा किये हुए खड़ा है मानो अभी नाचने लगेगा और दर्शक ठगे से देखते ही रह जावेंगे। नर्तक को जो सात स्त्रियाँ घेरे हुये हैं उनमें एक के गले में ढोलक है। तीन के हाथों में मंजीर हैं और शेष तीन स्त्रियाँ लकड़ी के छोटे-छोटे डन्डे बजाकर ही ताल-बद्धता ला रही हैं। स्त्रियों की रूप-सज्जा अजंता की सौन्दर्यवती नारियों जैसी ही है। नृत्य और गान के समय जो एक आनन्द उतरता है, उसकी झलक उनके मुख-मंडल पर है। प्रत्येक की

शरीर-भंगिमा अनूठी है। उनके हाथों में कंकण, गले में मुक्ताओं के हार व मालायें तथा कानों में कुंडल दिखाई देते हैं। केशों में श्वेत पुष्पों की मालायें गुंथी हुई हैं। इसके निकट ही नृत्य का एक अन्य दृश्य अंकित किया गया है। इसमें छै स्त्रियों के बीच में एक नर्तक खड़ा है। वह आत्म-विस्मृत होकर कुछ देख रहा है। स्त्रियाँ मृदंग, मंजीर और लकड़ी के डन्डे बजा रही हैं।

नृत्य के इन दृश्यों को रास्ते पर से गुजरते हुये राजा देखते जा रहे हैं। सबसे आगे अश्वा रोही हैं। उनके पीछे एक विशाल हाथी पर स्वयं राजा बैठे हुये हैं। उनके पीछे एक सेवक छत्र लिए हुये बैठा है। कुछ सेवक पैदल चल रहे हैं। राजा के पीछे अन्य सजे हुये हाथी हैं। उनके महावत बड़े सतर्क जान पड़ते हैं। वे सीधे तने हुए बैठे हैं। उनके हाथों में अंकुश नहीं हैं किन्तु हाथियों को वश में रखने के लिए माला जैसी कोई वस्तु है। कुछ हाथी खाली हैं। उन पर केवल महावत ही बैठे हैं। कुछ पर राज-परिवार की स्त्रियाँ तथा एक पर गायिकायें बैठी हैं। इस चित्र में हाथियों का अंकन अत्यंत सजीव और स्वाभाविक हुआ है।

'रंग महल' में एक अन्य दृश्य अंकित है। इसमें दो स्त्रियाँ बैठी हैं। इनमें से एक दुःख के अतिरेक से विह्वल है और दूसरी उसे धैर्य बंधा रही है। एक दृश्य में कुछ अर्हत आकाश-मार्ग से उड़ते हुये जा रहे हैं। बाग के अनेक चित्र मिट चुके हैं। जे. बर्जेस ने अपने ग्रंथ 'बौद्ध रॉक टैम्पिल्स ऑफ अजंता एन्ड बाग' में जिन चित्रों का वर्णन किया है, उनमें से भी बहुत से धूमिल हो गये हैं अथवा नष्ट हो चुके हैं। लोक-जीवन से अनुप्रेरित होकर बाग के कलाकारों ने जो चित्र यहाँ आंके हैं, वे अब भी उनकी यश-कथा कहते जान पड़ते हैं। बाग में अंकित अलंकरण कहीं-कहीं अजंता को भी पीछे छोड़ जाते हैं। कमलों की बेलों में पशुओं की अत्यंत सजीव आकृतियाँ दिखाई देती हैं। भारहुत और सांची में जातक-कथाओं के साथ ही पार्श्व-भूमि में प्रकृति के दृश्य आंके जाते थे किन्तु गुप्त कला में कलाकार की दृष्टि केवल मानव पर ही केन्द्रित हो गई। उसने अलंकरणों को मानव-आकृतियों से अलग अंकित किया किन्तु उनमें इतनी शोभा भर दी कि वे चित्रों से किसी प्रकार कम नहीं जान पड़ते।

चौथी गुफा से ही सटी हुई पांचवीं गुफा है, जिसे 'पाठशाला' कहते हैं। दोनों का बरामदा एक ही है किन्तु गुफाओं को एक भीतरी दीवाल द्वारा पृथक कर दिया गया है। इसके सिरे पर एक खम्भा तथा कोठरी दिखाई देती है। पांचवीं गुफा [illegible] फुट लम्बी और तैंतालीस फुट चौड़ी है। इसमें स्तम्भों के

अतिरिक्त और कोई आकर्षण नहीं है। इस गुफा में प्रकाश के लिए चार खिड़कियाँ और एक द्वार है। सम्भव है कि यहाँ संघ के महास्थविर भिक्षुगण को प्रवचन दिया करते हों। पांचवीं और छठी गुफा के बीच में दीवाल पर बुद्ध की चार छोटी-छोटी प्रतिमायें आंक दी गई हैं। पाँचवीं गुफा के साथ पांच कोठरियाँ भी हैं, जिनमें भिक्षुगण निवास किया करते थे। छठी गुफा एक विहार है। इसमें किसी प्रकार की कोई विशेषता नहीं है। शेष सातवीं, आठवीं और नवीं गुफाओं में मिट्टी आदि भरी है। उन्हें साफ कराने के बाद भी कुछ कला-कृतियाँ निकलेगीं इसकी कोई आशा नहीं है। अजंता के कला-मंडप के भित्ति-चित्रों की भांति ही बाग के चित्र भारतीय कला की अमूल्य निधि समझे जाते हैं और हमारा शासन इनकी सुरक्षा की ओर पूरा ध्यान दे रहा है। सिंधिया महाराज ने इंडिया सोसाइटी से जो विशाल ग्रंथ प्रकाशित कराया था, वह अब दुर्लभ होता जा रहा है। उसके मूल्य को देखते हुए यह भी सम्भव नहीं है कि वह जन-साधारण के हाथों में पहुँच सके। ग्रंथ हैवल साहब, कजिन्स और कोमल जैसे विद्वानों की कृति है। यदि उसका हिन्दी भाषान्तर प्रकाशित हो सके और उसे चित्रों से अलंकृत भी किया जा सके तो कला-जगत् पर एक बड़ा उपकार हो। उसमें सर्व श्री कचरोडीन, आचार्य नन्दलाल वसु, असित कुमार हालदार तथा मुकुल दे की अनुकृतियों का समावेश भी किया जा सकता है।

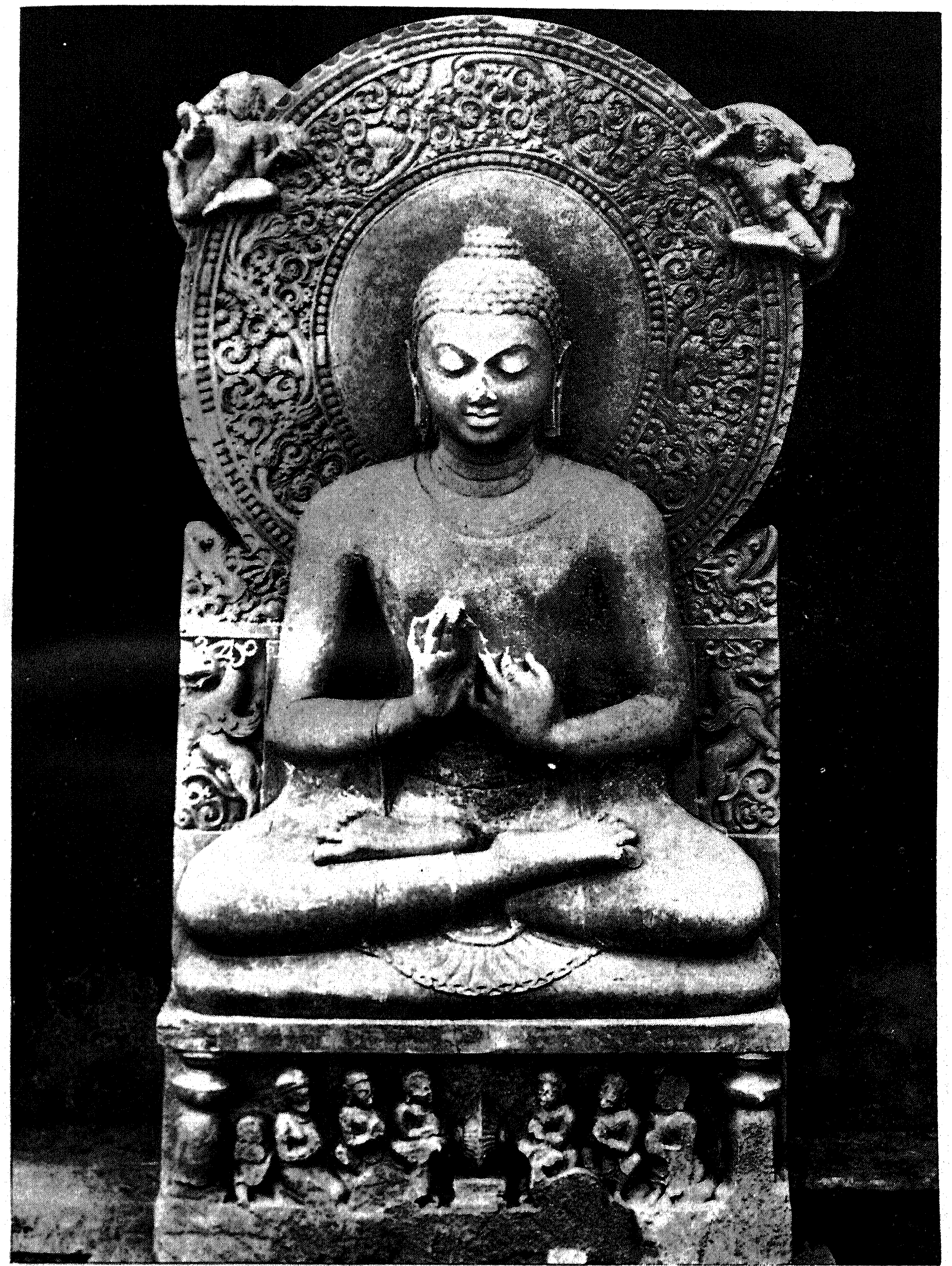
चित्रकला की गोमुखी गंगा की क्षीण जल-धारा को अजंता से गति मिली और वह आगे चलती गई। बाग में हमें उसी की छटा दिखाई देती है। गुप्त काल के पश्चात् दक्षिणापत्य में पल्लवराजा महेन्द्र वर्मन ने (६०० ई० से ६२५ ई. तक) चित्रकला को प्रोत्साहन दिया। उन्होंने सितन्नवासल (सिद्धानांवास) में अनेक भित्ति-चित्र अंकित कराये। यह कला-मंडप जैन धर्म से सम्बन्धित है। इसमें जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ और चन्द्रप्रभ की प्रतिमायें प्रतिष्ठित हैं किन्तु चित्रकला की मूल धारा वही है जो अजंता अथवा बाग में दिखाई देती है। उन्हीं रूपों और अभिप्रायों ने इस कला-मन्दिर को भी दीप्तिमान किया है। सितन्नवासल के भित्ति-चित्रों में भी कमलों से पूरित सरोवरों की वही छटा दिखाई देती है। इसमें कहीं गन्धर्व क्रीडायें करते हुए दिखाई देते हैं तो कहीं मत्त गजराज। चित्रकार की प्राणमयी रेखाओं ने स्तम्भों पर अंकित अप्सराओं की देह-लताओं में केवल दिव्य सौन्दर्य ही नहीं भरा, नृत्य की गति भी भर दी है।

चित्रकला की यह परम्परा एलोरा, बादामी और कांजीवरम् आदि में भी बढ़ती दिखाई देती है किन्तु सौष्ठव और भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से वह उतनी उत्कृष्ट कोटि की नहीं कही जा सकती जितनी अजंता, बाग या सितन्नवासल की।

गुप्त युग की बुद्ध-प्रतिमायें

मथुरा अत्यंत प्राचीन काल से अपनी प्रतिमाओं के लिए प्रख्यात रही है। यहीं यक्षों की विशालकाय मूर्तियाँ गढी गईं और यहीं की कला ने सबसे पहले कठोर पाषाण में भगवान बुद्ध की तप-श्री अंकित की। हम 'मथुरा की कला' प्रकरण में मथुरा की कुषाण कालीन मूर्तियों की चर्चा कर चुके हैं। महाराज कनिष्क के शासन-काल में कोरी हुई सीकरी के लाल पत्थर की बुद्ध-प्रतिमायें सुदूर सारनाथ, श्रावस्ती और सांची में भी प्राप्त हुई हैं। श्रद्धावान उपासक उन्हें और भी न जाने कहाँ ले गये होंगे? इनमें तथागत की खड़ी हुई विशाल प्रतिमायें भी थीं और पद्मासन पर बैठी हुई भी। ऊँचा कद, बलिष्ठ और भरा हुआ शरीर इनकी विशेषता थी। भगवान का एक हाथ अभय-मुद्रा में उठा रहता था और दूसरा कमर पर टिका हुआ दिखाई देता था। वे धोती पहने रहते थे। बैठी हुई मूर्तियों में उसका आसन सिंहों पर टिका रहता था। खड़ी हुई मूर्तियों में उनके चरणों के बीच में सिंह की आकृति आंक दी जाती थी। वह शाक्य-सिंह का प्रतीक था। उनका एक हाथ अभय मुद्रा में उठा रहता था तथा दूसरा जंघा पर रहता था। उनके पीछे गोल प्रभा-मंडल आंका जाता था। पीछे बोधिवृक्ष भी दिखाया जाता था, जिसके दोनों ओर देवगण पुष्प-वर्षा करते हुए दिखाई देते थे। गान्धार कला में बुद्ध और बोधिसत्वों की प्रतिमाओं में उनकी वेश-भूषा व अलंकारों से भेद किया जाता था। भगवान बुद्ध के शरीर पर कोई आभूषण नहीं रहता था। उनके वस्त्र भी तपस्वियों जैसे रहते थे। बोधिसत्व सिर पर मुकुट धारण किये रहते थे और उनके वस्त्र व आभूषण आदि भी राजाओं जैसे रहते थे। मथुरा की कला में बुद्ध और बोधिसत्व दोनों को साधक के रूप में ही देखा गया है। नीचे के लेखों से ही पता लग पाता है कि वह मूर्ति बुद्ध की है या बोधिसत्व की।

शताब्दियों की सतत् परम्परा मथुरा की शैली को उत्तरोत्तर मांजती चली गई। उसकी मूर्तियों की ख्याति दूर-दूर तक फैल गई। गुप्तों के स्वर्ण काल में मथुरा की कला की मानो सोलह पंखुड़ियाँ खिल गईं। गुप्त कला की विशेषताओं



भगवान बुद्ध—सारनाथ

को उसने आत्मसात् किया। आत्मा का सौन्दर्य मुख पर निखर उठा। सौष्ठव के साथ चिंतन का मिलन गुप्त-कला की देन थी। इस युग से पहले की मूर्तियों को देखने से यह तो लगता था कि वह किसी तपस्वी की ध्यानावस्थित मुद्रा है किन्तु मन के चक्षुओं के आगे भगवान का जो दिव्य-रूप खड़ा था, उसकी झलक इन प्रतिमाओं में नहीं मिलती थी। फिर मन की तृप्ति कैसे होती? गुप्त-काल की मथुरा की मूर्तियों ने इस अभाव को भर दिया। उन्हें देखने से ऐसा लगता है कि स्वयं भगवान बुद्ध सामने आ खड़े हुये हैं; वे ही दिव्य-रूप गौतम, जिनके आगे शक्र, महाब्रह्मा या वैश्रवण की कांति निष्प्रभ जान पड़ती है। उनके मुख पर एक मुस्कान खेलती दिखाई देती है। मथुरा की मूर्तियों पर आँखें टिक जाती हैं, तो हटना ही नहीं चाहतीं। ऐसा लगता है कि यह तो वही गौतम बुद्ध हैं, जिन्हें बुद्धत्व प्राप्त हुआ था। उसी की ज्योति इन्हें आभावान किये है। यश दिन्न द्वारा स्थापित, गुप्त काल की खड़ी हुई बुद्ध मूर्ति ऐसी ही है। भगवान एक चौकी पर खड़े हुए हैं। उनकी शांत मुख-मुद्रा दर्शक के हृदय में चलती हुई विचारों की तीव्र आंधी को भी शांत कर सकने में समर्थ है। योगियों की भाँति उनके अधमुंदे नयन नासा के अग्र-भाग पर टिके हुये हैं। महाकवि कालिदास ने अपने कुमार-संभव में योगी शिव का एक शब्द-चित्र खींचा है— 'वे भोंहें तान कर कुछ-कुछ प्रकाश देनेवाली, निश्चल, उग्रतारों वाली और अपनी किरणें नीचे डालने वाली, अपलक आँखों से, नासिका के अग्र-भाग पर दृष्टि जमाये बैठे हैं।' भगवान के कानों में लम्बे कुंडल हैं। उनके केश मुड़े हुए हैं। शरीर के ऊपर पड़ी संघाटी दोनों कंधों को ढंके हुए है। वह इतनी बारीक है कि भीतर से अंग झलक उठे हैं। वे एक हाथ में वस्त्र का छोर पकड़े हुए हैं। दूसरा हाथ भग्न हो गया है। वह सम्भवतः अभय-मुद्रा में उठा हुआ होगा। उनके पीछे अलंकरण-युक्त प्रभा-मंडल है। एक विशाल खिला हुआ कमल है, जिसके पद्म-कोष को भगवान का मुख-मंडल ढंके हुये है। उसके चारों ओर कमल की खिली हुई पंखुड़ियाँ हैं। उसके भी चारों ओर गोलाकार हैं, जिनमें कमलों के भाँति-भाँति के खिले, अध-खिले पुष्पों का अलंकरण दिखाई देता है। डा० कुमार स्वामी ने इसका काल पांचवीं शताब्दी माना है। इसी प्रकार की एक प्रतिमा कलकत्ता संग्रहालय में भी है।[1]

भिक्षु यश दिन्न की प्रतिमायें अन्यत्र भी प्राप्त होती हैं। इनमें से एक प्रतिमा कुशीनगर में है। हरि बल ने यह मूर्ति वहाँ भेंट की थी। इसके लगभग

---

१. History of Indian and Indonesian Art, Coomarswamy, Page 84.

सौ वर्ष पश्चात् की एक बुद्ध-मूर्ति कटरा केशव देव में भी मिली है।

इलाहाबाद के निकट मंकुवार नामक स्थान में पांचवीं शताब्दी की एक बुद्ध-प्रतिमा है। वे एक चौकी पर पद्मासन लगाये हुये बैठे हैं।[१] उनका एक हाथ उनकी गोद में रक्खा है और दूसरा अभय-मुद्रा में ऊपर उठा हुआ है। उनके नेत्र उन्मीलित हैं और वे किसी गहन चिंतन में डूबे हुए जान पड़ते हैं। कानों में बड़े-बड़े कुंडल हैं। सिर पर केश नहीं हैं। यह इस मूर्ति की विशेषता है जो मथुरा से प्राप्त अन्य मूर्तियों में नहीं दिखाई देती। जो हाथ अभय-मुद्रा में ऊपर उठा हुआ है उसमें वे रेखायें और चिन्ह अंकित हैं, जिनका उल्लेख बौद्ध-वाङ्मय में प्राप्त होता है। उनके आसन को सिंहों की मूर्तियाँ साधे हुये हैं। उनके बीच में दो साधक बैठे हैं। उनकी मुद्रा वही है जो ऊपर की प्रतिमा की है। स्मिथ साहब ने इस प्रतिमा को सन् ४४८-४९ का बतलाया है।[२]

मथुरा की गुप्त-कालीन प्रतिमाओं में सबसे प्राचीन बोध गया की बोधिसत्व मूर्ति है। यह किन्हीं महाराज त्रिकमल के शासन काल के चौंसठवें वर्ष की है। इसका समय जनरल कनिंघम ने सन् ३८३ के लगभग का माना है किन्तु शैली से यह इससे भी पुरानी जान पड़ती है।[३] वे एक चौकी पर पद्मासन लगाये तनिक तिरछे बैठे हुए हैं। यद्यपि सिर कुंचित केशों से आच्छादित है और उनके दोनों स्कंध भी संघाटी से ढके हुए हैं किन्तु शरीर कुछ भारीपन लिए हुए है। मुख पर वह भाव-मयता नहीं है जो भिक्षु यश दिन्न की मूर्ति में दिखाई देती है, न अंग ही उतने सौष्ठवयुक्त हैं। सम्भवतः इसीलिए इसे कुछ इतिहासकारों ने ६४ ईसवी का माना है।[४]

मथुरा के अतिरिक्त गुप्तकाल की कला सारनाथ में फूली-फली। सारनाथ प्राचीन काल से बौद्ध-धर्म का एक प्रमुख केन्द्र रहा है। वरुणा नदी के किनारे मृगदाव में, जिसे आजकल सारनाथ कहते हैं, भगवान बुद्ध ने कौडिन्य, वप, भद्रिय, महानाम और अश्वजित् नामक पंच भद्रवर्गीय भिक्षुओं के सम्मुख धर्म-चक्र का प्रथम बार प्रवर्तन किया था। फिर इन समस्त भिक्षुओं ने प्रव्रज्या ग्रहण की थी। भगवान के प्रतीकों में चक्र की इसीलिए इतनी अधिक प्रतिष्ठा है। भारहुत तथा सांची के प्रारम्भिक शिल्प में चक्र के प्रतीक रूप में भगवान

---

१. History of Fine Arts in India and Ceylon, fig 119.

२. History of Fine Arts in India and Ceylon, V. A. Smith, Page 173.

३. Mahabodhi— Cunningham, Plate XXV

४. The Classical Age, Page 512

की उपासना की गई है। सांची के एक दृश्य में तो चक्र के साथ, उसके नीचे के भाग में हिरणों की आकृतियाँ भी आंकी गई हैं, जिस की चर्चा हम पूर्व अध्यायों में कर चुके हैं।

सारनाथ की मूर्ति-कला की परम्परा अत्यंत प्राचीन है। उसका परिष्कृत और परिमार्जित रूप अशोकीय सिंह-शीर्ष स्तम्भ में परिलक्षित होता है। इसके बाद के युग की कला के अवशेष एक वेदिका के कुछ खम्भे और उनके मूर्धन्य सिर दल हैं। यह स्तम्भों को आपस में जोड़कर उन्हें स्थित रखते थे। शिल्प-शैली के आधार पर पुरातत्व के अधिकारी विद्वानों ने इनका समय प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व, निश्चित किया है। सम्भवतः यह आन्ध्र राजाओं के समय की वेदिका है। स्तम्भों की ऊँचाई चार फुट से साढ़े चार फुट तक की है। उनमें आपस में तनिक सा अन्तर है, यों वे सब बराबर के ही जान पड़ते हैं। इन स्तम्भों को भाँति-भाँति के अलंकरणों से भर दिया गया है। इनमें कहीं खिले हुए कमल दिखाई देते हैं, जो भारहुत से मिलते-जुलते हैं, कहीं जल-कुम्भ रखे हैं, जिनमें कमल-कलिकायें व पुष्प हैं। इस प्रकार के कमल हमें सांची के शिल्प में भी दिखाई देते हैं। इनमें पराग-कोष ऊपर दिखाई देता है और पत्तियाँ नीचे की ओर रहती हैं। इन स्तम्भों में वेदी पर त्रिरत्न, व ऐसे स्तम्भ भी दिखाई देते हैं जिनमें त्रिरत्न के ऊपर चक्र स्थित दिखाई देता है। इनमें स्तूप और बोधि-वृक्ष को भी आंका गया है। स्तूप के ऊपर हर्मिका है और हर्मिका पर छत्र तना हुआ है। बोधिवृक्ष के दोनों ओर मालायें लटक रही हैं। इनमें एक पर्णकुटी की आकृति है जिसे ऊपर से छाया गया है। सांची के तोरणों पर गांवों के चित्रण में इस प्रकार की कुटियायें दिखाई देती हैं। एक स्तम्भ पर गोलाकार में एक पुरुष दिखाई देता है। वह दोनों हाथों में नाल युक्त कमल-पत्र लिए हुए है। इसमें पुरुष के कटि से ऊपर के अंग आंके गए हैं, नीचे के भाग में तीन पत्तियों का अलंकरण है। स्पष्ट रूप से यह एक विदेशी अभिप्राय है। मूर्धन्य सिरदलों में से एक में एक अश्वारोही अपने घोड़े को तेजी से दौड़ाता हुआ लिए जा रहा है। सवार अपना घोड़ा फटकार रहा है। घोड़े के आगे के पैर उठे हुए हैं। अश्व के अंकन में ही उसकी तीव्र-गति की झलक दिखाई दे रही है। सवार के सिर पर लट्टूदार पगड़ी है, जैसी कि भारहुत के अर्ध-चित्रों में पुरुषों के सिर पर दिखाई देती है। दूसरे सिरदल में एक हाथी चलता जा रहा है। हाथी पर झूल पड़ी है। उसके ऊपर दो पुरुष बैठे हैं। इनमें से एक अंकुश लिए है और दूसरा एक झंडा पकड़े है। इस प्रकार के झंडे सांची के तोरणों में अनेक स्थलों पर दिखाई देते हैं। उन दिनों लकड़ी के ऊपरी भाग में एक मोटा कपड़ा बांध दिया जाता था।

गुप्त-युग से पहले की कुछ प्रतिमायें भी सारनाथ में प्राप्त हुई हैं। इनमें मथुरा की बनी हुई बोधिसत्व की वह मूर्ति भी है जो कनिष्क के शासन के तीसरे वर्ष में भिक्षु बल ने संघ को अर्पित की थी। इस प्रतिमा के सम्बन्ध में कला-समीक्षकों में मत-भेद रहा है। कुछ इसे सारनाथ की बनी हुई बुद्ध-प्रतिमा मानते हैं। इसके ऊपर एक विशाल छत्र तना हुआ था, जिसका व्यास लगभग दस फुट का है। यह सारनाथ के संग्रहालय में सुरक्षित है। यह टूट गया था और इसके दस टुकड़े हो गये थे। इनमें आठ खंड उपलब्ध हो सके हैं, जिन्हें जोड़ दिया गया है। इसमें बीच में एक विशाल कमल है। उसके चारों ओर गोलाकार हैं जिसे वर्गाकार खंडों में बांट दिया गया है। इनमें हंस, हाथी, मेढ़ा, हिरन आदि पशु हैं। यह सब पक्ष-युक्त हैं। एक बड़ा गोल आकार इसे भी घेरे हुए है जिसमें मत्स्यों का जोड़ा, शंख, स्वस्तिक, मोदकों या फलों से भरा हुआ पात्र आदि मांगलिक चिन्ह हैं।[१]

कुषाण काल में सारनाथ में भी प्रतिमायें बनने लगी थीं, इसका प्रमाण वहां की एक बोधिसत्व-मूर्ति है। यह लगभग छः फुट ऊँची है। यह चुनार के भुरभुरे पत्थर की बनी हुई है। इसका मुख और दाहिना हाथ जो अभय-मुद्रा में ऊपर उठा होगा, भग्न हो चुका है। शैली और वेश-भूषा आदि से यह मथुरा की बोधिसत्व-मूर्ति की अनुकृति सी जान पड़ती है। इसके ऊपर भी छत्र तना था। श्री दयाराम जी साहनी का मत है भिक्षु बल की प्रतिमा से प्रेरणा पाकर काशी के शिल्पकारों द्वारा यहीं अनेक प्रतिमायें बनने लगी थीं।[२]

सर जॉन मार्शल के निरीक्षण में यहां जो खुदाई हुई, उसमें गुप्त युग तथा मध्य काल की अनेक प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं। उनसे भारतीय मूर्ति कला में मानो एक नया अध्याय जुड़ गया है। इस कला-निधि से यह निश्चय हो चुका है कि गुप्त-युग में सारनाथ में एक अलग ही शैली पनप रही थी, जिसकी अपनी कुछ विशेषतायें थीं।

सारनाथ की गुप्त-काल की प्रतिमाओं में अपने युग की समस्त विशेषताओं का समावेश हुआ है। गुप्त-काल के शिल्प-कर्मियों ने प्रतिमाओं को बड़ी सावधानी और सफ़ाई के साथ तराशा है। आकृतियों के मुख पर एक आनन्द छलकने लगा है। अंग-प्रत्यंग में सौष्ठव और लावण्य भर गया है। उन्हें देखने से ऐसा

---

१. Catalogue of the Museum of Archaeology at Sarnath— Shri Daya Ram Sahni, Plate VIII.

२. [illegible] Page 37.

लगता है कि यह सचमुच स्वर्ण-काल के समृद्ध समाज के लोग है। इनके शरीर पर झीने वस्त्र हैं, जिसमें से शरीर के अंग झलक रहे हैं। ढाके के मलमल की बातें तो बहुत बाद की हैं। गुप्त-काल में हाथ के बुने हुए वस्त्र भी इतने बारीक और उत्कृष्ट कोटि के होते थे, इसकी कल्पना इस युग की शिल्प-कला से होती है। अलंकारों के सम्बन्ध में हम अजंता के बोधिसत्व पद्मपाणि के मुकुट की चर्चा कर चुके हैं। इस युग के आभूषण सांची या भारहुत जैसे भारी या मोटापन लिए नहीं होते थे। वे उस युग के संगीत, साहित्य और कला के प्रेमी नागरिकों की सौन्दर्य-वृत्ति और सुरुचि-सम्पन्नता का परिचय देते हैं। इस युग में शरीर पर पहले की अपेक्षा कम गहने दिखाई देते हैं। अधिकतर स्त्री और पुरुष मोतियों की मालायें पहने दिखाई देते हैं, जिनमें बीच में रत्न पुहे रहते थे। अन्य अलंकार भी हलके रहते थे किन्तु उनकी विविध प्रकार की डिजायनें बड़ी कलापूर्ण और मनमोहक रहती थीं। उन्हें आजकल भी बहुत पसन्द किया जाता है। अपनी अजंता-यात्रा में मेरी बम्बई के एक युवक से भेंट हुई थी। वह अजंता की भाँति-भाँति की डिजायनें उतार कर ले जाता था। जौहरी लोग उन्हें स्वर्णकारों को दे देते थे और उनके आधार पर नये गहने बनाये जाते थे।

गुप्त-युग की सबसे बड़ी विशेषता संयम के साथ रूप का समन्वय है। इसमें वह मादकता नहीं छलकती जो मथुरा के कुषाण-कालीन स्तम्भों पर उकेरे हुए स्त्री-पुरुषों में दिखाई देती है। डा० कुमारस्वामी ने इस कला के सम्बन्ध में लिखा है—

"With a new beauty of definition it establishes the classical phase of Indian art, at once serene and energetic, spiritual and voluptuous. The formulae of Indian taste are now definitely crystallised and universally accepted; iconographic types, and compositions, still variable in the Kashana period, are now standardised in forms, whose influence extended far beyond the Ganges valley, and of which the influence was felt, not only throughout India and Ceylon, but far beyond the confines of India proper, surviving to the present day." [१]

गुप्त काल की सारनाथ की प्रतिमायें अपनी विशिष्ठ अंकन-शैली से तुरंत ही पहचान ली जाती हैं। यह कुछ-कुछ बादामी रंग के चुनार के भुरभुरे या बलुआहे पत्थर की बनी रहती हैं। भगवान बुद्ध की खड़ी और बैठी दोनों प्रकार

१. History of Indian and Indonesian Art. Page 72.

की प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं।

नियमों के अनुसार भिक्षु त्रिचीवर अर्थात् तीन वस्त्र धारण करता था। नीचे का वस्त्र अन्तरवासक कहलाता था। यह एक पतली सी, सादा कटि-मेखला से बंधा रहता था। इसे कायबन्धन कहते थे। ऊपर के भाग पर जो वस्त्र रहता था, उससे एक अथवा दोनों कंधे ढके हुए रहते थे। सारनाथ की बुद्ध-प्रतिमाओं में यह इतना बारीक दिखाया गया कि शरीर के अंग झलक रहे हैं। खड़ी हुई प्रतिमाओं में भगवान का दायाँ हाथ अभय-मुद्रा में उठा रहता है। किसी-किसी प्रतिमा में इस हाथ की मुद्रा 'वरद' भी रहती है। बायें हाथ में वे कभी-कभी वस्त्र का छोर भी पकड़े दिखाई देते हैं। भगवान के केश छोटे-छोटे व दक्षिण की मुड़े हुये रहते हैं। उनके ऊपर इसी प्रकार के केशों का उष्णीष भी रहता है। उनके माथे पर बहुधा 'ऊर्ण' नहीं रहता, जैसा कि गान्धार शैली की मूर्तियों में दिखाई देता है। मुख कुछ गोलाई सी लिए रहता है। उनकी गर्दन में तीन शिकनें रहती हैं। कानों के कुण्डल लम्बे व कन्धों का स्पर्श करते हुए से रहते हैं। नाक के नथने कुछ चौड़ाई लिए रहते हैं। सिर के ऊपर का उष्णीष गुप्तकाल के प्रारम्भ की प्रतिमाओं में गोलाई लिए हुए रहता है, बाद की मूर्तियों में यह कुछ नुकीला दिखाई देता है।

सारनाथ की प्रतिमाओं में भगवान बुद्ध की धर्म-चक्र-प्रवर्तन मुद्रा की एक मूर्ति सबसे उत्कृष्ट समझी जाती है। उसमें गुप्तकाल की शैली की इन सब विशेषताओं का समावेश हुआ है। यह प्रतिमा पांच फुट तीन इंच ऊँची है। यह सन् १८०४-५ की खुदाई में जगतसिंह के स्तूप में प्राप्त हुई थी। भारतीय कला में इस प्रतिमा का एक गौरवपूर्ण स्थान है और विश्व के कला-समीक्षकों ने इसकी मुक्त-कंठ से सराहना की है। इसके माधुर्य और करुणा ने सभी को समान-रूप से मुग्ध कर लिया है। भगवान पद्मासन लगाये बैठे हैं। उनका अंग-प्रत्यंग मोम का ढला हुआ सा लगता है। उनके दाहिना हाथ का अंगूठा और उंगली मिलकर बायें हाथ की माध्यमिका उंगली का स्पर्श कर रही है। उनके सिर पर दक्षिणावर्तिम केश हैं और कुछ गोलाई सी लिए उष्णीष भी है। पलकें झुकी हैं मानो सारी प्रवृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो गई हैं और वे चिंतन में लीन हो गये हैं। मुख पर एक दिव्य शांति है। सम्बोधि प्राप्त करने वाले, मुक्तकाम तथागत ही मानो सम्मुख आकर बैठ गये हैं।

जिस आसन पर वह शोभित हैं, वह अत्यंत सुन्दर अलंकरण से युक्त है। उस पर नीचे दो पक्ष-युक्त शार्दूल हैं और उनके ऊपर मकरों की मुखाकृतियां है। प्रभामंडल अन्य प्रतिमाओं की अपेक्षा बड़ा है और आसन का ऊपरी भाग सा

लगने लगा है। गोलाकार प्रभा-मंडल कमलों से सज्जित है। उसके ऊपर दोनों ओर दो गन्धर्व उड़ते हुए दिखाई देते हैं जिसके हाथों में फूलों की माला हैं। एक के हाथ में चंवर है।

भारतीय कला की अनेक शिल्प-शैलियों में, भगवान बुद्ध को अन्य आकृतियों की अपेक्षा आकार में बड़ा दिखाने की वृत्ति दिखाई देती है। अजंता की सत्रहवीं गुफा के 'भगवान बुद्ध के प्रत्यागमन' के विषय में हम चर्चा कर चुके हैं। सारनाथ की गुप्त-कला में एक नई शैली अपनाई गई। इसमें प्रतिमा को तो बड़े आकार ही बनाया गया किन्तु उसके नीचे आसन पर उनके जीवन-सम्बन्धी दृश्य अर्ध-चित्रों के रूप में अंकित किये गये। जिस प्रतिमा की चर्चा हम कर रहे हैं, उसमें भी एक दृश्य उकेरा गया है। इसमें एक वेदी पर चक्र रक्खा हुआ है, उसके दोनों ओर दो हिरण बैठे हैं। पंच भद्रवर्गीय भिक्षु चक्र के हाथ जोड़े हैं। उनके पीछे एक नारी-मूर्ति है जिसके साथ एक बालक है। सम्भव है कि यह उस स्त्री की आकृति हो, जिसने कि इस प्रतिमा को बनवाकर संघ को दान किया हो। इन सब आकृतियों का आकार छोटा है। इस प्रकार प्रतिमा और जीवन-सम्बन्धी दृश्य एक मूर्ति में ही अंकित हो गये हैं। सांची, भारहुत, अमरावती या गान्धार की कला में यह शैली दिखाई नहीं देती। गान्धार में बुद्ध अथवा बोधिसत्व की प्रतिमायें पृथक् रूप से बनाई जाती थीं और जातक कथाओं या भगवान के जीवन-प्रसंगों को अलग से शिला-फलकों पर बनाया जाता था। सारनाथ में भगवान बुद्ध की प्रतिमा को जो मुद्रा रहती, उसी से सम्बन्धित घटना आसन पर उकेरी जाती, मानो एक पूर्व-स्मृति जागृत की जा रही हो। इस प्रतिमा में भगवान की मुद्रा धर्म-चक्र-प्रवर्तन की है, इसी लिए पंचवर्गीय भिक्षु और चक्र दिखाई देते हैं। यह घटना मृग दाव की है, यह दिखाने के लिए चक्र के दोनों ओर हिरणों की जोड़ी बना दी गई है। जिन प्रतिमाओं में भगवान की भूमि-स्पर्श मुद्रा रहती है, उनमें मार की पराजय का दृश्य अथवा पृथ्वी दिखाई देती है। सारनाथ में आसन पर बैठे हुए भगवान बुद्ध की मूर्ति है। इसका मुख, भुजायें और प्रभा-मंडल का भाग भी भग्न कर दिया गया है। भगवान का एक हाथ उनकी गोद में है और दूसरे से वे आसन को स्पर्श कर रहे हैं। इस भग्न-प्रतिमा में बचे हुए अंग भी बड़े सुन्दर हैं। संघाटी एक कंधे को ढके हुए है। उसकी किनार यज्ञोपवीत जैसी लगती है। चौड़ा वक्ष और क्षीण कटि-प्रदेश उनकी शाक्य सिंह की उपमा को सार्थक करता है। यह प्रतिमा भी उसी शिल्पी की कृति जान पड़ती है जिसने धर्म-चक्र प्रवर्तन को मूर्ति का स्वरूप दिया है। भग्न होने से पूर्व यह सौन्दर्य और भाव-मयता में उससे किसी प्रकार कम

नहीं होगी। इस टूटी हुई प्रतिमा को देखकर मन उन धर्मान्धों के प्रति आक्रोश से भर उठता है, जिन्होंने स्वर्ग की श्री संडहर में बदल दी। धर्म-चक्र प्रवर्तन की प्रतिमा की नासिका का अग्र भाग भी तोड़ दिया गया है। भू-स्पर्श मुद्रा की इस प्रतिमा के आसन के नीचे के भाग में पृथ्वी हाथ जोड़े हुए बैठी है और मार की अप्सरा भागती हुई दिखाई देती है।[१]

एक अन्य प्रतिमा में भगवान बुद्ध 'बोधिमंड' पर आसीन दिखाई देते हैं। प्रतिमा भग्न हो गई है। मुख टूट गया है। वे भूमि-स्पर्श मुद्रा में बैठे हुए हैं। ऊपर के वस्त्र संघाटी से बायां कन्धा ढंका हुआ और दाहिना अनावृत है। सारनाथ की बुद्ध-प्रतिमाओं में जहाँ वे भूमि-स्पर्श मुद्रा में दिखाई देते हैं, वहाँ केवल एक कन्धा ही संघाटी से ढका हुआ रहता है, जिससे कि दाहिना हाथ, जो भूमि को स्पर्श करता है खुला रहे। इसमें भी नीचे आसन पर एक अर्ध-चित्र दिखाई देता है। भगवान की प्रतिमा के पीछे प्रभा-मंडल दिखाई देता है। उसके ऊपर पीपल का पेड़; बोधिवृक्ष आंका गया है। मार एक ओर अपने हाथों में धनुष और बाण लिए हुये खड़ा है। भगवान के सामने उसकी तीन कन्याओं में से एक हाव-भाव प्रदर्शित करती हुई खड़ी है।[२] सारनाथ में और भी कई प्रतिमाओं के नीचे मार-पराजय के दृश्य दिखाई देते हैं।[३]

सारनाथ के कुछ शिला-पट्टों में जिन्हें ऊर्ध्व-पट्ट कहा जाता है, पृथक् रूप से भगवान बुद्ध के जीवन के महत्वपूर्ण दृश्य उकेरे गए हैं। यह गुप्तकाल के हैं और उनकी मूर्तियों में इस काल की विशेषताओं की झलक दिखाई देती है। एक ऊर्ध्वपट्ट में चार दृश्यों का समावेश है। लुंबिनी कानन में माया देवी खड़ी हैं। वे एक हाथ से शाल वृक्ष को पकड़े हैं। इन्द्र और प्रजापति शिशु को ले रहे हैं। इस अंश में नन्द और उपनन्द नाग घटों से शिशु के ऊपर जल उड़ेल रहे हैं। यह अंश इस घटना के अंकन में और कहीं नहीं दिखाई देता। इसके ऊपर मार-विजय का दृश्य है। तीसरे दृश्य में धर्म-चक्र परिवर्तन की घटना है। इसमें बुद्ध के दोनों ओर दो बोधिसत्व खड़े दिखाई देते हैं। इनमें से एक मैत्रेय हैं। वे एक प्रफुल्लित पद्म पर खड़े दिखाई देते हैं। उनके दाहिने हाथ में चंवर है तथा बायें हाथ में अक्षमाला। दूसरी ओर पद्मपाणि हैं। उनके एक हाथ में खिला हुआ कमल है और दूसरा वरद मुद्रा में है। सबसे ऊपर का

---

१. Catalogue of the Museum of Sarnath, Plate IX

२. Catalogue of the Museum of Archaeology at Sarnath, Page 65 B. (b) 179.

३. [illegible] B. (b) 173.

दृश्य भगवान के महा परिनिर्वाण का है। इसमें वे शय्या पर लेटे हैं। एक भिक्षु उनके सिरहाने बैठा हुआ पंखा कर रहा है। पीछे भिक्षु-गण चिंता-मग्न खड़े हैं। पलंग के नीचे कुछ भिक्षु अत्यंत दुःखी बैठे हैं, यह उनकी मुद्राओं से ही स्पष्ट हो जाता है। यह दृश्य अजंता के शिल्प में भी दिखाई देता है। पूरा ऊर्ध्व पट्ट जिसमें चारों दृश्य दिखाई देते हैं, चार फुट पांच इंच का है।[1] इसमें इतनी छोटी-छोटी आकृतियों को इतनी सफाई के साथ उकेरा गया है कि देखकर आश्चर्य होता है। प्रत्येक आकृति भाव-पूर्ण है। उसमें वही सौष्ठव व लालित्य दिखाई देता है जो गुप्त-काल की बड़ी प्रतिमाओं में।

सारनाथ के एक अन्य ऊर्ध्व पट्ट में भगवान के जीवन के आठ प्रसंग प्रस्तरांकित किए गये हैं। इसमें वानरों की श्रद्धापूर्ण भेंट, श्रावस्ती का चमत्कार, हाथी को वश में करना तथा सांकाश्य में स्वर्ग से आरोहण भी सम्मिलित कर लिए गए हैं। यह ऊर्ध्व पट्ट इससे भी छोटा, केवल तीन फुट का है।[2] सारनाथ का एक अन्य शिला-पट्ट गुप्त कला का एक अत्यंत सुन्दर और सफल नमूना है।[3] इसमें भगवान के जीवन को चार खंडों में ही अंकित किया है किन्तु प्रत्येक खंड में एक साथ ही दो-तीन घटनाओं का समावेश कर दिया गया है। ऊपर का भाग टूट गया है और महा परिनिर्वाण का दृश्य नहीं है। सबसे नीचे के दृश्य में एक ओर माता महामाया एक पर्यंक पर लेटी हुई दिखाई देती हैं। उनके शरीर पर अत्यंत कम गहने हैं, हाथों में कंकण, गले में मोतियों की पतली सी माला और कानों में गोल कुंडल। उनके बाल घुंघराले व लहरियोंदार हैं। उनके पांवों की ओर एक दासी बैठी हुई उनके पैर दबा रही है। सिरहाने दो दासियाँ चंवर लिए खड़ी हैं और एक पंखा झल रही है। आकाश-पथ से एक हाथी दौड़ता हुआ आ रहा है। दूसरी ओर महामाया शालभंजिका मुद्रा में खड़ी हैं। वे अनिंद्य सौन्दर्य-शालिनी हैं। उनके शरीर के भंग ने और भी सुकुमार्य भर दिया है। सामने खड़े इन्द्र नीची दृष्टि किए शिशु को अपनी गोद में ले रहे हैं। फिर एक खिले पद्म पर शिशु बुद्ध खड़े दिखाई दे रहे हैं। दो नाग जल-कुंभ लिए उन्हें नहला रहे हैं। उनकी आकृति पुरुषों की है, केवल उनके प्रतीक नाग-फन सिर पर दिखाई देते हैं। यह एक नया अंश है जो इस घटना के अंकन में गुप्तकालीन कला से पूर्व कहीं नहीं दिखाई देता। यों यह प्रसंग कलाकारों को अत्यंत प्रिय रहा

१. Catalogue of the Museum of Sarnath, Page 183. C. (a) 1.

२. वही– Page 188. C. (a) 3.

३. वही– Page 186. C. (a) 2.

है और भारहुत व गान्धार के शिल्प में भी दिखाई देता है। इस ऊर्ध्वपट्ट में एक और विशेषता दिखाई देती है। माया देवी को अन्य सब आकृतियों से आकार में बड़ा बनाया गया है, मानो शिल्पी शिशु-जन्म की इस घटना में माता को ही अधिक महत्ता दे रहा हो।

इससे ऊपर महाभिनिष्क्रमण का दृश्य है जिसमें एक ओर भगवान बुद्ध पद्मासन लगाये, अपने दोनों हाथ गोद में रक्खे हुए तपस्या में लीन हैं। उनके निकट एक अन्य व्यक्ति खड़ा है जिसके हाथ में थैली है। इन दोनों के मुख-भाग की ओर ऊर्ध्वपट्ट टूटा हुआ है, जिससे कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता। दूसरी ओर पांच घटनायें हैं। एक में सिद्धार्थ कन्थक पर चढ़ कर जा रहे हैं। फिर वे अपने वस्त्र छंदक को देते हुए दिखाई दे रहे हैं। इसके ऊपर वे तलवार से अपने केश काट रहे हैं। इसके एक ओर सुजाता भगवान को खीर अर्पित कर रही है और दूसरी एक नाग उनके हाथ जोड़े खड़ा है। तीसरे खंड का ऊपर का भाग भग्न हो गया है। इसमें दो घटनाओं का समावेश हुआ है। इसमें दो बड़ी प्रतिमायें और उनके आसन के नीचे उन्हीं से सम्बन्धित दो दृश्य हैं; एक मार-पराजय और दूसरा धर्म-चक्र प्रवर्तन। मार पराजय में पृथ्वी घट लिए हुये खड़ी है और अप्सरा भागती हुई दिखाई देती है। धर्म-चक्र-प्रवर्तन की प्रतिमा के नीचे चक्र है और उसके नीचे दोनों ओर दो हिरण बैठे हैं। यह शिलापट्ट गुप्त काल के अंकन का एक अत्यंत उत्कृष्ट नमूना है जिसके आगे गान्धार शैली के वे शिल्प-चित्र बिलकुल निष्प्रभ, और भावहीन दिखाई देते हैं जिनकी प्रशंसा में पाश्चात्य समीक्षकों ने अनेक ग्रंथ लिख डाले हैं। सारनाथ के इन ऊर्ध्वपट्टों पर किसी प्रकार का कोई विदेशी प्रभाव नहीं है।

सारनाथ की बुद्ध-प्रतिमाओं में जो गुप्त काल के अंतिम चरण की हैं, उनके दोनों ओर बोधिसत्व मैत्रेय और अवलोकितेश्वर दिखाई देते हैं। इनमें मैत्रेय के हाथों में अक्षमाला तथा अमृत-घट दिखाई देता है। बोधिसत्व पद्मपाणि के एक हाथ में कमल रहता है और दूसरे हाथ की मुद्रा वरद रहती है।

बोधिसत्वों की पृथक् प्रतिमायें भी सारनाथ के शिल्प में प्राप्त हुई हैं। गुप्त-युग में पांचवी सदी में अवलोकितेश्वर या पद्मपाणि और मैत्रेय केवल दो ही बोधिसत्वों की प्रतिमायें बनीं। वज्रपाणि, मंजुश्री आदि की मूर्तियां भी मिलती हैं पर वे मध्य-काल की हैं। भगवान बुद्ध की प्रतिमाओं में उन्हें वीतराग योगी दिखाया जाता है जिसकी भौतिक इच्छायें नष्ट हो चुकी हैं। उसे न रत्नजड़ित मुकुटों की आवश्यकता है, न मोतियों के आभूषणों की और न राजकीय परिधान की। वह तो इन सब बन्धनों को तोड़कर ही बोधिवृक्ष के नीचे आकर बैठ-

गया है किन्तु बोधिसत्व समाज में रह कर ही लोक-कल्याण करता है, इसलिए उसे यह सब वस्तुयें शोभा देती हैं। भारतीय कला में बोधिसत्वों का अंकन जातक कथाओं से प्रारम्भ हुआ अतः स्वाभाविक रूप से उनको समाज के सम्भ्रांत वर्ग के परिधान व आभूषणों से शोभित दिखाया गया। यद्यपि पद्मपाणि, वज्रपाणि या मैत्रेय इस लोक के प्राणी नहीं थे फिर भी उनके अंकन में जातकों की वही पूर्व-परम्परा गृहण की गई। सारनाथ में अवलोकितेश्वर की साढ़े चार फुट की एक अतीव मनोहारिणी प्रतिमा है।[1] यह चारों ओर से कोर कर बनाई गई है। सारनाथ के शिल्प में केवल यही प्रतिमा है जिसे कोर कर पाषाण-खंड से अलग कर दिया गया है। वे एक प्रफुल्लित पद्म पर अत्यंत शांत मुद्रा में खड़े हैं। उनकी दृष्टि नीची है और सिर भी कुछ झुका हुआ है। उनके शरीर पर महीन वस्त्र हैं, जिसमें से भीतर के अंग झलक रहे हैं। कमर में पतली सी किन्तु कलापूर्ण कटि-मेखला है। गले में मोतियों की माला है। एक पतली सी लड़ी यज्ञोपवीत की भाँति पड़ी है। उनके सिर पर जटा-मुकुट है और उसमें अमिताभ की छोटी सी मूर्ति है। उनके एक हाथ में कमल है। दूसरा भग्न हो गया है। इस मूर्ति में सौम्यता व शांति के साथ दिव्य सौन्दर्य का जो मिलन हुआ है, वह गुप्त-काल के बाद की मूर्तियों में कहीं नहीं दिखाई देता।

गुप्त काल में भगवान बुद्ध की कुछ धातु-प्रतिमायें भी बनीं। इनमें भागलपुर जिले के सुल्तान गंज नामक स्थान से प्राप्त साढ़े सात फुट की एक विशालकाय मूर्ति भी है।[2] लगभग एक टन भारी, तांबे की इस प्रतिमा का समय ४०० ई. माना जाता है। मथुरा की यश दिन्न की गुप्त-कालीन प्रतिमा के समान ही इसमें भी भगवान बुद्ध खड़े दिखाई देते हैं। उनका एक हाथ अभय मुद्रा में उठा है। संघाटी से दोनों कंधे ढके हुए हैं, जिस पर सिकुड़नें दिखाई देती हैं। यह गान्धार कला की अपनी विशेषताओं में से एक है। गान्धार कला का थोड़ा बहुत प्रभाव मथुरा के शिल्प पर पड़ा है। दिन्न की बुद्ध-प्रतिमा में भी इसी प्रकार की लहरियाँ या सिकुड़नें दिखाई देती हैं। संघाटी पारदर्शी है और उसमें से भगवान का वक्ष, नाभि और कटि-प्रदेश झलक रहा है। उनके केश दक्षिणावर्तिन हैं और उन पर उष्णीष भी है। उनके नेत्र अर्ध-मुकुलित हैं, कानों में लम्बे कुंडल हैं फिर भी मुख पर वह सौष्ठव तथा भावमयता नहीं है जो मथुरा की मूर्ति में है। अपनी शैली से यह धातु-मूर्ति सारनाथ की अपेक्षा गुप्त-

---

१. Catalogue of the Museum of Sarnath, Page 118, B. (d) I.

२. History of Fine Arts in India and Ceylon, fig 118

काल की मथुरा शैली के ही निकट जान पड़ती है। ऐसी ही एक विशाल धातु-प्रतिमा नालंदा के संग्रहालय में भी है, जो अपेक्षाकृत अधिक भावपूर्ण है। बोस्टन के संग्रहालय में भी इसी युग की, इसी शैली की एक धातु-प्रतिमा है। इसका एक हाथ तथा पैर का निचला भाग खंडित कर दिया गया है। इसमें भगवान के अधरों पर एक मंद मुस्कान खेल रही है तथा उनके माथे पर ऊर्ण दिखाई देता है।[1] कांगड़ा में भी बुद्ध की पीतल की एक बैठी हुई प्रतिमा प्राप्त हुई है। यह सारनाथ की किसी धातु-प्रतिमा की अनुकृति सी जान पड़ती है। अंकन-शैली और भावाभिव्यक्ति किसी भी दृष्टि से यह उत्कृष्ट नहीं कही जा सकती।[2]

गुप्त-काल की कुछ पाषाण-प्रतिमायें अजंता की उन्नीसवीं गुफा आदि में हैं, तथा वहीं नाग राज की एक बैठी हुई मूर्ति भी है। इन सब की चर्चा अजंता के प्रकरण में की जा चुकी है। अजंता के प्रवेश-द्वारों पर भी अनेक मूर्तियाँ आंकी गई हैं तथा भीतरी भाग में चैत्यों पर भी हैं। यह उतनी सफल कृतियाँ नहीं कही जा सकतीं, जितनी सारनाथ की। यही बात औरंगाबाद की गुफाओं की बुद्ध-प्रतिमाओं के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। कन्हेरी के गुहा-मंदिर के बाह्य-भाग में गुप्त-काल की कुछ प्रतिमायें हैं। इनमें अवलोकितेश्वर भी हैं। यह प्रतिमायें कुछ भारीपन लिए हैं। उनके अंगों में वह सुकुमार्य, लावण्य और लोच नहीं दिखाई देता जो सारनाथ की मूर्तियों में रहता है। सच तो यह है कि जब मूर्ति स्थापत्य के एक अंग के रूप में उकेरी जाती है तब वह अपना निजी व्यक्तित्व खो बैठती है।

गुप्त सम्राट वास्तु-कला के भी बड़े प्रेमी थे। उनके काल में अनेक स्तूपों की भी रचना हुई। इनमें से अधिकांश स्तूप पश्चिमोत्तर प्रदेश में ही बने। मीरपुर खास और तक्षशिला के स्तूप अपनी वास्तु-शैली के कारण अत्यंत महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। यह दोनों स्तूप चौकोर आधार पर स्थित हैं। मीरपुर खास के स्तूप में तीन छोटे-छोटे कमरे पश्चिम की ओर हैं।

मीरपुर खास का स्तूप ईंटों का बना हुआ है। इसमें स्तूप के साथ विहार को भी जोड़ दिया है। यह शैली ब्रह्मदेश आदि में बहु प्रचलित हुई किन्तु भारत में यह अपने ढंग का अकेला 'विहार सहित स्तूप' है। इसमें कुछ रंगी हुई मृण्मय मूर्तियाँ भी मिली हैं। सम्राट अशोक के समय में जो स्तूप बनते थे वह गोलार्ध के

---

1. History of Indian and Indonesian Art, fig. 160
2. ... fig. 163.



बुद्ध गया

रहते थे। धीरे-धीरे उनके इस स्वरूप में परिवर्तन हो गया और उसका आकार ढोल जैसा हो गया फिर भी नीचे का भाग अर्ध गोलाकार ही रहा किन्तु पश्चिमोत्तर प्रदेश में इस शैली में भी परिवर्तन हुआ। उनके नीचे एक चौकोर आधार-भूमि रहने लगी। उसके ऊपर नक्काशीदार ईंटों से स्तूप की रचना की गई। इसमें आले भी बनाये जाने लगे और उनमें मूर्तियाँ स्थापित कर दी गईं। गुप्त युग की वास्तु-शैली की एक विशेषता हैं, भवनों के बाह्य भाग में उकेरी गई मूर्तियाँ। यह विशिष्ठता अजंता की चौदहवीं और उन्नीसवीं गुफाओं आदि में दिखाई देती है। यद्यपि अमरावती के स्तूप के ऊपर के फलकों पर भी अर्ध-चित्र दिखाई देते हैं, किन्तु इन दोनों में अंतर है। गुप्त कालीन गुहा-गृहों में प्रवेशद्वार पर खड़ी अथवा बैठी हुई मूर्तियाँ बनाई जाती हैं। इस शैली का विकास मध्यकालीन या उत्तर मध्यकालीन मन्दिरों में दिखाई देता है, जिनमें उनके बाहरी भाग को शिल्प-कृतियों से भर दिया गया हैं। गुप्तकाल के मन्दिरों में नीचे दीवाल पर और स्तूपों में भी प्रतिमायें दिखाई देती हैं। गान्धार प्रदेश के इस मीरपुर खास के स्तूप में मिट्टी की जो मूर्तियाँ मिली हैं, उनको रंग दिया गया है। शरीर की रंग गेहुंआ, बालों और आँखों का काला तथा वस्त्रों का लाल रंग रखा गया है।

गान्धार प्रदेश में तक्षशिला का भल्लड़ स्तूप भी मीरपुर खास की भांति ही चौकोर आधार पर स्थित है।

विहार और उत्तर-प्रदेश सम्राट अशोक के शासन-काल में अनेक स्तूपों से पूर्ण रहे होंगे। विहार में उस काल के स्तूप बोध-गया व लौरिया आदि में प्राप्त हुये हैं। बोध-गया के स्तूप के चारों ओर तो एक वेदिका भी थी जिनके स्तम्भों की कला का वर्णन किया जा चुका है। वैशाली और राजगृह में दो स्तूपों का भगवान बुद्ध के अवशेषों पर बनाया जाना प्राचीन बौद्ध वाङ्मय से सिद्ध होता है। राजगृह का स्तूप महाराज अजात शत्रु ने बनवाया था और वैशाली का लिच्छिवि गण ने। गुप्त-सम्राटों ने इनकी गणना और आगे बढ़ाई और नये स्तूप बनवा कर पुण्य-लाभ लिया। इस काल के स्तूपों में से एक राजगृह का प्राचीन स्तूप है, जिसे जरासन्ध की बैठक कहते हैं। राजगृह में ही गुप्त-सम्राटों की अक्षय कीर्ति का स्मारक मनियार मठ भी है जिसमें आंकी गई प्रतिमाओं में गुप्त-कला की समस्त विशिष्ठताओं का समावेश हुआ है।

सारनाथ का धमेख स्तूप इसी काल का एक उत्कृष्ट नमूना है। इसके नीचे चौकोर आधार नहीं है वरन व्यास गोलाकार है। उसके ऊपर ढोल की आकृति का एक सौ अट्ठाइस फुट ऊँचा स्तूप है। इसकी ईंटों पर बेलों और पुष्पों

का अत्यंत कला-पूर्ण कटाव है। इसमें आले बने हुये हैं, जिनमें भगवान बुद्ध की प्रतिमायें रक्खी गई होगीं। स्तूप में सबसे नीचे आधा या पेंदा है, उसके ऊपर ढोल के आकार का मध्य-भाग या गुम्बद है और सबसे ऊपर सम्भवतः हर्मिका और छत्रावलि रही होगी। स्तूप का ईटों की नक्काशी आदि से यह छठवीं शताब्दी की गुप्त-सम्राटों के युग की वास्तु-रचना प्रतीत होता है। अब तो इसकी शोभा नष्ट हो गई है और एक ओर का भाग भी भग्न हो चुका है।

गुप्त-युग के मन्दिरों की स्थापत्य-शैली वास्तुकला में एक नये अध्याय को जोड़ती है। इससे पहले के मन्दिरों के साहित्य में उल्लेख तो मिलते हैं किन्तु उनका कोई उत्कृष्ट उदाहरण प्राप्त नहीं होता। इस युग के हिन्दू मन्दिरों में, नचना कोठारी (बुंदेलखंड) भूमरा (नागोद) एहोले आदि सफल और कलापूर्ण कृतियाँ माने जाते हैं। देवगढ़ का गुप्त-युगीन मन्दिर अपने उत्कृष्ट शिल्प के लिए अत्यंत प्रसिद्ध है। इसमें विष्णु के दशावतार तथा रामायण के पाषाण-चित्र मनोमुग्धकारी हैं।

बोधगया का इतिहास मौर्य काल से प्रारम्भ होता है। सम्राट अशोक के समय यहाँ उन्हीं का बनवाया हुआ एक चैत्य तथा विहार था। उसे बाद में एक वेष्टिनी से घेर दिया गया। इसे प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व में राजा इन्द्राग्निमित्र की राजमहिषी कुरांगी ने बनवाया था। वेदिका के स्तम्भों तथा सूचियों पर पशुओं तथा पुष्पों के अलंकरण दिखाई देते हैं। स्तम्भों पर जेतवन दान, बोधि वृक्ष की उपासना आदि के अर्ध-चित्र उकेरे गये हैं। इनमें कहीं रथारूढ़ सूर्य दिखाई देते हैं तो कहीं शांति-इन्द्र खड़े हैं।

बोधगया की इस वेदिका की चर्चा चीनी यात्री हुएनसांग ने की है। उन्होंने इसकी ऊँचाई दस फुट की बतलाई है। बोधगया के पुन्य-स्थल को प्राचीन काल में 'वज्रासन गन्ध-कुटी विहार' कहते थे। यही यहाँ के वज्रासन पर अंकित भी है।[2] हुएन सांग ने इसका 'महाबोधि विहार' के नाम से उल्लेख किया है। पुरातत्व-शास्त्रियों में इसका यही नाम बहु-प्रचलित भी है। चीन के इन आचार्य ने बोधगया का जो वर्णन किया है, वह उसके आज के स्वरूप से भिन्न नहीं है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह सातवीं शताब्दी में भी इसी रूप में विद्यमान था। यद्यपि इसकी मरम्मत कई बार की जा चुकी है। सबसे पहले बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ब्रह्मदेश के निवासियों ने इसे ठीक कराया फिर उन्हीं के

1. Mahabodhi, Cunningham.
2. Hiuen Tsang, by Beal.

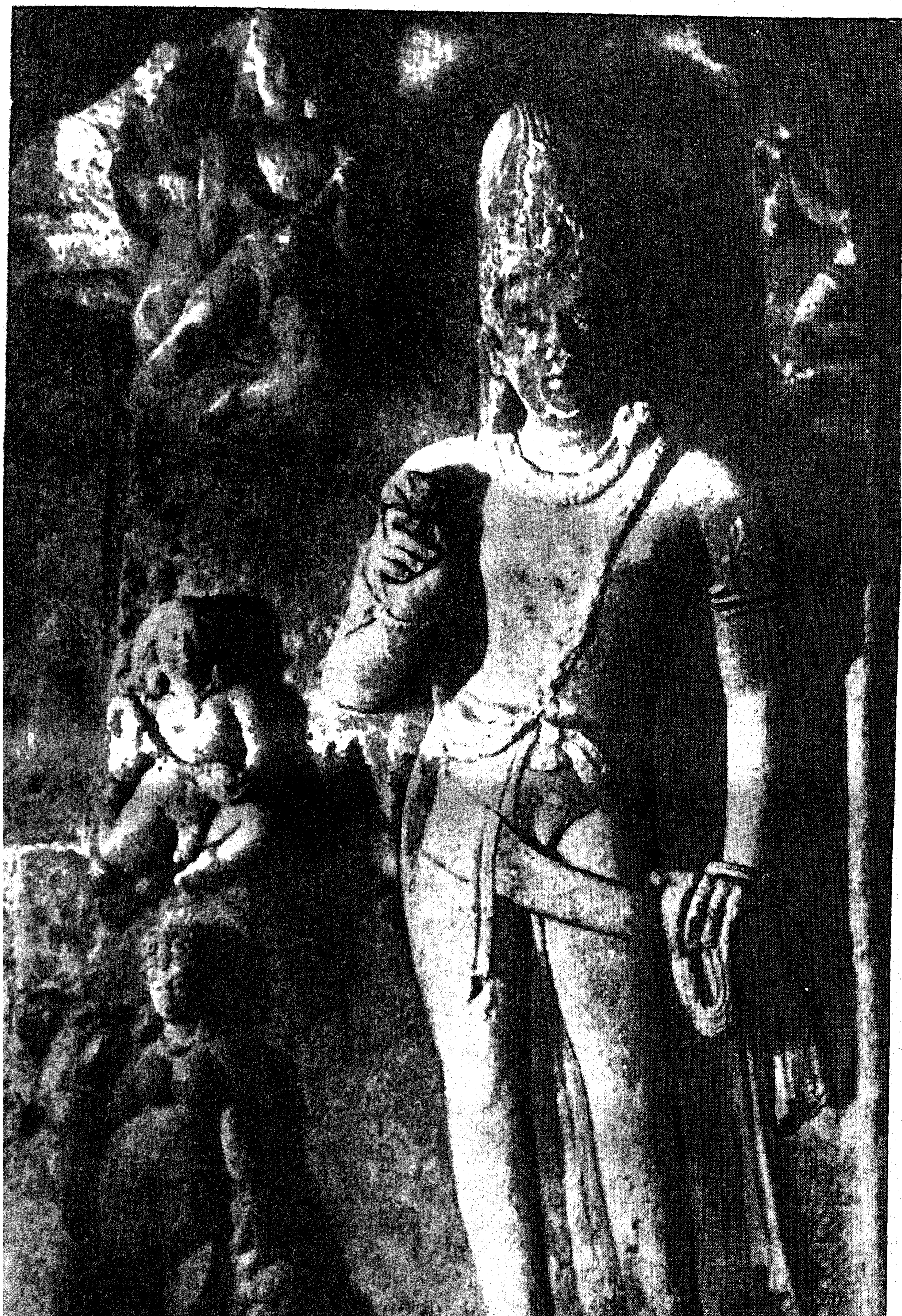
द्वारा तेरहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में इसकी मरम्मत की गई। सन् १९८०-८१ में यह जीर्ण होता हुआ दिखाई देने लगा तब पुरातत्व विभाग द्वारा इसकी पुनः संवार-सुधार की गई।

गगनचुम्बी शिखर का यह विशाल मंदिर एक बहुत ऊँचे चबूतरे पर बनाया गया है। इसके नौ खंड हैं। प्रत्येक खंड में आमलक के कोने हैं। इसमें अनेक छोटे-छोटे ताख हैं जिनमें भगवान बुद्ध की प्रतिमायें प्रतिष्ठित थीं। प्रदक्षिणा के कोने पर चार छोटे-छोटे मन्दिर और हैं जो विशाल मन्दिर की आकृति की अनुकृति ही जान पड़ते हैं। एक लम्बी, पतली सी खिड़की प्रवेश-द्वार के ऊपर बनी है, जिससे प्रकाश भीतर जाता है। हुअेनसांग ने सातवीं शताब्दी में जिस बोधिवृक्ष को देखा था, उसके सम्बन्ध में तो कुछ नहीं कहा जा सकता किन्तु प्रदक्षिणा के चबूतरे पर पश्चिम की ओर के भाग में एक पीपल का वृक्ष १८७६ तक खड़ा था। हुअेन सांग का कथन है कि यह मंदिर उसी स्थान पर बना है जहाँ प्राचीन 'वज्रासन गन्ध कुटी विहार' था। बोधिवृक्ष के लिए प्रकाश की आवश्यकता थी इसलिए उसे बाहर ही रहने दिया गया।

महाबोधि मन्दिर के नौ खंडों में से प्रत्येक की बनावट एक जैसी है, अन्तर केवल इतना है कि ऊपर का खंड उत्तरोत्तर छोटा होता चला गया है। मन्दिर के भीतरी भाग में मध्यकाल की अनेक प्रतिमायें हैं, जिनमें महायान के देवगण हैं। बोधगया की प्राचीन बोधिसत्व मूर्ति का उल्लेख किया ही जा चुका है।

पूर्व मध्य कालीन कला

उत्थान और पतन जीवन-चक्र के दो खंड हैं, कभी एक ऊपर आता है तो कभी दूसरा। इस परिवर्तन का नाम ही संसार है। जिन महा पराक्रमी समुद्र गुप्त की चतुरंगिनी सेना को देखकर शत्रुओं के हृदय भय से प्रकम्पित हो उठते थे, जिन महाबाहु स्कंद गुप्त ने सागर की लहरों सी हूण सेना के प्रबल वेग को रोक दिया था, उनके साम्राज्य का भी पराभव हो गया। महासेन गुप्त और शशांक गुप्त के शासन-काल में गुप्त-साम्राज्य की दशा जर्जर जल-पोत जैसी हो गई। उधर पंचनद प्रदेश में थानेश्वर के राजा प्रभाकरवर्द्धन के तेज का सूर्य अपनी प्रखर किरणों से चमक रहा था। वे महासेन गुप्त के बहनोई थे। प्रभाकर वर्द्धन के पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र राज्य वर्धन राज्य-सूत्र को ग्रहण करने वाले थे किन्तु उन्हें युद्ध में छल पूर्वक मार डाला गया और फिर हर्ष वर्द्धन उत्तरापथ के सम्राट बने। कन्नौज उनकी राजधानी बनी। यह सन् ६०६ की घटना है। हर्ष वर्धन स्वयं बड़े उदार हृदय शासक थे। वे शैव, भागवत और बौद्ध सभी धर्मों को सम्मान की दृष्टि से देखते थे। सूर्य, शिव और बुद्ध उनके परिवार के देवता थे। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने संगम पर खड़े होकर अपने शरीर के वस्त्रों तक का दान कर देने वाले हर्ष वर्धन की कीर्ति का इतना सजीव वर्णन किया है कि प्राचीन भारत के उस महान सम्राट के प्रति मन आज भी श्रद्धा से भर उठता है किन्तु चन्द्र, चन्द्र है और सूर्य, सूर्य। चन्द्र शुभ्र ज्योत्स्ना छिटका सकता है किन्तु कमलों की मुंदी पंखुड़ियों को नहीं खिला सकता। गुप्त-युग के सरोवरों में खिले पद्म; कला के रूप और अभिप्राय मुरझाते गये किन्तु उनकी सुरभि कुछ काल तक वायु-मंडल में व्याप्त रही। गुप्त काल (३२० ई० से ६०० ईसवी तक) समाप्त हो गया किन्तु कला की शैलियों पर कुछ समय तक उसका प्रभाव बना रहा इसीलिए सातवीं शताब्दी में भी कला की उत्कृष्ट कृतियों का सृजन हुआ। बौद्ध गुहा मन्दिरों से प्रेरणा लेकर एलोरा की रामेश्वर गुफा आदि का निर्माण हुआ। अजंता की छब्बीसवीं गुफा भी



बोधि सत्व–एलोरा

इसीं काल की है। अजंता की पहिली और दूसरी गुफाओं के भित्ति-चित्र सातवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल के हैं। उनमें भारतीय चित्रकला अपने चरम उत्कर्ष पर दिखाई देती है। उसमें भाव-व्यंजना और दिव्य-सौन्दर्य का अनुपम समन्वय हुआ है। इस युग की वास्तुकला का एक सर्वांग-सुन्दर नमूना मध्यप्रदेश के रायपुर जिले में सिरपुर का लक्ष्मण मंदिर है। उन दिनों दक्षिणापत्य में चालुक्यों का शासन था। उन्होंने बादामी में एक अत्यंत सुन्दर मंदिर बनवाया जिसके बाह्य भाग में भी अत्यंत भावमयी प्रतिमायें उत्कीर्ण की गई हैं।

सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में नालंदा की ख्याति देश की सीमा पार करने लगी और ज्ञान-पिपासु उसके द्वार तक आने लगे। उसके भवनों के शिखर बोधगया के मन्दिर के समान ऊँचे थे, यह हुअेनसांग के यात्रा-वृतांत से ही ज्ञात होता है। नालंदा भारतवर्ष का एक महान विद्या-मंदिर था। उसके स्तूप, चैत्य और विहारों के भग्नावशेष अब भी गत वैभव की कथा सुना रहे हैं। चैत्यों के आधार बहुत ऊँचाई पर बनाये गये थे और उन पर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ बनवा दी गई थीं। नालंदा में भी गुप्त-युग की वास्तु-शैली की वही विशेषता दिखाई देती है, जिसकी चर्चा हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। इसके नीचे की ओर अनेक पाषाण मूर्तियाँ हैं। उनमें पच्चीकारी भी की गई है। नालंदा की इन पाषाण-मूर्तियों की संख्या दो सौ इक्कीस है। इन सब पर गुप्त-युग की मूर्तिकला का स्पष्ट प्रभाव है। विहार में मनियार मठ के निचले पाषाण-खंडों पर भी अनेक खड़ी हुई मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गई हैं। नालंदा की मूर्तियों में पांचवीं शताब्दी की प्रतिमाओं जैसी भावमयता नहीं दिखाई देती। उनके शरीर पर वह सुकुमार्य और लावण्य नहीं दिखाई देता। यही बात मनियार मठ की प्रतिमाओं के लिए भी कही जा सकती है। शरीर कुछ भारीपन लिए हुए प्रतीत होता है। नालंदा की पाषाण-मूर्तियों में एक-रसता व्याप्त है। मनुष्य की भांति मूर्ति का भी अपना विशिष्ठ व्यक्तित्व रहता है। उसमें भाव, आकार और लावण्य सभी का समान रूप से समावेश रहता है।

सारनाथ की गुप्त-कालीन प्रतिमाओं की चर्चा की जा चुकी है। यह परम्परा आगे बढ़ती गई, यद्यपि यह अपने पुराने स्तर को न निभा सकी। केवल सारनाथ ही नहीं, गुप्त काल के बाद की बनी हुई किसी भी स्थान की कृति, फिर उस ऊंचाई को छू ही न सकी।

सारनाथ में सातवीं शताब्दी की प्रतिमायें भी मिली हैं। इनसे दोनों के बीच का अन्तर स्पष्ट हो जाता हैं। बोधिसत्व मंजुश्री एक पद्म पर खड़े हैं। उनके मुख का भाग भी तनिक टूट गया है और दाहिना हाथ भी कोहनी के पास

भग्न हो गया है। वे बायें हाथ में एक कमल लिए हैं जिसका नाल उनके नीचे के पद्म से ही निकला है। उनके मस्तक पर मुकुट है जिसमें उनके ध्यानी बुद्ध अक्षोभ्य की छोटी सी प्रतिमा दिखाई दे रही है। गले में हार है। शरीर का ऊपर का भाग अनावृत है। उनके हाथों में कंकण, भुजाओं में केयूर तथा कटि में रत्न-जड़ित मेखला है, जिसकी लड़ियाँ लटक रही हैं। जिस कमल-दल पर वे खड़े हुए हैं उसी में से दो अन्य छोटे-छोटे कमल निकले हैं उन पर दो देवियाँ खड़ी हैं। यह मूर्ति चुनार के भुरभुरे पत्थर की ही बनी है, जो कुछ हलका सा पीलापन लिए है। यह सातवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों की जान पड़ती है। अवलोकितेश्वर की गुप्तकालीन प्रतिमा से तुलना करने पर दोनों का अन्तर समझ में आ जाता है। इस प्रतिमा में वे जिस कमल पर खड़े हैं, वह दुहरा है। एक कमल उल्टा करके दूसरे को उसके ऊपर रख दिया गया है। गुप्त शैली में इस प्रकार का दुहरे कमल का आसन नहीं दिखाई देता। इससे पहले जहां किसी देवता को पद्म पर खड़ा हुआ दिखाया जाता था, वहाँ वह इकहरा ही रहता था। भारहुत, सांची तथा मथुरा के शिल्प में श्री देवी कमल के पुष्प पर खड़ी हैं पर वह इकहरा ही है। गुप्त काल की अवलोकितेश्वर प्रतिमा भी इकहरे कमल-दल पर ही खड़ी है। इस शैली से पूर्व देवता के हाथ में कमल अवश्य दिखाई देता है किन्तु पीठीका में से निकलता हुआ नहीं। यह शैली, नैपाल और तिब्बत की मूर्तियों में दिखाई देती है। पाल-शैली की मूर्तियों में भी यह मिलती है। सारनाथ की गुप्त-काल की प्रतिमाओं में भगवान बुद्ध अथवा बोधिसत्व संघाटी डाले हुये दिखाई देते हैं, जिसमें दोनों अथवा एक कंधा ढका हुआ रहता है। इस मूर्ति का ऊपरी भाग अनावृत है। बाद की शिल्प-शैलियों में संघाटी नहीं दिखाई देती। अवलोकितेश्वर गले में मोतियों की पतली सी माला डाले हैं और नीचे एक लड़ लटकती है। मंजुश्री की प्रतिमा में गले में एकावली नहीं वरन् जड़ाऊ हार है। कटि-मेखला भी जड़ाऊ है। इस प्रकार पहले की अपेक्षा आभूषण बढ़ते हुए दिखाई देते हैं। बाद की शिल्प-शैलियों में यह आभूषण ही प्रधानता ले लेते हैं और प्रतिमा भाव-हीन रह जाती है। जब कलाकार कारीगर बन जाता है, तब इस प्रकार का फल स्वाभाविक है। मूर्ति के दोनों ओर दो शक्तियों को आंकने की शैली भी यहीं से आगे बढ़ती हुई दिखाई देती है।

नालंदा में इससे कुछ पहले की बुद्ध और बोधिसत्व की प्रतिमायें भी प्राप्त हुई हैं। इनमें वे दुहरे कमल-दल पर आसीन हैं। बोधिसत्व की प्रतिमा में पद्म-पीठिका में से नालयुक्त पुष्प निकल रहा है। उसमें पहले की अपेक्षा आभूषण

अधिक हैं। रत्नों के जड़ाऊ मुकुट में ध्यानी बुद्ध की प्रतिमा है। गुप्त-शैली में प्रभा-मंडल गोलाकार रहता है, इसमें वह लम्बोतर है जिसके नीचे का भाग कम चौड़ा है। प्रतिमायें फीकी और भाव-हीन लगती हैं। पता नहीं कुछ ही वर्षों में कलाकार की कला को कौन सा श्राप लग गया कि उसकी शिल्प-श्री ही विदा ले गई ?

कहते हैं कि भारत में बारह सौ के लगभग गुहा-मंदिर हैं। इनमें से कुछ मूर्ति-शिल्प से भी सजाये गये हैं। दक्षिणापत्य में, विशेष रूप से बम्बई व हैदराबाद के प्रान्तों में तो इन गुफाओं का एक जाल सा बिछा हुआ है। अजंता, एलोरा, एलीफैन्टा, कार्ले, कन्हैरी, कहाँ तक गिनाया जाय, समस्त कला-मंडप इस भू-भाग में ही हैं। औरंगाबाद की गुफायें भी उन्हीं में से हैं। यहाँ की पहिली, दूसरी और छठी गुफाओं का समय डा. कुमारस्वामी छठी शताब्दी का उत्तरार्ध अथवा सातवीं का पूर्वार्ध मानते हैं। फर्गुसन साहब ने औरंगाबाद की गुफाओं का समय सातवीं शताब्दी का मध्य-काल माना है। वस्तुतः यह इसी समय अथवा इसके बाद में बनी होंगीं क्योंकि इनमें महायान की वे तारा-मूर्तियाँ भी मिलती हैं, जिनका प्रवेश, शिल्प में सातवीं शताब्दी से पूर्व नहीं हुआ था।

औरंगाबाद के इन मन्डपों का महत्व अपनी प्रतिमाओं के कारण है। तीसरी और छठी गुफा अनेक बुद्ध प्रतिमाओं से शोभित हैं। इनमें भगवान बुद्ध दोनों पैर आसन से नीचे रक्खे हुये 'प्रलम्बपाद' बैठे हुये दिखाई देते हैं। सारनाथ में भी उनकी एक ऐसी ही प्रतिमा प्राप्त हुई है जो सातवीं शताब्दी से पहले की ही जान पड़ती है। इसमें उनके दोनों कंधों पर संघाटी है और पीछे गोलाकार प्रभा-मंडल भी है। इससे पहले की प्रतिमाओं में वे पद्मासन पर बैठे हुए उत्कीर्ण किये जाते हैं। औरंगाबाद की गुफाओं में भगवान बुद्ध की पूजा करते उपासकों के कई पाषाण-चित्र हैं। इनमें स्त्री और पुरुष दोनों दिखाई देते हैं। भीतर के चैत्य-गृहों में भगवान बुद्ध भी कई विशाल प्रतिमायें हैं जिनके दोनों ओर उनकी शक्तियाँ, भृकुटि-तारा, उग्र तारा, मामकी अथवा लोचना आंकी गई हैं। ऊपर आकाश में विद्याधर और अप्सराओं की मूर्तियाँ दिखाई देती हैं। एक दृश्य में भगवान को संकट-ग्रस्त लोग घेरे हुए हैं। वे सब विपत्तियाँ से घबराकर अवलोकितेश्वर की शरण में आये हैं। किसी को अग्नि की ज्वालायें घेरे हैं, किसी पर शत्रु की तलवार तनी है, किसी पर सिंह दौड़ रहा है तो किसी पर पागल हाथी या सर्प। एक ओर मृत्यु की प्रतीक रूप काली एक माता की गोद से उसका प्राणों से प्रिय शिशु ही छीने लिए जा रही है। इस प्रकार का दृश्य अजंता, एलोरा व कन्हैरी में भी दिखाई देता है।

छठी गुहा में नृत्य का एक अत्यंत मनोहारी दृश्य दिखाई देता है। सात स्त्रियों में से छः मंजीर, बंशी व मृंदग बजा रही हैं और सातवीं भाव-विभोर होकर नृत्य कर रही है। उसकी सुकुमार देह-लता भंगिमा के कारण और भी मनोहारिणी जान पड़ती है। हाथों की मुद्रायें भी बड़ी भाव-पूर्ण हैं। भारतीय कला में नृत्य का एक विशिष्ठ स्थान है। प्राचीन आचार्यों का मत है कि शिल्पी को नृत्य की समस्त मुद्राओं और अंगहारों से पूर्ण-रूप से परिचित होना आवश्यक है। नर्तकी तथा अन्य स्त्रियों के सिर पर भारी मुकुट हैं जोकि अत्यंत कला-पूर्ण जान पड़ते हैं। इस दृश्य के ठीक सामने तप में लीन बुद्ध की विशाल मूर्ति दीवाल में उत्कीर्ण की गई है मानो सुन्दर और शिव को एक साथ ही जान-बूझकर सामने ले आया गया हो।

औरंगाबाद के अतिरिक्त एलोरा में भी इसी युग का मूर्ति-शिल्प है। भारतीय चित्रकला में जो स्थान अजंता को प्राप्त है वही मूर्ति-कला के क्षेत्र में एलोरा को। एलोरा की गुफाओं की शृंखला उत्तर से दक्षिण तक सवा मील से भी अधिक दूरी तक चलती गई है। यहाँ की तेंतीस गुफाओं में से कुछ का शिल्प बौद्ध-धर्म से अनुप्राणित है, कुछ का जैन से तथा कुछ हिन्दू देवी-देवताओं पुराण-कथाओं के आधार पर है। ऐसा लगता है कि एक विशाल वट-वृक्ष अपनी शाखायें फैलाये खड़ा है। समस्त पहाड़ी को काटकर तेंतीस गुहा-मन्दिरों की रचना की गई है। पर्वत को काट-काटकर कैलाश का विशाल मंदिर बना देना, उन कला-योगियों का ही काम है। दर्शक उसे देखकर आश्चर्य से दंग रह जाता है। ब्राह्मण गुफाओं में बड़ी-बड़ी प्रतिमायें हैं। इनमें कहीं भगवान शिव भुवन-मोहन ललित और कटिसम नृत्य करते दिखाई देते हैं, कहीं भैरव का उग्र-रूप प्राणि-मात्र के हृदय को प्रकम्पित सा कर रहा है। एलोरा के अनेक पौराणिक दृश्य उकेरे गये हैं। सीता की नहानी, रामेश्वर गुफा व रंग महल आदि इन अत्यंत प्राणवान प्रतिमाओं से पूर्ण हैं। जैन गुफाओं में इन्द्र-सभा और जगन्नाथ-सभा नामक गुहायें हैं। इन्द्र सभा में ऐरावत पर बैठे हुए देवराज इन्द्र की प्रतिमा अत्यंत सजीव है। एक मंडप में इन्द्राणी भी अपने वाहन सिंह पर आसीन हैं। दक्षिण ओर की गुफायें बौद्ध मत से अनुप्राणित हैं। इनके मूर्ति-शिल्प में भगवान बुद्ध और बोधिसत्वों के दर्शन होते हैं। यह संख्या में बारह हैं। इनके निर्माण का समय भी अलग-अलग है किन्तु यह समस्त कला-मंडप छठी और आठवीं शताब्दी के बीच के ही बने हुए हैं।

मेहर वाड़ा, दो थल, तीन थल व विश्वकर्मा आदि गुफाओं में भगवान बुद्ध आसन पर बैठे हुए दिखाई देते हैं तथा पद्मपाणि या अवलोकितेश्वर व बोधिसत्व

वज्रपाणि उनके दोनों ओर खड़े दिखाई देते हैं, कहीं बोधिसत्व ही बैठे हुए दिखाई देते हैं। चौथी गुफा में उत्तर की ओर के भाग में पद्मपाणि की एक विशाल प्रतिमा है। वे भगवान बुद्ध की भांति ही आसन पर बैठे हैं। उनके मस्तक पर जटा-मुकुट है। उसमें भगवान बुद्ध की एक छोटी सी प्रतिमा है। उनके एक हाथ में अक्षमाला तथा दूसरे में कमल है। उनके दोनों ओर उनकी शक्तियों की नारी-मूर्तियाँ हैं। छठी गुफा की एक प्रतिमा तो अनूठी ही है। एक नारी आभूषणों से अलंकृत खड़ी है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह किसी देवी की प्रतिमा है। उसके बायें हाथ पर मयूर है। नीचे एक उपासक कोई ग्रंथ पढ़ने में तल्लीन हैं। इन गुहा-मन्दिरों की प्रतिमाओं पर तंत्र का प्रभाव स्पष्ट-रूप से दिखाई देता है। यह प्रभाव सातवीं, आठवीं शताब्दी से ही प्रारम्भ होता है और फिर बढ़ता चला जाता है। देवता के साथ उसकी शक्तियों को भी उत्कीर्ण करना, प्रतिमा में अनेक भुजायें बनाना, प्राचीन कला में नहीं दिखाई देता। आठवीं गुफा में बोधिसत्व पद्मपाणि के चार भुजायें हैं। दो थल और तीन थल गुफाओं में से प्रत्येक तीन-तीन खंड की हैं। दो थल का निचला खंड दबा हुआ था, इसी से वह इस नाम से प्रसिद्ध हो गई। दो थल में भगवान बुद्ध की प्रतिमा के दोनों ओर वज्रपाणि और पद्मपाणि की मूर्तियाँ हैं। वज्रपाणि के हाथ में उनका प्रतीक वज्र रहता है। इसमें सात बुद्धों की प्रतिमायें भी हैं जिनके पीछे उनके बोधिवृक्ष उत्कीर्ण किये गए हैं। तीन थल में भी भगवान बुद्ध, ध्यानी बुद्धों व बोधिसत्वों की अनेक मूर्तियाँ हैं। एक ओर तीन देवियाँ बैठी हुई दिखाई देती हैं। वे एक पैर नीचे लटकाये हुए हैं जो पद्म पर रक्खा हुआ है। मध्यकालीन शिल्प में बहुधा देवता अपना एक चरण आसन पर रखता है और दूसरा नीचे के पद्म पर टिका रहता है। इन देवियों के चार-चार भुजायें हैं जिनमें वे अक्षमाला और पद्म लिए हुए हैं। इसके पीछे की दीवाल पर भी शक्तियों की कुछ मूर्तियाँ हैं। वे पद्मासन पर बैठी हैं। कमलों से पूरित सरोवर में नागगण खड़े दिखाई देते हैं। वे उनके आसनों को उठाए हुए से जान पड़ते हैं।

एलोरा के इस शिल्प में एक प्रकार की एकरसता सी है जो यहाँ की ब्राह्मण गुफाओं के पाषाण-चित्रों में विषयों की विविधता के कारण दिखाई नहीं देती। ब्राह्मण गुफाओं की विशाल मूर्तियों का ओज उनकी कथावस्तु के उपयुक्त है जबकि इन गुफाओं की प्रतिमाओं में विशालता तो है किन्तु वह सजीवता नहीं है, जो गुप्तकालीन प्रतिमाओं में दिखाई देती है। लावण्य और भाव-व्यंजना की दृष्टि से भी यह उत्कृष्ट नहीं कही जा सकतीं। नासिक के समकालीन मूर्ति-शिल्प के लिए भी यही बात कही जा सकती है।

उत्तर-मध्यकालीन प्रतिमायें

दक्षिणापत्य के चालुक्य राजाओं के पश्चात् आठवीं शताब्दी के मध्यकाल में राष्ट्रकूट राजाओं ने शासन करना प्रारम्भ किया। इस वंश के कृष्ण द्वितीय (स. ७५७ ई०) ने एलोरा के कैलाशनाथ मन्दिर का निर्माण कराया और पुराण-कथाओं के आधार पर उसकी दीवारों पर अनेक भित्ति-चित्र अंकित कराये। यद्यपि यह चित्र अजंता या बाग की कला का स्तर नहीं छू पाये किन्तु फिर भी उत्कृष्ट कोटि के माने जाते हैं।

पल्लव वंश दक्षिणापत्य में चौथी शताब्दी में एक प्रबल राज्य-शक्ति था। कहते हैं कि पल्लव पहले बौद्ध थे और उनके किसी पूर्वज ने नाग जाति की राजकुमारी के साथ परिणय भी कर लिया था। वास्तव में उनकी शैवमत पर श्रद्धा थी। पल्लव ललित-कथाओं के बड़े प्रेमी थे और उसकी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देना भी जानते थे। उनके युग के सित्तन्नवासल के भित्ति-चित्रों की चर्चा अजंता के प्रकरण में की जा चुकी है। वह महेन्द्रवर्मन की कीर्ति के साक्षी हैं। भित्ति-चित्रों के अतिरिक्त उन्होंने इस कला-मंडप में जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ और चन्द्रप्रभ की पाँच विशालकाय प्रतिमायें प्रतिष्ठित कराईं। महाबलीपुरम के मूर्ति-शिल्प का श्रेय भी उन्हीं को प्राप्त है। वे सभी धर्मों को सम्मान की दृष्टि से देखते थे। चीनी विद्वान ह्युयेनसांग ने लिखा है कि उनके समय में कांची में महायान के अनेक विहार थे। आठवीं शताब्दी के बाद से ही धीरे-धीरे दक्षिणापत्य में बौद्ध-धर्म की आभा धूमिल होती गई और फिर वह तिरोहित भी हो गया। दक्षिण में जिन ओजवान विशाल, प्रतिमाओं की रचना हो रही थी वह उस धारा से कुछ अलग सी पड़ जाती हैं, जिसमें भगवान बुद्ध की शांति, सौम्यता और तप ने प्रतिमा का स्वरूप लिया था।

उत्तरापथ में जो शिल्प-शैलियाँ पनप रही थीं, उनका उल्लेख हम पिछले अध्यायों में कर ही चुके हैं। उत्तर-मध्य-काल (सन् ९०० से १३०० ई० तक)

में कला के लोक में से मानो स्वतंत्र प्रतिभा और मौलिक सृजन-शक्ति, विदा ले गई। मूर्तिकार एक कारीगर मात्र रह गया। जिस प्रकार गान्धार शैली में प्रतिमाओं की बाढ़ आ गई थी, वैसे ही संख्या में तो बहुत मूर्तियाँ बनीं किन्तु उनमें वह सौष्ठव, लावण्य तथा जीवन नहीं है जो गुप्त-काल की मथुरा या सारनाथ की कृतियों में दिखाई देता है। उसकी कल्पना का डोरा धर्माचार्यों के हाथों में था। वे जैसा चाहते उसे वैसा ही नचाते थे। शिल्प-शास्त्र के ग्रंथ उसे सहारा देने के लिए थे ताकि अपनी कुछ विशिष्ठताओं से प्रतिमा किस देवता की है, यह पहचाना जा सके। किन्तु अब वे ही ग्रंथ शिल्पी पर शासन कर रहे थे। महायान में अनेक देवी-देवताओं की कल्पना की जा चुकी थी और शिल्पी का ध्यान उस ओर चला गया था। किस प्रतिमा के कितने हाथ हों, कितने सिर हों, उसके लक्षण क्या हों, वह यही सब सोचने लगा था। आराध्य के मुख-मंडल पर झलकती चिंतन व तप की दीप्ति फीकी पड़ चुकी थी। हमारे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि उन मस्तकों या भुजाओं के पीछे अपनी कोई प्रतीक-भावना न थी किन्तु जब वही वस्तु प्रधान बन गई और भाव-व्यंजना की उपेक्षा की गई तो कला रूढ़ियों के उस पथ पर बढ़ने लगी, जो किसी प्रकार भी श्रेयस्कर नहीं कहा जा सकता था।

उत्तर-मध्यकाल में उत्कल प्रांत में कोणार्क, भुवनेश्वर और पुरी आदि के विशाल मंदिरों की रचना हुई। इनकी वास्तुकला अत्यंत उत्कृष्ट कोटि की है। उस पर हमें गर्व है किन्तु इसकी प्रतिमायें उतनी सफल नहीं हैं। पुरी आदि की तो इतनी अश्लील हैं कि लज्जा से मस्तक झुक जाता है। यह तंत्र की कृपा है। खजुराहो की कीर्ति भी उसके मंदिरों के स्थापत्य की उत्कृष्टता के कारण है।

इसी काल में बिहार व बंगाल में पाल राजाओं के समय में एक नई शिल्प-शैली पनपी। इसे कला-समीक्षकों ने मूर्ति-शिल्प की पूर्वीय शैली का नाम दिया है। सारनाथ की मूर्ति-कला की परम्परा अत्यंत प्राचीन है, यह देख ही चुके हैं। वहाँ भी इस युग में महायान के देवी-देवताओं की मूर्तियाँ बनीं। दोनों शैलियाँ अलग-अलग हैं और अपनी विशेषताओं से दोनों की प्रतिमाओं को पहचाना जा सकता है। इनके पत्थर में भी अन्तर है। सारनाथ की मूर्तियाँ चुनार के भुरभुरे, रवादार पत्थर की बनी है, बिहार तथा बंगाल की काले पत्थर की। इनके अलावा ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की कुछ प्रतिमायें महोबा में भी प्राप्त हुई हैं। यह चन्देल राजा कीर्तिवर्मन के समय की हैं। लखनऊ के संग्रहालय में महोबा से उपलब्ध चार प्रतिमायें हैं जिनमें बुद्ध, तारा, पद्मपाणि अवलोकितेश्वर और सिंहनाद अवलोकितेश्वर हैं। इनमें अवलोकितेश्वर

की दोनों प्रतिमायें अत्यंत भावमयी और सुन्दर हैं। इन्हें किसी शिल्पकार सातन ने कोरा था, यह इन पर अंकित लेख से ही मालूम हुआ है। इन प्रतिमाओं से पता चलता है कि उन दिनों भी मध्य-भारत में बौद्ध-मत का प्रभाव शेष था। बुद्ध और बोधिसत्वों की प्रतिमाओं का सृजन भी हो रहा था। बोधिसत्वों की इन प्रतिमाओं के सम्बन्ध में राय कृष्णदास जी ने लिखा है—

"मूर्तियाँ दर्शनीय हैं। इनमें रूढ़ि की कमी है और इनके अंग-प्रत्यंग खुले से हैं, जिनके कारण इनकी कल्पना मौलिक जान पड़ती है किन्तु इन दोनों में इतना सादृश्य है कि इन्हें किसी एक पुराने नमूने पर अवलंबित होना चाहिए, जिसमें थोड़ा-थोड़ा अंतर करके यह दो मूर्तियाँ कल्पित कर ली गई हैं। फिर भी इनकी तुलना पूर्व-मध्य-कालीन मूर्तियों के साथ की जा सकती है।"

सिंहनाद लोकेश्वर की प्रतिमा में शिव और बुद्ध, तप के दो महान प्रतीकों का समन्वित स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। ब्राह्मण-शिल्प में सम्मिलित प्रतिमाओं की यह शैली अत्यंत प्राचीन है। अर्ध-नारीश्वर में एक ही मूर्ति के दो भाग रहते हैं, जिनमें एक शिव का और दूसरा पार्वती का रहता है। उनके अंग, अलंकार और केश-विन्यास भी उनके अनुरूप ही रहते हैं। ग्रीक-लेखक वरदासेनस ने पेशावर के निकट तीसरी शताब्दी में, एक अर्ध-नारीश्वर प्रतिमा देखी थी। उसकी उन दिनों पूजा की जाती थी। मूलत: यह कुषाण-सातवाहन युग के मूर्तिकारों की कल्पना थी। सम्मिलित मूर्तियों की यह परम्परा आगे बढ़ती गई। हरिहर या हरिर्ध मूर्ति में विष्णु और शिव के रूपों में समन्वय किया गया। नाथ सम्प्रदाय में इस स्वरूप को प्रतिष्ठा दी गई। उसी का प्रभाव इस प्रतिमा पर भी दिखाई देता है। भगवान बुद्ध की वाणी सिंह के सदृश्य थी जिससे सोयी हुई आत्मायें भी जागृत हो उठती थीं। उन्हें शाक्य-सिंह कहा गया है।

सिंहनाद अवलोकितेश्वर, जिस सिंह पर आसीन रहते हैं, उसका मुख उनकी ओर ही, कुछ उठा हुआ सा रहता है। वह मुँह फाड़े हुए गर्जन करता दिखाया जाता है। लोकेश्वर राजसी परिधान और आभूषण पहने रहते हैं। उनके मस्तक पर रत्न-जड़ित लम्बा सा मुकुट रहता है। कभी-कभी इस मुकुट में ध्यानी बुद्ध अमिताभ की प्रतिमा भी रहती है। सिंहनाद लोकेश्वर के केवल दो हाथ ही रहते हैं जिनमें से एक हाथ में अक्षमाला तथा दूसरे में कमल रहता है। इस स्वरूप पर तांत्रिक प्रभाव नहीं रहता। तिब्बत तथा नैपाल में उनके इस स्वरूप की भी उपासना होती है। वहाँ के निवासियों की यह मान्यता है कि इस देवता की आराधना से कुष्ठ रोग दूर हो जाता है।



बोधिसत्व–सिरपुर

महोबा की इस प्रतिमा में वे एक सिंह पर बैठे हैं। उनका शरीर एक हाथ के सहारे टिका है। दूसरे हाथ में अक्षमाला है। मुख पर शांति व सौम्यता है। सिर झुकाये हुए वे कुछ सोचते से जान पड़ते हैं। मस्तक पर लम्बा मुकुट है, जिसमें से लटें छूटकर कंधों पर बिखर गई हैं। मुख के पीछे गोलाकार प्रभा-मंडल है जिसमें एक खिला हुआ कमल है। उनके एक ओर नालयुक्त कमल है। वह उस दुहरे पद्मासन में से निकलता जान पड़ता है जिसपर सिंह बैठा है। दूसरी ओर एक त्रिशूल है उसमें सर्प लिपटा है। अवलोकितेश्वर के भाल पर शिव जैसा ही तीसरा नेत्र है। सारनाथ में गुप्त-युग की एक प्रतिमा का एक अतीव कला-पूर्ण मस्तक है। उस पर भी यह नेत्र दिखाई देता है।

दूसरी प्रतिमा पद्मपाणि अवलोकितेश्वर की है। दोनों मूर्तियों के शरीर के अवयव और मुखाकृति आदि में साम्य है। यह दोनों सुन्दर और भावमयी हैं। सिंहनाद अवलोकितेश्वर की यह प्रतिमा हमारे देश के डाक के एक टिकट पर भी छपती है। लोग इन टिकटों को देखते तो हैं, किन्तु अनेक वर्षों की घोर-उपेक्षा के कारण उनका ध्यान इस ओर नहीं जाता। यदि इनका सरल, संक्षिप्त और मनोरंजक ढंग से लिखा हुआ परिचय भी निकलता तो कुछ उपयोगिता हो सकती थी। अभी सामान्य जनता इन्हें देखती तो है पर समझती नहीं है।

उत्तर मध्यकाल की अनेक प्रतिमायें राजगृह, बोध-गया, दीनाजपुर राजशाही और भागलपुर आदि में प्राप्त हुई हैं। यह समस्त नालंदा के चिकने स्लेटी रंग के पत्थर की हैं। इनमें से कुछ प्रतिमायें बुद्ध तथा बोधिसत्वों की हैं और कुछ महायान के अन्य देवी-देवताओं की, जिनपर तंत्रयान का प्रभाव है। कुर्किहार अपनी कांस्य-प्रतिमाओं के लिए प्रसिद्ध रहा है किन्तु वहाँ से कुछ पाषाण-प्रतिमायें भी प्राप्त हुई हैं। नालंदा तो धातु-मूर्तियों का सबसे बड़ा केन्द्र था। नालंदा और कुर्किहार में सम्भवतः गुप्तकाल से ही धातु-प्रतिमाओं की परम्परा चल रही थी। नालंदा संग्रहालय की भगवान बुद्ध की उस प्रतिमा का उल्लेख किया जा चुका है जो गुप्त काल के अंतिम चरण की है। इसमें शांत, सौम्य बुद्ध कमल-दल पर खड़े हैं। मस्तक मुंडित है, भाल पर बिन्दी है और संघाटी इतनी झीनी है कि शरीर के अंग झलक उठे हैं। नालंदा और कुर्किहार की धातु-प्रतिमाओं में बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्तियाँ ही अधिक हैं। कुर्किहार से प्राप्त तारा की मूर्ति पाल-कला का एक उत्कृष्ट नमूना है। दो सिंहों पर एक विशाल कमल है जिसपर वे आसीन हैं। उनकी एक हाथ की मुद्रा अभय है। दूसरे हाथ में कमल-नाल है। बाईं भुजा के निकट अर्ध-स्फुटित नीलोत्पल है। गले में रत्न-हार और गले में नीचे के आसन को स्पर्श करती हुई मोतियों की

माला है। वे ललितासन से बैठी हैं। पटना संग्रहालय में कुर्किहार की बोधिसत्व की एक चतुर्भुजी कांस्य-प्रतिमा है। उसकी प्रसन्न मुद्रा और सहज भंग बहुत मनोमोहक है। यह मूर्ति, पाल-शैली की आभूषणों से दबी हुई सी, पाषाण प्रतिमाओं से कुछ अलग सी पड़ जाती है। सम्भवत: उन्ही शिल्पियों ने धातु और पाषाण दोनों पर प्रयोग किए हैं किन्तु इस युग की धातु-प्रतिमायें अपेक्षाकृत अधिक श्रेष्ठ प्रतीत होती हैं।

मध्य प्रदेश में रायपुर के निकट सिरपुर में खुदाई का काम चल रहा है। उसमें एक प्राचीन बौद्ध-विहार निकला है। यहाँ कुछ अत्यंत उत्कृष्ट प्रतिमायें मिली हैं। इनमें एक में भगवान बुद्ध बैठे हैं और बोधिसत्व उनके निकट खड़े हुए हैं। सिरपुर में कुछ कांस्य-प्रतिमायें भी प्राप्त हुई हैं। शैली से यह नालंदा की दसवीं शताब्दी की कांस्य प्रतिमाओं की समकालीन जान पड़ती हैं। इनमें बोधिसत्व की एक प्रतिमा अत्यंत भावमयी है। एक चौकी पर विशाल कमल है। यह दुहरा है, जैसा कि इस काल की पाषाण-प्रतिमाओं में भी दिखाई देता है। उस पर एक आसन है, जिसपर वे ललितासन से बैठे हैं। दूसरा चरण नीचे के पद्म पर रक्खा है। आसन के कमल के पीछे कलिकायें और अर्ध-स्फुटित नीलोत्पल है। उनकी देह पर यज्ञोपवीत जैसी लड़ बहुत फब रही है। गले में मोतियों की माला तथा कंठा है। सिर पर रत्न-जड़ित मुकुट है। अर्ध-मुकुलित कमल से नेत्रों से ऐसा लगता है कि वे किसी चिंतन में लीन हैं। सौष्ठव, लालित्य और भाव-व्यंजना सभी दृष्टियों से यह कांस्य-प्रतिमा उत्कृष्ट कोटि की है और पाल-युग की कांस्य-प्रतिमाओं के श्रेष्ठ नमूनों में निस्संकोच रूप से रक्खी जा सकती है। सिरपुर में मध्यप्रदेश शासन के तत्वावधान में कार्य चल रहा है इसलिए अभी उसके सम्बन्ध में विस्तृत रूप से कुछ नहीं लिखा जा सकता।

बिहार तथा बंगाल की मध्य-कालीन शिल्प-शैली का उदय पाल राजाओं के शासन-काल में हुआ। आठवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक इस पूर्वीय शैली के मूर्तिकारों ने अगणित प्रतिमाओं का सृजन किया, जिनमें से कुछ भारतीय कला की श्रेष्ठ-कृतियाँ मानी जाती हैं। ग्यारहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी ने बिहार-उड़ीसा पर हमला किया। पालवंशीय राजा गोविन्द पाल पराजित होकर वीर गति को प्राप्त हुए। आक्रमणकारियों ने उदंतपुरी और विक्रमशिला के साथ ही नालंदा का विश्व-विश्रुत विहार भी जला डाला। प्राचीनतम धर्म-ग्रंथों का भंडार, धर्मगंज पुस्तकालय अग्नि की लपटों में खो गया। उसके तीनों भवन, रत्न-सागर, रत्नोदधि और रत्न रंजक के ग्रंथ-रत्न बर्बरता की भेंट चढ़ गए। स्वर्ण-मूर्तियों

की गला डाला गया। शेष कृतियों को अंग-भंग कर दिया गया। नालंदा उस युग का सबसे बड़ा केन्द्र था। इस शिल्प-शैली में नालंदा की बनी हुई कांस्य या पाषाण-प्रतिमाओं के स्तर को दूसरी जगहों की बनी हुई मूर्तियाँ नहीं छू पातीं। कलकत्ता के भारतीय संग्रहालय में बोधिसत्व व बुद्धों की अनेक मूर्तियाँ नालंदा की हैं और वे अन्य कला-कृतियों में सहज ही पहचानी जा सकती हैं। नालंदा के पतन के साथ ही इस शिल्प-शैली का भी पराभव हो गया।

महायान के आराध्यों की इतने विविध प्रकार की मूर्तियाँ किसी अन्य शैली में नहीं मिलतीं। राजा देवपाल के समय की नालंदा की प्रतिमाओं पर तांत्रिक प्रभाव नहीं है किन्तु बाद में वह प्रारम्भ हो जाता है। बहुत सी प्रतिमाओं पर उनका निर्माण-काल अंकित है। जिनपर वह नहीं है उनपर संघ को मूर्ति दान देने वाले का नाम आदि लेख मिलते हैं। उनसे इनका काल-निर्णय हो जाता है। शैली के आधार पर दूसरी समकालीन प्रतिमाओं से अनुमान भी लग जाता है।

इस शैली की प्रतिमाओं में भगवान बुद्ध किसी मुद्रा-विशेष में ही उत्कीर्ण किए गए हैं। बहुधा वे आसन पर बैठे हुए दिखाई देते हैं, जिसके नीचे सिंहों की आकृतियाँ रहती हैं। इस आसन पर सिंहों के ऊपर कमल का दुहरा विशाल दल रहता है। कभी-कभी उनके माथे पर ऊर्ण भी रहता है। आठवीं शताब्दी की बुद्ध-प्रतिमाओं में उनके पीछे सादा या अलंकरण युक्त प्रभा-मंडल रहता है किन्तु ज्यों-ज्यों समय बढ़ता जाता है, इस शैली में भी परिवर्तन दिखाई देने लगता है। फिर उनके पीछे के पट्ट पर, विविध-मुद्राओं में बुद्ध-मूर्तियाँ दिखाई देने लगती हैं। कहीं-कहीं उनके जीवन के आठ प्रधान प्रसंग भी जिनकी चर्चा हम कर चुके हैं, आंके जाते हैं। यह मूर्तियाँ जो पीछे के पट्ट पर उत्कीर्ण की जाती हैं, प्रधान मूर्ति की अपेक्षा बहुत छोटी रहती हैं। कभी-कभी इस पर स्तूप की आकृति भी दिखाई देती है। किसी-किसी शिलापट्ट में बीच में भगवान भूमि-स्पर्श मुद्रा में बैठे दिखाई देते हैं और छोटी-छोटी अनेक दृश्यावलियाँ उत्कीर्ण कर दी जाती हैं। इस शैली की कुछ प्रतिमाओं में भगवान बुद्ध के मस्तक पर मुकुट दिखाई देता है तथा गले में माला व रत्न-हार। यह बात किसी अन्य शिल्प-शैली में नहीं दिखाई देती। बोधिसत्वों में अवलोकितेश्वर या लोकेश्वर के अतिरिक्त मैत्रेय तथा मंजुश्री की प्रतिमायें अधिक मिलती हैं। यह कटि-मेखला, मुकुट, रत्न-हार आदि से शोभित रहते हैं। इनके दोनों ओर इनकी शक्तियाँ दिखाई देती हैं। इनके बहुधा चार भुजायें रहती हैं। मुकुट में ध्यानी बुद्ध की प्रतिमा रहती है।

महायान में जब तंत्र की भावना ने प्रवेश किया तब प्रत्येक देवता के साथ उसकी शक्ति की कल्पना की गई। बुद्धों की शक्तियाँ वज्र घातेश्वरी, लोचना, मामकी व आर्य-तारा आदि मानी गईं। इसी प्रकार अमिताभ, अक्षोभ्य, वैरोचन आदि ध्यानी बुद्धों की भी कुरुकुल्ला, भृकुटितारा, पर्णेश्वरी, प्रज्ञा-पारिमिता, वज्र-चर्चिका और मारीचो आदि देवियाँ मानी गईं। इनमें मारीची की सबसे अधिक प्रतिमायें मिलती हैं। बोधिसत्व की भी अपनी शक्तियाँ हैं जो उनकी मूर्तियों में उनके साथ उत्कीर्ण की जाती हैं।

बुद्ध-गया में उत्तर मध्य-काल की अनेक प्रतिमायें हैं। इनमें से अधिकांश शाक्यमुनि तथा पद्मपाणि की हैं। एक प्रतिमा में भगवान के साथ धर्म और संघ मूर्तिमान हुए हैं। वे बोधिवृक्ष के नीचे बैठे हुए हैं। धर्म उनके दाहिनी ओर प्रतिष्ठित है और संघ बाईं ओर।[1] सारनाथ की तीन प्रतिमाओं के एक शिला-पट्ट को भी त्रिरत्न माना गया है। इसमें तीन मूर्तियाँ एक जलपूर्ण कुम्भ के निकले हुए कमलों के दलों पर आसीन हैं।[2] इनमें एक नारी-मूर्ति है। प्रत्येक के चार-चार भुजायें हैं, दो हाथ जुड़े हुए हैं तथा शेष दो में अक्षमाला तथा प्रफुल्लित पद्म हैं। यह दोनों प्रतीक पद्मपाणि अवलोकितेश्वर की मूर्तियों में भी दिखाई देते हैं। यह मूर्ति-समूह त्रिरत्न नहीं है क्योंकि त्रिरत्न में कोई नारी-मूर्ति नहीं दिखाई जाती।

बुद्ध-गया की इस युग की मूर्तियों पर तंत्र का अत्यधिक प्रभाव दिखाई देता है। एक मूर्ति में यमान्तक या महाकाल एक शव के ऊपर नृत्य कर रहे हैं। इनके बायें हाथ में खप्पर है और दाहिनें हाथ में उठी हुई तलवार। उनके कंठ में सर्प है। कुछ प्रतिमाओं में वे वस्त्र पहने हुए दिखाई देते हैं किन्तु इसमें बिलकुल नग्न हैं। सारनाथ की ग्यारहवीं शताब्दी की एक प्रतिमा में एक उग्र देवता एक पुरुष पर खड़ा दिखाई दे रहा है। उसके हाथ में खप्पर है, तथा दूसरा भग्न हो गया है। उसका शरीर स्थूल है और कुबेर और गणेश की भाँति ही उदर भी स्थूल है। मुख पर भयावहता है और दो नुकीले दांत कोनों की ओर निकले हुए हैं। एक सर्प यज्ञोपवीत की भाँति कंठ में लिपटा हुआ है किन्तु सिर के मुकुट में भगवान बुद्ध की प्रतिमा है। श्री दयाराम जी साहनी ने इसे कुबेर की मूर्ति कहा है किन्तु कुबेर की इस प्रकार की मूर्तियाँ पहले की किसी शैली में नहीं दिखाई देतीं। सम्भव है कि यह महाकाल का ही स्वरूप हो। ऐसी मूर्तियाँ तिब्बत, लद्दाख और नैपाल में बहुतायत से मिलती हैं। यह तो निश्चित है कि कुछ हिन्दू देवताओं ने इस शिल्प में प्रवेश किया जिनमें गणेश व सरस्वती आदि थे

---

1. Mahabodhi, Page 53
2. Catalogue of the Museum of Sarnath, Plate XIV.

किन्तु उनका स्वरूप कुछ परिवर्तित हो गया। उत्तर मध्य-कालीन शिल्प में कई उग्र देवता शव पर खड़े हुए दिखाई देते हैं। कलकत्ता के भारतीय संग्रहालय में त्रैलोक्य विजय की एक मूर्ति है। इसमें तीन मुख व सोलह भुजायें हैं। इनमें विभिन्न अस्त्र-शस्त्र है तथा एक हाथ में नर-मुंड है। वे नर-मुंडों की एक माला भी पहने हुए हैं।[1] इसी संग्रहालय की एक अन्य प्रतिमा में भी एक नारी-मूर्ति, पुरुष और नारी के शवों पर खड़ी दिखाई देती है। बुद्ध गया में वज्रवाराही की एक प्रतिमा है, जिसकी पाद-पीठिका पर सात शूकर दिखाई देते हैं।[2] देवी के हाथ में वज्र है। सारनाथ में भी एक देवी के नीचे की पीठिका पर वाराह दिखाई देते हैं। नीचे एक नारी उनके रथ को हांकती हुई दिखाई देती है। स्पष्ट है कि यह मूल कल्पना सूर्य और उनकी सप्त-रश्मियों के रथ से ली गई है और फिर इसे तांत्रिक स्वरूप दे दिया गया है।

सारनाथ में तारा देवी की अनेक प्रतिमायें हैं। इनमें भृकुटि तारा, वसुंधरा व, रक्त-तारा आदि हैं। यह शक्तियाँ अनेक आभूषणों से अलंकृत रहती हैं। इनके हाथ में बहुधा नीलोत्पल रहता है और एक हाथ वरद-मुद्रा में उठा रहता है। जिस लोकेश्वर की यह शक्तियाँ होती हैं, उसके ध्यानी बुद्ध की एक छोटी सी प्रतिमा भी इनके मुकुट में रहती है। उनके हाथों की मुद्रायें भी बहुधा उनके लोकेश्वरों की ही रहती हैं। उत्तर-मध्यकाल की शक्ति-प्रतिमायें हार, कुंडल, केयूर, कटिमेखला आदि से अलंकृत रहती हैं। इनके शरीर का ऊपरी भाग वस्त्र-हीन रहता है। उस पर केवल यह गहने ही रहते हैं। असामान्य रूप से पुष्ट पयोधर तथा आभूषणों का बाहुल्य उत्तर-मध्यकालीन शक्ति-प्रतिमाओं की विशिष्ठतायें हैं। ठोढी कुछ नुकीली सी और मुख पान के आकार का रहता है।

ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में मध्य कालीन कला की पूर्वीय शैली का पथ संकरा होता गया। शिल्पी की सौन्दर्य-दृष्टि धूमिल पड़ने लगी। उसमें भाव व लावण्य तो रहा ही नहीं, शरीर के अवयव तक अस्वाभाविक और कांतिहीन बनाहो गये। राजा रामपाल तथा लक्ष्मण सेन के समय की मूर्तियों में शरीर लम्बा, कटि अत्यंत क्षीण वक्षस्थल चौड़ा, और मुख नितान्त भावहीन दिखाई देता है। इस कला में रस-सृजन की सामर्थ्य नही है। बौद्ध-धर्म में तांत्रिक वाद के तत्वों का समावेश होने लगा था। उसका प्रभाव मूर्ति-कला पर भी पड़ा। बौद्धों के प्रधान केन्द्र मगध में बनी प्रतिमाओं तक पर यह प्रभाव परिलक्षित होता है। रामपाल के शासन-काल के द्वितीय वर्ष में बनी हुई तारा की प्रतिमा

---

1. Eastern Indian School of Mediaeval Sculpture, Plate XXXVII (c)
2. Mahabodhi, Plate XXX

ऐसी ही है। यह भारतीय संग्रहालय कलकत्ता में है। मारीची और उष्णीष-विजय की प्रतिमायें, जिनकी हम चर्चा कर चुके हैं, इसी काल की हैं। मारीची शूकरों के रथ पर हैं और उष्णीष-विजय शव पर खड़े हैं। उनके हाथों में विविध शस्त्र हैं। यों इस प्रकार की प्रतिमायें उस कला की परम्परा में विचित्र ही जान पड़ती हैं, जिसमें भगवान बुद्ध की तप-श्री को मूर्त-रूप दिया गया था किन्तु वे एक समन्वय-भावना का तो परिचय देती ही हैं। कुछ शैवों का प्रभाव भी है। तंत्र का गम्भीर दार्शनिक पक्ष अभी पूर्ण-रूप से हमारे सामने नहीं आ सका है। उसे जाननेवालों की संख्या उंगलियों पर गिनने योग्य है। जो जानते भी हैं वे ज्ञान-सागर में डूबे रहते हैं। ऐसी स्थिति में तंत्र से प्रभावित प्रतिमाओं पर कोई विचार प्रकट नहीं किये जा सकते। धीरे-धीरे बौद्ध-मत का प्रभाव कम होता गया और इस शैली में हिन्दू देवी-देवताओं की प्रतिमायें बनने लगीं। बौद्ध देवगण में तारा की प्रतिमायें सबसे अधिक बनीं इसका भी कारण था। तंत्र में शक्ति की उपासना सर्वोपरि रही इसीलिए उससे प्रभावित कला में वही विचार-धारा उतरी। इस युग के मंदिरों में तारा की प्रतिमायें ही प्रतिष्ठित दिखाई देती हैं। कांस्य-प्रतिमाओं का प्रचलन अधिक बढ़ चला था। शत्रुओं के आक्रमण की आशंका बनी हुई थी। भारी-भारी पाषाण-प्रतिमाओं को साथ लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान जाना कष्ट-साध्य था, कभी-कभी असम्भव भी। कांस्य-मूर्तियाँ अपेक्षाकृत हल्की और छोटी होती थीं। नैपाल आदि में जहाँ इस प्रकार का कोई भय न था बड़ी-बड़ी धातु-प्रतिमायें बनाई गईं। कालावधि में कांस्य-प्रतिमाओं का स्थान तांत्रिकों के चक्रों ने ले लिया। यह चक्र तांबे के पत्तरे पर रहते थे और पाषाण पर भी। दक्षिणापत्य में मूर्तिकला की शैलियाँ पनपती रहीं किन्तु उत्तर-भारत में वह समाप्त सी ही हो गई।

तप, भारतीय जीवन का प्राण-रूप है। उसकी अपनी एक गरिमा; एक श्री होती है। न उसे राजकीय परिधान की आवश्यकता है और न रत्न-जड़ित आभूषणों की। यों तो अनेक युगों की भिन्न-भिन्न शिल्प-शैलियों में भगवान बुद्ध की प्रतिमायें उत्कीर्ण की गई हैं किन्तु इस तप की जो आभा गुप्त-काल की सारनाथ अथवा मथुरा की मूर्तियों में दिखाई देती है, वह अन्य शिल्प-शैलियों में नहीं। यों तो उन सबको भगवान बुद्ध से प्रेरणा मिली ही है। बुद्ध कला के प्राण है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

ऋग्वेद संहिता (सायण भाष्य)
विष्णु धर्मोत्तरम्
महावस्तु
ललित विस्तर
दीघ-निकाय
मज्झिम-निकाय
विनय-पिटक
मिलिन्द पञ्हो
सुमंगल विलासिनी
जातक-भदंत आनन्द कौसल्यायन
राय कृष्णदास – भारतीय मूर्ति-कला
डा० मोतीचन्द – प्राचीन भारतीय वेष-भूषा
महापंडित राहुल सांकृत्यायन – बुद्धचर्या
डा० वासुदेवशरण अग्रवाल – कला और संस्कृति
माता भूमि
Gupta Art
श्री. रविशंकर रावल – अजंता के कला-मंडप

Shri Anrobindo – The Significance of Indian Art.
Banerji, R. D. – Eastern Indian School of Mediaeval Sculpture.
Bhattacharyya B. – The Indian Buddhist Iconography.
Brown, P. – Indian Painting.
Indian Architecture, Vol I.
Burgess, J. – Ancient Monuments, Temples and Sculptures of India.
Bauddha Rock-temples of Ajanta.
Coomarswamy, A. K. – History of Indian and Indonesian Art.
Elements of Buddhist Iconography.
Cunningham, A. – The Stupa of Bharhut.
Mahabodhi.
Dey, Mnkul – My Pilgrimage to Ajanta and Bagh.
Fergusson, J. – Tree and Serpent Worship.
A History of Indian and Eastern Architecture.

Fergusson and Burgess – Cave-temples of India.

Getty, A. – The Gods of Northern Buddhism.

Havell, E. B. – Indian Sculpture and Painting.
The Ideals of Indian Art.
The History of Aryan Rule in India.

India Society – The Bagh Caves.

Kramrisch, S. – Indian Sculpture.

Marshall, J. H. – The Monuments of Sanchi.
Guide to Sanchi.
Guide to Taxila.
The Monuments of Ancient India (Cambridge History of India, Vol I.)

Rao, T. A. G. – Elements of Hindu Iconography.

Sahni, D. R. – Catalogue of the Museum of Archaeology at Sarnath.

Saraswati S. A. – "Art" in The Imperial Unity and The Classical Age.

Spooner, D. B. – Hand book to the Sculptures in the Peshawar Museum.

Smith, V. A. – History of Fine Arts in India and Ceylon.

Van Lohuizen-de-Leeuw, J. E. – The Scythian Period.

Vogel J. Ph. – Catalogue of the Archaeological Museum at Mathura.
Catalogue of the Archaeological Museum at Sarnath.

Yazdani, G. – Ajanta, Texts and plates, 3 Parts.